हिन्दी उपन्यासों की शिल्प-विधि का विकास

(१८७७—१९५५ ई०)

प्रयाग-विश्वविद्यालय की डी० फिल्० की उपाधि के लिये प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

उषा सक्सेना

हिन्दी-विभाग
इलाहाबाद-विश्वविद्यालय
१९६४

भूमिका

१- सृष्टि के आदिकाल में जब उषा ने रंगीन रेशमी धागों से नील गगन में रंग भरा होगा, तब से मानव निरन्तर प्रयोग कर रहा है। इसी का परिणाम है सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का विकास। इसी प्रवृत्ति के कारण साहित्य के विविध रूपों में शिल्पगत प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। साहित्य के विविध रूपों में उपन्यास का स्थान महत्वपूर्ण है। आज वृहत् संख्या में उपन्यासों का प्रणयन हो रहा है। कुछ वर्षों पूर्व उपन्यास का पठन अकलात्मक तथा अशिष्ट रुचि का परिचायक था। लोग इसका अध्ययन एकांत में गुप्त रूप से करते थे। परन्तु आज इसकी स्थिति भिन्न हो गयी है। इसका कारण है- उपन्यासों का सम्यक् विकास। इसके अध्ययन से सस्ता मनोरंजन नहीं होता। जीवन और जगत् का सत्य नाना रूप धारण कर इसमें व्यक्त होता है। इस विधा की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें गंभीर सत्य भी रोचक और हृदयग्राही रूप में उपलब्ध होता है। राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक नीरस सिद्धान्त उपन्यास के कथानक, चरित्र आदि के अंग बन कर प्रस्तुत होते हैं। अतएव उनकी नीरसता का परिहार हो जाता है। यह ही एक ऐसा उपयुक्त माध्यम है जो वामन की भांति अपनी सीमित परिधि में विराट् सत्य को अन्तर्निहित कर लेता है। निस्सन्देह उपन्यास में पूर्ण जीवन की सरस अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। इसी कारण साहित्य की समस्त विधाओं में उपन्यास अत्यधिक लोकप्रिय है। किन्तु उपन्यासों का निष्पक्ष तथा सम्यक् मूल्यांकन अभी नहीं हुआ है। उपन्यासों में प्रस्तुत विचारों के आधार पर इनकी समीक्षा होती है। पूर्वाग्रह के कारण उपन्यासों की आलोचना न होकर उपन्यासकार के दृष्टिकोण तथा विचार की आलोचना होती है। यदि प्रेमचन्द अथवा यशपाल का श्रेष्ठत्व केवल इस आधार पर सिद्ध किया जाय कि उन्होंने सर्वहारा शक्ति का समर्थन किया, शोषक वर्ग के प्रति घृणा व्यक्त की तो कलाकार के प्रति अन्याय होगा। कुछ ऐसी पुस्तकें मिलती हैं जिनमें वृन्दावन लाल वर्मा की निन्दा की गई है क्योंकि उन्होंने जनशक्ति का समर्थन न कर प्रतिक्रियावादी विचारों का परिचय दिया। ऐसे आलोचक प्रवर यह भूल जाते हैं कि उन्होंने युग तथा पात्र विशेष का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। यदि वे प्रगतिशील विचारों का परिचय देते तो वे ऐतिहासिकता तथा पात्रों के

प्रति न्याय नहीं कर पाते । फलत: ऐसी समीक्षाओं का मूल्य नगण्य होता है।
कुछ वर्षों से विश्वविद्यालयों में उपन्यास - विषय में भी शोध-कार्य हुए हैं ।
किन्तु इनका सम्बन्ध मुख्यत: उपन्यास के विषयवस्तु अथवा किसी अंग विशेष से
है । प्रतापनारायण टंडन ने `हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास` तथा
रणवीर रांग्रा ने `हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण` शीर्षक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत
किए हैं । किन्तु इन दोनों ही शोध-प्रबन्धों में प्रसिद्ध उपन्यासकारों के आधार
पर क्रमश: कथा-शिल्प तथा चरित्र-चित्रण पर विचार हुआ है । फलत: समग्र
रूप से आदि से अन्त तक कथानक अथवा चरित्र-चित्रण का क्रमिक विकास इनमें
नहीं दृष्टिगत होता है । त्रिभुवन सिंह एम.ए. ने `हिन्दी उपन्यास में यथार्थवाद`
में वादों के अन्तर्गत उपन्यासों का सिंहावलोकन किया है । देवराज ने `आधुनिक
हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान` में कहानी और उपन्यासों में व्यक्त
होने वाले सरल तथा जटिल मनोविज्ञान पर प्रकाश डाला है । बिन्दु अग्रवाल ने
`आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में नारी-चित्रण`, कुसुम वार्ष्णेय ने `हिन्दी उपन्यासों
में नायक`, सुरेश सिन्हा ने `हिन्दी उपन्यासों में नायिका (की परिकल्पना)` पर विचार किया है ।
किन्तु नारी, नायक, नायिका उपन्यास-शिल्प की परिचायिका नहीं हैं । एस.एन.
गणेशन ने `हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन` में हिन्दी उपन्यासों और
पाश्चात्य उपन्यासों की तुलना की है तथा केशवचन्द्र सिन्हा ने `दि इन्फ्लुएंस
आफ बंगाली नॉवेल ऑन हिन्दी नॉवेल` में बंगाली उपन्यासों का हिन्दी उपन्यासों
पर प्रभाव प्रदर्शित किया है । इन शोध-प्रबन्धों में अपने-अपने विषय पर गंभीरता
से विचार हुआ है परन्तु शिल्प की दृष्टि से इनमें विचार नहीं हो सका है ।
श्रीनारायण अग्निहोत्री ने `उपन्यास तत्व एवं रूपविधान` में उपन्यास के तत्वों
तथा रूपविधान पर विशद रूप से प्रकाश डाला है किन्तु उपन्यास - शिल्प के आधार
पर उपन्यासों का विवेचन इसमें भी नहीं हुआ है । इसके अतिरिक्त, उपन्यासों से
सम्बद्ध कुछ अन्य आलोचनात्मक पुस्तकें मिलती हैं जिनमें शिवनारायण श्रीवास्तव
का `हिन्दी उपन्यास` उल्लेखनीय है । किन्तु इन समस्त पुस्तकों में उपन्यासों की
समीक्षा प्रसिद्ध उपन्यासकार के उपन्यासों के आधार पर हुई है तथा इनका सम्बन्ध
मुख्यत: उपन्यास की विषयवस्तु मात्र से है । शिल्पविधि की दृष्टि से उपन्यासों
का विवेचन अब तक नहीं हो सका है । अत: इसकी आवश्यकता प्रतीत होती है कि
शिल्पविधि की दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों का सम्यक् विवेचन हो ।

२- एक विषय पर भी लिखे गए उपन्यासों में शिल्पगत अन्तर दृष्टिगत होता है। कुपथगामी अथवा दिग्भ्रमित का सुधार प्राय: उपन्यासों का विषय है किन्तु आदर्शोन्मुख यथार्थवादी, प्रगतिवादी, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्र सुधार की प्रक्रिया में शिल्पगत अन्तर है। आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासों में महान् व्यक्तित्व के संसर्ग के कारण पात्र का रूपान्तर हो जाता है। प्रगतिवादी उपन्यासों में पात्र-परिवर्तन में असाधारण त्वरा दृष्टिगत होती है तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मानसिक चेतना पर प्रहार होता है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यह प्रयत्न किया गया है कि इसमें उपन्यासों की उन समस्त प्रक्रियाओं पर प्रकाश पड़े जो अभिव्यक्ति के मूल में गतिशील हैं। प्रत्येक उपन्यास का शिल्पविधान अन्य से भिन्न होता है किन्तु प्रत्येक उपन्यास के शिल्प की चर्चा करना संभव नहीं प्रतीत होता। इसमें आलोच्य काल(१८७७-१९५५) के प्रत्येक वर्ग तथा प्रकार के उपन्यासों की शिल्पविधि पर विचार किया गया है। उपन्यास बृहत् संख्या में लिखे जा रहे हैं। परन्तु इसमें उन्हीं उपन्यासों की च चर्चा हुई है जिनमें कुछ शिल्पगत विशेषता है। इसके अतिरिक्त इसमें उपन्यासकारों के आधार-पर उपन्यासों का विवेचन नहीं किया है। उपन्यास सरिता का उत्स, प्रवाह तथा वर्तमान रूप पर प्रकाश डाला गया है। फलत: उपन्यासों के अन्तर्गत उपन्यासकारों पर विचार किया गया है।

३- आलोच्यकाल (१८७७-१९५५) तक विविध प्रकार के उपन्यास लिखे गए। इन पर भारतेतर तथा अन्य प्रान्तीय उपन्यास-शिल्प का प्रभाव पड़ा अथवा नहीं, इस पर विस्तार से विचार करना विषयान्तर होगा क्योंकि यह कहना सहज नहीं है कि यह पाश्चात्य या प्रान्तीय प्रभाव है। जिस राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि में उपन्यास की रचना होती है उससे उपन्यास प्रभावित होते हैं। फलत: स्थिति-साम्य के कारण विभिन्न देशों के उपन्यासों में साम्य देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, इस विषय पर सम्यक् विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि किसी एक प्रान्त या देश के उपन्यास के साथ हिन्दी उपन्यासों की तुलना की जाए अतएव इस प्रबन्ध में सामान्य प्रभाव की चर्चा हुई है।

४- उपन्यास वस्तुत: क्या है ? अध्याय,१ में उपन्यास के रूप का विवेचन तथा उस स्थिति का अवलोकन हुआ, जिसमें उपन्यास का जन्म हुआ। हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास के अतिरिक्त, संक्षेप में उपन्यास साहित्य के इतिहास का उल्लेख किया गया है।

५- अध्याय,२ में विविध प्रकार से उपन्यासों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है जो मुख्यत: शिल्प पर आधारित है ।

६- अध्याय,३ में उपन्यास की शिल्पविधि पर विस्तारपूर्वक विचार हुआ है ।

७- अध्याय,४ में कथानक का विकास कैसे हुआ तथा इसकी शिल्पगत विशेषताओं एवं दुर्बलताओं पर विचार किया गया है ।

८- अध्याय,५ में चरित्र-शिल्प का विकास किन पद्धतियों के आश्रय से हुआ तथा इसकी शिल्पगत विशेषताओं एवं दुर्बलताओं पर प्रकाश पड़ा है ।

९- अध्याय,६ में शिल्प की दृष्टि से कथोपकथन का विकास ,विशेषताओं एवं दुर्बलताओं पर विचार प्रकट किया गया है ।

१०- अध्याय,७ में परिप्रेक्ष्य-चित्रण के अन्तर्गत देश-काल-वातावरण तथा आलोच्यकाल के उपन्यासों का तुलनात्मक विवेचन हुआ है ।

११- अध्याय,८ में प्रस्तुतीकरण -शिल्प की दृष्टि से उपन्यासों पर विचार हुआ है । इसके अन्तर्गत विविध शिल्पगत प्रयोगों की भी चर्चा हुई है ।

१२- अध्याय ९ में समस्त उपन्यासों के शिल्प का मूल्यांकन तथा भविष्य में शिल्प की दृष्टि से उपन्यासों के स्वरूप पर उपसंहार रूप में विचार हुआ है ।

१३. शोध की सामग्री प्रयाग विश्वविद्यालय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग तथा रांची वीमेंस कालेज के पुस्तकालय से मिली है । इसके अतिरिक्त, व्यक्तिगत रूप से मुझे जैनेन्द्रकुमार,वृन्दावनलाल वर्मा,अमृतलाल नागर प्रभृति उपन्यासकारों के दृष्टिकोण को समझने का अवसर प्राप्त हुआ है । मैंने उनके दृष्टिकोण एवं रचनाओं के आधार पर ही उपन्यासों की शिल्पगत विशेषताओं का आकलन करने का प्रयत्न किया है ।

१४. गुरुवर डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के सत्परामर्श,प्रोत्साहन तथा निर्देशन से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है,इसके लिए मैं हृदय से अनुगृहीत हूं ।

विषय-सूची

अध्याय ३ पृ० ९०-१११

उपन्यास-शिल्प

उपन्यास, शिल्प, प्रमुखता, दृष्टिकोण, कथानक - कथानक की परिभाषाएं, कहानी तथा कथानक, कथानक का विभाजन- आदि। मध्य। अन्त- चरमसीमा तथा उपसंहार, कथावस्तु की विशेषताएं - कुतूहल, स्वाभाविकता तथा मनोवैज्ञानिकता, सुगठन तथा सम्बद्धता, मौलिकता, कथानक के दोष, असम्बद्धता, अस्वाभाविकता, पुनरावृत्ति, चरित्र-चित्रण - चरित्रचित्रण के प्रकार- वर्गवादी तथा व्यक्तिवादी, स्थिर चरित्र तथा गतिशील चरित्र, प्रस्तुतीकरण - वर्णनात्मक प्रणाली, अभिनयात्मक प्रणाली, विशेषताएं- स्वाभाविकता तथा सजीवता, वैयक्तिकता, विभिन्नता तथा विषमता, दुर्बलताएं- अस्वाभाविकता, निर्जीवता, वैयक्तिकता विहीन एकरूपता, पात्रगत अन्याय, कथोपकथन- विशेषताएं, स्वाभाविकता तथा सजीवता, वैयक्तिकता, लघुता, नाटकीयता, प्रसंगानुकूलता: भावानुकूलता, दोष, लम्बे वार्तालाप, परिप्रेक्ष्य-देश-काल-चित्रण, वातावरण-प्रकृति-चित्रण पृष्ठभूमि के रूप में, संवेदनात्मक तथा वैषम्यपूर्ण, यथातथ्य तथा प्रतीकात्मक, शैली- जीवन-शैली, आत्मकथात्मक उपन्यास, पत्रात्मक उपन्यास, डायरी शैली के उपन्यास, पूर्वदीप्ति शैली के उपन्यास चेतना प्रवाह, समय विपर्यय - शैलियां -वर्णनात्मक, चित्रात्मक, व्यंग्यात्मक, भावात्मक शैली, विश्लेषणात्मक तथा मनोवैज्ञानिक शैली, सांकेतिक शैली, अभिनयात्मक शैली, भाषा शैली, निष्कर्ष।

अध्याय ४ पृ० ११२-१७८

कथानक-शिल्प

आदि, मध्य: कथानक -विकास-पद्धति, विशेषताएं- रोचकता, स्वाभाविकता, व मनोवैज्ञानिकता, गठन अथवा सम्बद्धता, मर्मस्पर्शी स्थल, प्रतीकात्मकस्थल, मौलिकता, कथानक-विकास-शिल्प, कथानक-शिल्प की दुर्बलता-अस्वाभाविकता तथा असंगति, असम्बद्धता तथा असन्तुलन, यांत्रिकता, अश्लीलचित्रण, अन्त, निष्कर्ष।

अध्याय - १

उपन्यास : परिभाषा तथा विकास

१- मानवीय राग, मनोभाव, विचार, अनुभूति, स्वप्न एवं कल्पना की कलात्मक अभिव्यक्ति ही साहित्य है। साहित्य की विविध विधाएं काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी आदि सभी अपने-अपने ढंग से जीवन की व्याख्या करते हैं। किन्तु महाकाव्य, नाटक तथा कहानी द्वारा प्रस्तुत जीवन-व्याख्या में यथार्थता की वह प्रतीति नहीं होती जो उपन्यास में होती है। इसका कारण यह है कि उपन्यास में जिस सहज, स्वाभाविक जीवन का चित्रण होता है, उसका अभाव साहित्य की अन्य विधाओं में होता है। काव्य में अलंकारों के माध्यम से तथा कवित्वपूर्ण शैली में प्रस्तुत चित्रण में स्वाभाविकता का अभाव होता है। नाटक में नाट्यकला की सीमाओं के कारण अन्तश्चेतन मस्तिष्क का सजीव विश्लेषण प्रस्तुत नहीं हो सकता कहानी जीवन की एकपक्षीय व्याख्या मात्र है। इसके विपरीत उपन्यासों में चिर-परिचित वातावरण की पृष्ठभूमि में नैसर्गिक जीवन अपने समग्र परिवेश के साथ उपस्थित होता है। इसके अतिरिक्त, यह साहित्य के विविध रूपों से उपकरण ग्रहण कर अपनी शक्ति की अभिवृद्धि करता है। इसमें गीति-काव्य अथवा लोककथाओं जैसी तीव्र भावात्मकता, आत्मीयता तथा अनुभूति प्राप्त होती है और स्केच जैसा व्यक्तित्व का प्रस्फुटन भी। इसमें मुक्तकों के उक्तिवैचित्र्य के साथ-साथ सूत्रात्मकता तथा रसात्मकता भी वर्तमान रहती है। इसमें निबन्ध जैसी वर्णनात्मकता के साथ-साथ गद्य काव्य जैसी भावुकता भी दृष्टिगत होती है। यही कारण है कि साहित्य की विविध विधाओं में उपन्यास का विशिष्ट स्थान है। अतएव इसके पठन से जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह साहित्य की अन्य विधाओं में संभव नहीं है।

उपन्यास शब्द की उत्पत्ति

२- 'उपन्यास' शब्द अपने मूलरूप में प्राचीन है। मनु ने उपन्यास शब्द का प्रयोग जिस विशिष्ट अर्थ में किया है वह निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट हो जाता है—

पुत्रप्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥८।३१॥

यहां मनु ने पवित्र विचार के रूप में उपन्यास शब्द का प्रयोग किया है। शारीरिक-भाष्य में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

तस्मात् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन :१।१।७:

शारीरिक भाष्य' में वाक्यों के उपक्रम के अर्थ में उपन्यास का प्रयोग हुआ है। महाभाष्यकार ने 'उपन्यास' के विषय में कहा है 'पावक: खलु एष वचनोपन्यास:।' अमरकोष के अनुसार,' चतुरो मधुरश्चायमुपन्यास:' तथा हितोपदेश में इसके विषय में लिखा है,' आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत य: । स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृत:।[1]' महाभाष्यकार ने वचन को उपस्थित करने के अर्थ में उपन्यास शब्द प्रयुक्त किया है। इसी अर्थ में 'अमरकोष' में उपन्यास शब्द आया है। 'हितोपदेश' में अपने कार्य की सिद्धि के लिए जो उपाय : साम, दाम, दण्ड और भेद: प्रयोग में लाया जाता है उसे नीतिवेत्ताओं ने उपन्यास कहा है। इससे सिद्ध होता है कि हितोपदेश-कार ने सामोपाय के अर्थ में उपन्यास शब्द का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त , उपन्यास शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है यथा- न्यस्त, धरोहर, कथन, संदर्भ, अमानत, वाक्योपक्रम, वाक्य रखना, समीप रखना, विचार, छल, बहाना भूमिका, युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना, प्रसादन आदि। उपन्यास शब्द का प्रयोग केवल संस्कृत में ही नहीं हुआ है प्रत्युत भारत की अन्य भाषाओं में भी यह शब्द अन्य अर्थ में आया है। तेलुगु तथा मलयालम आदि दक्षिण की भाषाओं में इस शब्द का प्रयोग भाषण, व्याख्यान तथा निबन्ध के अर्थ में होता है। उपन्यास शब्द प्राचीन है परन्तु जिस अर्थ में आज यह प्रयुक्त होता है वह नवीन है।

३- हिन्दी का 'उपन्यास' शब्द अंग्रेजी शब्द 'नॉवेल' का हिन्दी रूपान्तर है। 'नॉवेल' शब्द इटैलियन-नौवेला: Novella :शब्द से बना है जिसका अर्थ है सूचना[2]। नॉवेल या नौवेला शब्द की उत्पत्ति मौलिक है। रोमन-सम्राटों ने अपने यहां के आधिकारिक विधि के उपरान्त जब नवीन अथवा पूरक विधान एवं अधिनियम लागू किए, जैसा कि जस्टिनियन ने किया था, तो उसका नाम 'नावेल' या 'नौवेला' पड़ा[3]।

१- वी.एस.आप्टे : संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी : भा० १, सन् १९५७, पूना, पृ०४५२
२- वेबस्टर : न्यू ट्वेन्टीयथ सेंचुरी डिक्शनरी : १९५६, द्वि०सं०, न्यूयार्क, पृ०१२२५
३- चैम्बर्स ट्वेन्टीयथ सेंचुरी डिक्शनरी : १९५८, पु०मु०सा०, लंदन, पृ० ७३२

कालान्तर में 'नॉवेल' शब्द से काल्पनिक, वर्णनात्मक गद्य खंड अथवा वास्तविक जीवन का चित्र प्रस्तुत करने वाली कहानी-जैसी कहानी जिसमें पुरुषों और स्त्रियों के जीवनवृत्त के संवेगपूर्ण स्थितियों का वर्णन किया गया हो— के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा।[1] आज उपन्यास अथवा 'नॉवेल' शब्द से उस रचना का बोध होता है जिसमें अनेक पात्रों के माध्यम से जीवन की सहज स्वाभाविक व्याख्या कथात्मक रूप में व्यक्त होती है।

उपन्यास की परिभाषा

४- उपन्यास की परिधि धरती-सी व्यापक है। अतः इसकी परिभाषा देना कठिन है। प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: ने उपन्यास को केवल मानव-जीवन का चित्र स्वीकार किया है तथा मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों का उद्घाटन करना ही इसका ध्येय माना है।[2] यह परिभाषा तो अपर्याप्त प्रतीत होती है। यह तो समस्त साहित्य का कार्य है फिर उपन्यास तथा अन्य रूपों में क्या अन्तर है ? इसी प्रकार डा० श्यामसुन्दर दास :१८७५-१९४५: ने उपन्यास की परिभाषा दी है कि उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि उपन्यास में जीवन की काल्पनिक तथा भावात्मक कथा प्रस्तुत होती है। परन्तु काल्पनिक तथा भावात्मक कथा के प्रस्तुतीकरण अथवा जीवन के यथातथ्य चित्रण मात्र से कोई भी रचना उपन्यास संज्ञा की अधिकारी नहीं होती। फॉस्टर ने फ्रान्सीसी समालोचक आबेल शेवेले की परिभाषा (उपन्यास को एक नियत आकार वाला गद्यमय आख्यान) को अंगीकार करते हुए लिखा है कि उसका आकार ५०,००० शब्दों से कम नहीं होना चाहिए।[3] यह परिभाषा

१- चेम्बर्स ट्वेन्टीयथ सेंचुरी डिक्शनरी :१९५८, लंदन, पुनर्मुद्रण, पृ० ७३२

२- प्रेमचन्द :'कुछ विचार', १९५८, बनारस, प्र.सं. पृ० ७१

३- M. Abel Chevallay has in his brilliant little manual provided a definition. Itis, he says ' a fiction in prose of a certain extent... That is quite good enough for us and we may perhaps go so far as to add that the extent should not be less than 50000 words.

- ई०एम०फार्स्टर :'एस्पैक्ट्स आफ दी नावेल':पा०बु०ए०, १९५६, लंदन, पृ० ६

भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होती क्योंकि इसके अनुसार बृहत् कहानी भी उपन्यास के अन्तर्गत आ जायेगी और लघु उपन्यास कहानी के अन्तर्गत चला जायेगा। इससे भ्रम की सृष्टि होगी कि कहानी का बृहत् संस्करण उपन्यास है। अर्नेस्ट ए० बेकर के अनुसार कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की गद्यमय व्याख्या ही उपन्यास[1] है।
उपन्यास की परिधि इतनी व्यापक है कि यह परिभाषा भी पूर्ण नहीं प्रतीत होती है। एलिथ हुवार्टन ने अपने निबन्ध "परमानेंट वेल्यूज इन फिक्शन" में उपन्यास की सरल सुबोध परिभाषा प्रस्तुत की है - "उपन्यास एक ऐसा कल्पित आख्यान है जिसमें सुन्दर कथानक और भली प्रकार से चित्रित पात्र होते हैं[2]। उन्होंने सुन्दर कथानक तथा भली प्रकार से चित्रित पात्र का अर्थ भी स्पष्ट किया है। उनके अनुसार सुन्दर कथानक उसे कहते हैं जो सुबोध और प्रभावोत्पादक है तथा वे ही पात्र भलीभांति चित्रित संज्ञा के अधिकारी होंगे जो अलग-अलग आकृतियां धारण करके पाठकों के लिए सजीव हो जायें। यह परिभाषा कुछ अंशों तक उपयुक्त प्रतीत होती है। इसमें उपन्यास-कला के दो प्रमुख उपकरणों : कथानक तथा चरित्र-चित्रण: पर प्रकाश पड़ता है। उपन्यास गद्यात्मक महाकाव्य है। उपन्यास का मानव जीवन से घनिष्ठ संबंध है। इरा वोल्फर्ट के अनुसार, उपन्यास मानव जीवन के विचारों की भाषा का गद्यानुवाद है। यह अनुवाद इतनी सच्चाई के साथ होना चाहिए जिससे स्वयं के संबंध में पाठकों की ज्ञानवृद्धि हो[3]। राल्फ फाक्स ने उस रचना को उपन्यास माना है

---

1. "This was a great step towards the modern novel, as defined by Earnest A. Baker, the interpretation of human life by means of fictitious prose in narrative.

-रिचर्ड चर्च :द ग्रोथ ऑफ दी इंगलिश नाविल : १९५१ ; लंदन, पृ० ८

A novel is a work of fiction containing a good story and well drawn characters.

2 -एलिथ हुवार्टन:परमानेंट वेल्यूज इन फिक्शन, राइटिंग फार लव आर मनी एड नोरमैन कजन :१९४९, टोरंटो, पृ० ५२

They (Novels) are prose translations of ideas into the language of human life being lived-the translation must be made with such an accuracy as to increase the reader's knowledge of his own self.

-इरा वोल्फर्ट :ह्वाट इज ए नाविल एण्ड ह्वाट इज इट गुड फार, दी राइटर्स बुक: १९५०, न्यूयार्क, पृ० ८

जो व्यक्ति से संलग्न होती है, समाज तथा प्रकृति से विरुद्ध, वह व्यक्ति के संघर्ष का महाकाव्य है।[1] इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास में मानव जीवन के संघर्ष को वृहत् तथा प्रस्तुत होती है। उपन्यास का अपने युग से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसी को ध्यान में रख कर एक विचारक ने तो यहाँ तक कहा था कि यदि उपन्यास कुछ हो सकता है तो वह सामयिक इतिहास है, युग :जिसमें हम रहते हैं :के सामाजिक वातावरण का यथार्थ तथा पूर्ण प्रतिरूप है। किन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में तो सामयिक इतिहास का चित्रण होता ही नहीं फिर भी वे उपन्यास हैं। ये समस्त परिभाषायें अपूर्ण तथा अपर्याप्त हैं। वास्तव में उपन्यास क्या है, यह इन परिभाषाओं से स्पष्ट नहीं होता। वेब्स्टर की परिभाषा ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। उपन्यास गद्यमय आख्यान अथवा उचित आकार का वृत्त है जिसमें कथानक में यथार्थ जीवन के प्रदर्शन का प्रयत्न करने वाले पात्रों और उनके कार्यों का चित्रण होता है।[2] उपन्यास की सर्वमान्य परिभाषा नहीं हो सकती। उपन्यास शब्द से सामान्यतः ऐसी गद्यमय वृहत् अथवा लघु रचना का बोध होता जिसमें पात्रों के माध्यम से कथा प्रस्तुत होती है। निस्सन्देह यह काल्पनिक पात्रों की कथा है। किन्तु इसमें पात्रों के कार्य, व्यवहार, संघर्ष तथा उनके परस्पर वार्तालाप का चित्रण इस रूप में होता है कि वे वास्तविक मानव की भाँति सजीव तथा जीवन्त प्रतीत होते हैं।

५- उपन्यास एक विशाल सरिता है जिसमें व्यक्ति, समाज का प्रतिबिम्ब निरन्तर पड़ा करता है। वह सरिता निरन्तर गतिशील है, इसलिए प्रतिबिम्ब भी गतिशील है। उपन्यास वस्तुतः गद्य में विरचित महाकाव्य है जिसमें व्यक्ति के संघर्ष की कथा नाना वर्ग तथा विविध प्रकार के पात्रों के माध्यम से इस भाँति से प्रस्तुत होती है जो विश्वसनीय प्रतीत होती है।

The novel deals with individual, it is the epic of the struggle of, individual against society, against nature.it.

- राल्फ फाक्स : दि नॉवेल एण्ड दि पीपुल :कल०:१९४४:कलकत्ता, पृ० २४

२- वेब्स्टर :न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी ऑफ इंगलिश लैंग्वेज : १९४५, पृ०१६७०

लघु उपन्यास

६- उपन्यास का एक अन्य रूप भी है। वह है लघु उपन्यास। आधुनिक काल की प्रवृत्ति संक्षिप्तीकरण की ओर हो रही है। महाकाव्य का स्थान खंडकाव्य, मुक्तक अथवा गीतिकाव्य, नाटक का स्थान एकांकी तथा वृहत् उपन्यासों का स्थान कहानी और लघु उपन्यास ग्रहण कर रहे हैं। आज उपन्यास के स्वरूप में अन्तर आ गया है। वह छोटा होता जा रहा है, उसमें अल्प पात्रों का चित्रण होता है, वह सुगठित हुआ करता है। उपन्यास की तुलना में यह अधिक सन्तुलित होता है। इसलिए यह अत्यधिक प्रभावोत्पादक होता है। उपन्यास अपने कथानक में एक युग को समाविष्ट कर सकता है जब कि लघु उपन्यास के लिए यह संभव नहीं है। इसका कथानक समाज अथवा व्यक्ति की किसी एक समस्या को लेकर अग्रसर होता है। इसकी संवेदना सुलझी हुई तथा स्पष्ट रहती है। इसमें उपकथानक तथा अनावश्यक विस्तार के लिए कोई स्थान नहीं है। अतएव कथा की गति में तीव्रता तथा प्रभावान्विति होती है।

७- उपन्यास की तुलना में लघु उपन्यास में चरित्र कम रहते हैं। इस सम्बन्ध में रीड ने आशंका प्रकट की है कि 'संभव है उसमें चरित्र :charecter: न हो पर व्यक्तित्व :personality: का होना आवश्यक है।[1] लेखक की सफलता व्यक्तित्व को उभारने में निहित है। इसमें जो पात्र प्रमुख होता है वह नियामक अथवा असाधारण प्रतीत होता है। पर पात्र की असाधारणता एक सीमा तक ही होनी चाहिए। लघु उपन्यास के पात्र स्वयं से संघर्ष करते हुए दृष्टिगत होते हैं। इस संघर्ष में ही उनका व्यक्तित्व निखरता है। चरित्रगत आन्तरिक द्वन्द्व यदि उसके सामाजिक कार्य में बाधा बन कर नहीं आता तो निस्सन्देह उपन्यास मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करने में सफल होता है।

८- क्षेत्र, कथानक तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से लघु उपन्यास, उपन्यास का ही संक्षिप्त रूप है। वास्तव में इसमें परिस्थिति विशेष का संश्लिष्ट चित्र उपलब्ध होता है। शैली की दृष्टि से भी इसमें और उपन्यास में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। यह

१- देखिए-'आलोचना' उपन्यास विशेषांक, अक्टूबर १९५४, पृ० १६६

पत्रात्मक, आत्मकथात्मक, डायरी अथवा जीवनी-शैली में हो सकता है। उपन्यासकार के व्यक्तित्व के अनुरूप ही यह विश्लेषणात्मक, वर्णनात्मक, अभिनयात्मक तथा चित्रात्मक होता है। उपन्यास और लघुउपन्यास के शिल्प में मौलिक अन्तर नहीं है। इसलिए इनकी चर्चा साथ ही हो रही है।

उपन्यास तथा महाकाव्य

१- उपन्यास में सर्वांगीण जीवन का चित्रण होता है जो महाकाव्य की विशेषता है। इसलिए इसे गद्यात्मक महाकाव्य भी कहा जा सकता है। महाकाव्य तथा उपन्यास में कतिपय समानतायें हैं। दोनों में ही व्यक्तियों के साथ कुछ घटनाएं घटित होती हैं। इन घटनाओं का चित्रण एक निश्चित क्रम से होता है जिसके कारण रचनाओं में आदि से अन्त तक तारतम्य बना रहता है। उपन्यास तथा महाकाव्य में क्रमशः उपन्यासकार तथा कवि समयानुरूप तथा प्रसंगानुकूल स्थान, नगर, पर्व, उत्सव, प्रकृति आदि के विविध चित्र अंकित करते हैं। दोनों में ही नायक-नायिका के अतिरिक्त, कुछ अन्य पात्रों का चित्रण होता है। पात्रों के वार्तालाप के द्वारा जहां कथानक की प्रगति होती है वहां उनके चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। किन्तु इन समानताओं के होते हुए भी उपन्यास और महाकाव्य में मौलिक अन्तर है। यह अन्तर केवल गद्यात्मक और पद्यात्मक शैली मात्र का नहीं है। महाकाव्य में महान् व्यक्तियों की जीवनगाथा प्रस्तुत होती है। उपन्यासों में भी वह चित्रित हो सकती है, परन्तु यह अनिवार्य नहीं है। अधिकतर इसमें सामान्य तथा निम्नवर्ग के व्यक्ति की कथा तथा समस्याओं का चित्रण होता है। महाकाव्य के कथानक में अलौकिक कृत्यों का समावेश होता है, उपन्यास के कथानक में कल्पना की अबाध क्रीड़ा सम्भव नहीं है। यहां कल्पना भी यथार्थ-समन्वित होती है। महाकाव्यों की भांति यहां कल्पना द्वारा रोमांस की सृष्टि नहीं हो सकती। कल्पना का उपयोग उपन्यास में वहीं तक हो सकता है जहां तक वह स्वाभाविकता की विरोधी न हो। इसके अतिरिक्त, महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होता है, उपन्यास का नायक भी धीरोदात्त हो सकता है, परन्तु यह उसकी आवश्यक शर्त नहीं है। शराबी, सूदखोर, भिक्षुक, कृषक, श्रमिक आदि भी उपन्यासों के नायक हुआ करते हैं। मानवीय दुर्बलताओं से परिपूर्ण व्यक्ति भी नायक हो सकता है तथा होता भी है। महाकाव्यों में पात्रों

है अलौकिक वृत्तों का चित्रण, खलों की निन्दा तथा सज्जनों की स्तुति होना आवश्यक है। इसके प्रतिकूल, उपन्यास में स्वाभाविक तथा विश्वसनीय पात्र-चित्रण अपेक्षित है। महाकाव्य के पात्र वर्गवादी हुआ करते हैं, यहां वर्गवादी चित्रण के अतिरिक्त, व्यक्ति-चित्रण भी प्राप्त होता है। इस प्रकार यह चित्रण, महाकाव्य के चित्रण की अपेक्षा अधिक पूर्ण होता है। शास्त्रीय मान्यता के अनुसार, महाकाव्य के अन्त में नायक को फल-प्राप्ति होती है, उपन्यास के नायक को फल-प्राप्ति हो भी सकती है और वह विफल भी हो सकता है। महाकाव्य की भाषा उपन्यास की भाषा की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट तथा बोझिल होती है क्योंकि वह कवित्व तथा अलंकारों से पूर्ण होती है। उपन्यास की भाषा का व्याकरणसम्मत सरल तथा सुबोध होना अनिवार्य है यद्यपि वह प्रसंगानुकूल कहीं-कहीं कवित्वपूर्ण हो सकती है। उपन्यास में यथार्थ जीवन का प्रतिफलन होता है। इसीलिए इसमें प्रस्तुत कथा, पात्र तथा वर्णन विश्वसनीय प्रतीत होते हैं। इसकी लोकप्रियता का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि इसमें वह यथार्थ दृष्टिगत होता है जो चिरपरिचित है। यह यथार्थ-चित्रण ही उपन्यास और महाकाव्य की विभाजक रेखा है।

उपन्यास और नाटक

रंगमंच ही नाटक को साहित्य के अन्य रूपों से पृथक् करता है। रंगमंच के अनुकूल ही नाटक का कथानक प्रस्तुत होना चाहिए। उपन्यास के लिए ऐसा कोई बन्धन नहीं है। उपन्यास का रंगमंच शब्दों में अन्तर्निहित होता है। उपन्यासकार जो कुछ चित्रण करता है, उसका शब्दचित्र अंकित कर देता है। इसी को ध्यान में रख कर मैरियम क्रॉफोर्ड ने उपन्यास को "जेबी नाट्यशाला" पाकिट थियेटर कहा है।[१०] पाठक गृह में शय्या पर पड़ा पड़ा रंगमंच पर प्रदर्शित दृश्यों को देख सकता है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी नाटक तथा उपन्यासों में कुछ अन्तर है। नाटककार स्वत: पात्रों का विश्लेषण करने के लिए मंच पर उपस्थित नहीं हो सकता है।

१०- The novel is, Marin Crawford once happily phrased it, "a pocket theatre."

- हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ लिटरेचर : १९५४, लंदन पृ० १२६

उसे पात्रों का चित्रण भी रंगमंच के अनुरूप करना पड़ता है। पात्रों का चित्रण नाटककार उनके संवादों तथा कार्यों के माध्यम से करता है। उपन्यासकार उपन्यासों में पात्रों का चित्रण इसी रूप में करता है। इसके अतिरिक्त, वह पात्रों की गुप्त इच्छाओं, विचारों तथा स्वप्नों का भी उद्घाटन करता है। वह पात्रों के असंगत व्यवहार की व्याख्या तथा विश्लेषण भी कर सकता है। फलत: यह चित्रण विश्वसनीय, स्वाभाविक तथा सजीव प्रतीत होता है। नाटक में पात्र-परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश नहीं पड़ सकता। उनके परिवर्तित रूप की झलक ही दृष्टिगत हो सकती है। इसके विपरीत, उपन्यासों में पात्र-परिवर्तन के मूल में निहित कारणों पर प्रकाश पड़ सकता है क्योंकि उपन्यासकार रंगमंच की सीमा में आबद्ध नहीं है। वह पात्रों के संस्कार तथा परिस्थितिजन्य विचार अथवा नवीन दर्शनजन्य मानसिक संघर्ष चित्रित करता है। यही कारण है कि उपन्यास के पात्रों का परिवर्तन विश्वसनीय तथा सजीव प्रतीत होता है। नाटक का क्षेत्र सीमित है-उपन्यास का क्षेत्र विशाल है। उपन्यास में विभिन्न दृश्य, पात्रों की वेशभूषा, भावभंगिमा, भाव विचार, उनके परस्पर संवाद आदि जो नाटक की अभिव्यक्ति के साधन हैं, उनका चित्रण यहां सरलता से हो जाता है। मंच पर विभिन्न स्थानों तथा परिवर्तित होते हुए दृश्यों का प्रदर्शन सहज नहीं है, किन्तु उपन्यास में यह कार्य केवल शब्द-चित्र मात्र से होता है, इसलिए यहां यह संभव है। जहां नाटक की शैली चित्रात्मक, अभिनयात्मक तथा :एक सीमा तक: वर्णनात्मक होती है वहां उपन्यास की शैली इसके अतिरिक्त, व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक तथा स्वप्न-चित्र-शैली भी हो सकती है। उपन्यास का शिल्प नाट्य-शिल्प की अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध तथा सशक्त है। इसी कारण नाटक की अपेक्षाकृत उपन्यास में जीवन की अभिव्यक्ति सफलतर होती है क्योंकि इसमें पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व तथा संघर्ष आदि का सफल चित्रण होता है जिसकी नाटक में अल्प संभावना है।

उपन्यास और कहानी

११- उपन्यास और कहानी में वही सम्बन्ध है जो महाकाव्य और खण्डकाव्य में है। उपन्यास जीवन का चित्र है और कहानी जीवन की एक स्थिति, एक भाव तथा एक पक्ष की कथा है। उपन्यास के पठन के लिए दीर्घ समय की आवश्यकता है तथा कहानी एक बैठक में ही समाप्त हो जाती है। पो के अनुसार, कहानी के

पठन के लिए आधे घंटे से दो घंटे तक का समय लगे[1] अथवा वह एक ही बैठक में पढ़ी जा सके[2]। किन्तु यह परिभाषा अधिक मान्य नहीं हो सकती क्योंकि कुछ कहानियां इतनी दीर्घ होती हैं कि वे एक बैठक में समाप्त नहीं हो सकतीं। समय अथवा आकार की दृष्टि से उपन्यास अथवा कहानी का निर्णय करना समीचीन नहीं होगा, इससे भ्रम की सृष्टि होगी। इसका अर्थ यह निकलेगा कि कहानी का विकास उपन्यास है और उपन्यास का लघु रूप कहानी है। उपन्यास और कहानी में मौलिक अन्तर है। इस अन्तर को इस प्रकार समझा जा सकता है कि ऊंट और बिल्ली दोनों के चार पैर होते हैं। चौपाए होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि बिल्ली का बृहत् संस्करण ऊंट है या ऊंट का लघु रूप बिल्ली है। दोनों के रूप, आकार-प्रकार, स्वभाव गठन में अन्तर है। यही अन्तर उपन्यास और कहानी में भी है। उपन्यास वास्तव में सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति है तथा कहानी उस दृश्य की एक झलक है। यदि एक बाहर का कमरा ऐसा है जिससे लगा हुआ उद्यान है। उद्यान और कमरे के बीच में एक द्वार है जिसमें छोटा-सा छेद है। छेद से उद्यान की जो शोभा दृष्टिगत होती है वह कहानी है और द्वार खोलने पर जो दृश्य दिखायी देगा वह उपन्यास है। कहानी में झलक का सौंदर्य होता है। इस झलक की स्थायी रेखाएं स्मृति पट पर अंकित हो जाती हैं। यदि कोई तीव्रगामी यान से किसी आकर्षक नवयुवती की झलक देखता है तो यह झलक कहानी है परन्तु जब यान से उतर कर उस सौन्दर्य का पूर्ण निरीक्षण करता है तो यह उपन्यास है। प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: ने लिखा है कि "उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है, आख्यायिका केवल एक घटना है- अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं।[3] समग्र चित्रण के कारण उपन्यास के पठन से

A short story is a prose narrative, requiring from an half hour to one or two hours in its perusal.

-हडसन : 'एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ लिटरेचर' : १९४९, लंदन, पृ० ३३७

We may say that a 'Short story is a story that can be easily read at a single sitting.

वही, पृ० ३३७

३- प्रेमचन्द : कुछ विचार : [illegible], कृ०सं०, बनारस, पृ० ३६

मानसिक तृप्ति होती है और जीवन के एक अंश के तीव्र तथा भावात्मक चित्रण के कारण कहानी के रसास्वादन से मानसिक उत्तेजना प्राप्त होती है। क्षेत्र के अतिरिक्त, कथानक की दृष्टि से भी दोनों में मौलिक अन्तर है। उपन्यास का कथानक विशाल हो सकता है, उसमें कथानक के अतिरिक्त, उपकथानक तथा अनेक प्रासंगिक कथाओं का चित्रण भी सकता है, कहानी के कथानक के लिए यह संभव नहीं है। उसका कथानक संक्षिप्त सुगुम्फित तथा सुग्रथित होता है फलत: उसकी संवेदना सुलझी हुई होती है। उपन्यास में विविध पात्रों का प्रवेश होता है, उनका क्रमिक विकास, उनका चित्रण विस्तार से होता है, कहानी में अल्प पात्रों का ही चित्रण संभव है। कहानी और उपन्यास की शैली में भी अन्तर है। उपन्यास में विविध प्रकार की शैलियों का प्रयोग हो सकता है, कहानी की शैली की मुख्य विशेषता है व्यंजनात्मकता। कहानीकार संक्षेप में व्यंजनात्मक शैली के माध्यम से बहुत कुछ व्यक्त करना चाहता है। कुछ लोगों का विचार है कि कहानी का सीमित क्षेत्र होता है। इस कारण इसमें चरित्र विश्लेषण तथा वार्तालाप प्राप्त तो होते हैं परन्तु उपन्यास के चरित्र, विश्लेषण तथा वार्तालाप में जिस पूर्णता की प्रतीति होती है वह कहानी में नहीं होती। उपन्यास में जटिल पात्र का विकास ~~प्रदर्शित~~ इस तरह प्रदर्शित हो सकता है कि वह विश्वसनीय प्रतीत हो। इसके विपरीत कहानी में सम्यक् विकास के अभाव में जटिलता तथा दुरूहता रहती है। यह वास्तव में कहानी-कला की सीमागत विवशता ~~मजबूरी~~ है जिसके कारण कहानी के पात्र उपन्यास के पात्रों की भांति कल्पना में साकार होकर अमर नहीं हो पाते हैं। उनका कथन पूर्वाग्रहग्रस्त प्रतीत होता है। साहित्य के विविध रूपों में कोई भी कम न्यून नहीं है। यह लेखक की शक्ति पर निर्भर है कि वह पाठक को आश्वस्त कर सके अथवा नहीं। यह कहना समीचीन नहीं है कि कहानी के पात्र अमर नहीं होते। कहानी उपन्यास से कम लोकप्रिय नहीं है। प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: ने अनेक अमर पात्र प्रदान किए हैं जिनके अस्तित्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता यथा- 'बूढ़ी काकी', 'रानी सारन्धा', 'ईदगाह' का हमीद आदि। प्रसाद :१८८९-१९३७: की 'आकाशदीप' की चम्पा, 'पुरस्कार' की मधूलिका, ममता आदि ऐसे ही स्त्री-पात्र हैं। इन कहानियों में वर्णित संवाद भी सुन्दर हैं। हां, यह सत्य है कि कहानी में उपन्यास की भांति विविधता नहीं होती। परन्तु जहां तक प्रभावान्विति का प्रश्न है, कहानी अपने क्षेत्र में अद्वितीय है क्योंकि

सीमित क्षेत्र में जीवन के एक अंश की सुन्दर व्यंजना कहानी में भी होती है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कहानी उपन्यास से श्रेष्ठ है । उपन्यास में जीवन की व्याख्या इस रूप में प्रस्तुत होती है कि कुछ विशिष्ट स्थलों पर उसमें कहानी जैसी तीव्र भावात्मकता तो दृष्टिगत होती है परन्तु उसमें वह सम्पूर्णता होती है जो कहानी के क्षेत्र से परे है ।

उपन्यास और जीवनी

१२- जीवनी में लोकप्रसिद्ध व्यक्ति के जीवन-वृत्त, कार्य, उसके परिवार आदि का उल्लेख होता है । व्यक्ति की कथा के प्रसंग में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अवस्था का चित्रण होता है । उपन्यास भी काल्पनिक व्यक्ति की जीवनी है । इसी ही ध्यान में रख कर प्रेमचंद :१८८०-१९३६: ने आशा व्यक्त की थी कि भावी उपन्यास जीवनचरित्र होगा ।" वास्तव में उपन्यासकार की कल्पना की सफल अभिव्यक्ति के कारण यह काल्पनिक व्यक्तित्व भी उतना ही सत्य हो जाता है जितना कि ऐतिहासिक व्यक्तित्व । "गोदान" :१९३६: में होरी की जीवनी प्रस्तुत हुई है । आज वह अमर पात्र है । कोई भी उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता । किन्तु उपन्यास और जीवनी में यही अन्तर नहीं है कि एक ऐतिहासिक व्यक्ति की और दूसरी काल्पनिक व्यक्ति की कथा है । दोनों के शिल्प में भी अन्तर होता है । उपन्यास कार्य-कारण की शृंखला में आबद्ध होता है, जीवनी के लिए यह आवश्यक नहीं है । उपन्यास की समस्त घटनाएं तीव्रता के साथ चरमसीमा की ओर अग्रसर होती हैं, जीवनी के लिए यह अनिवार्य नहीं है । फलत: उपन्यास का कथानक सुगठित होता है । जीवनी का कथानक शिथिल होता है । उपन्यास में घटनाओं की स्वाभाविकता पर बल प्रदान किया जाता है । उसमें असंगत घटनाओं के कारणों पर प्रकाश पड़ता है, इसके विपरीत जीवनी में यथातथ्य घटनाओं का संकलन मात्र होता है । इसी प्रकार

१- "यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का । उसकी छुटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पाई है । हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो ।"

—प्रेमचन्द : "कुछ विचार": १९५८, सा०प्र० बनारस, प्र० सं०, पृ० ७०८ ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी दोनों रूपों में अन्तर है। जीवनी में नायक के चरित्र पर ही प्रकाश पड़ता है। अन्य चरित्रों का चित्रण उसी की दृष्टि से होता है। इसके विपरीत उपन्यास में नायक-नायिका के अतिरिक्त, अन्य पात्रों के भी चरित्र पर सम्यक् रूप से प्रकाश पड़ता है। जीवनी में पात्र-चित्रण बाह्य धरातल पर ही होता है। उपन्यास के पात्रों के बाह्य तथा अन्तर्मन दोनों पर ही प्रकाश पड़ता है। उपन्यास में पात्र के अव्यक्त हृदय, अज्ञात इच्छाओं का भी उद्घाटन होता है। सफल उपन्यास में पात्र-चित्रण स्वाभाविक तथा विश्वसनीय किया जाता है, उसका परिवर्तन पर प्रश्नचिह्न नहीं लग सकता क्योंकि परिवर्तन अन्तर्द्वन्द्वजन्य होता है। जीवनी में केवल बाह्य घटनाओं का चित्रण होता है जिससे वह प्रभावित होकर वह परिवर्तित जाता होता है। उपन्यास और जीवनी की शैली भी भिन्न-भिन्न होती है। उपन्यास की शैली वर्णनात्मक, चित्रात्मक, अभिनयात्मक तथा विश्लेषणात्मक हो सकती है। जीवनी की शैली प्रायः वर्णनात्मक अथवा विश्लेषणात्मक होती है।

१३- यदि व्यक्ति में प्रतिभा होती है तो वह जीवनी भी ऐसी लिख सकता है जो उपन्यास की भाँति रोचक हो, यथा- "एरियल", "दी लॅस्ट आफ लाइफ", "मेरी कहानी", "स्वप्न सिद्धि की खोज में", "सत्य के प्रयोग" आदि। इसलिए निश्चित रूप से यह कहना कि जीवनी नीरस होती है और उपन्यास सरस, समीचीन नहीं होगा। किन्तु सामान्यतः उपन्यास जीवनी की अपेक्षा अधिक सरस होता है। इसका कारण यह है कि तथ्यों की अधिकता के कारण उपन्यासकार की भाँति जीवनीकार रोचक कथा प्रस्तुत करने में असमर्थ है। मृत्यु, प्रस्थान, आगमन आदि के द्वारा वह कथानक में मनोनीत मोड़ उपस्थित नहीं कर पाता। इसी प्रकार वह चरित्रों का मनोवैज्ञानिक, स्वाभाविक तथा विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करने में असमर्थ होता है क्योंकि उपन्यासकार की भाँति वह उसके लोकप्रचलित रूप में परिवर्तन नहीं कर सकता है। सफल उपन्यास भले ही काल्पनिक व्यक्ति की जीवनी हो, किन्तु इसका चित्रण जीवनी की अपेक्षा अधिक पूर्ण होता है।

हिन्दी उपन्यास का जन्म

१४- साहित्य की लोकप्रिय विधा उपन्यास का जन्म संक्रान्तिकाल में हुआ करता है । पाश्चात्य देशों की भांति भारत में उपन्यास का जन्म संक्रान्तिकाल में हुआ । भारत की साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति की दृष्टि से १६ वीं शताब्दी अत्यधिक महत्वपूर्ण है । शासनतंत्र के परिवर्तन के कारण यहां पाश्चात्य संस्कृति का प्रवेश हुआ । फलत: यहां पाश्चात्य संस्कृति का विरोध तथा समर्थन होने लगा, किन्तु विरोध के होते हुए भी भारतीय पाश्चात्य संस्कृति एवं साहित्य से प्रभावित हुए । इस शताब्दी के पूर्व खड़ीबोली गद्य की सुविकसित परम्परा का अभाव दृष्टिगत होता है । पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क के फलस्वरूप यहां गद्य की परम्परा विकसित हुई । १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लल्लूलाल :लगभग १७६३-१८३५: कृत "प्रेमसागर" :१७६३ :, इंशाअल्ला खां : जन्म ?-१८१७ : कृत "रानी केतकी की कहानी" :१७६८-१८०३ के बीच:, सदल मिश्र :१७६८-लगभग १८४८: का "नासिकेतोपाख्यान" :१८०३:, सदासुखलाल :१७४६-१८२४: कृत "सुखसागर" : ? : आदि के द्वारा हिन्दी गद्य का विकास हुआ । यह निर्विवाद सत्य है कि उपन्यास पाश्चात्य साहित्य की देन है । कुछ लोगों ने उपन्यास शब्द का अर्थ युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना तथा प्रसादन क्रिया को अंगीकार कर यह सिद्ध करने का विफल प्रयास किया है कि यहां भी उपन्यास रचे जाते थे, उनका कथन उचित नहीं प्रतीत होता है । संस्कृत के "दशकुमारचरित", "हर्षचरित" तथा "कादम्बरी" आदि आख्यायिका हैं, उपन्यास नहीं । इनमें उस यथार्थ चित्रण का अभाव है जो उपन्यास साहित्य का प्राण है । यद्यपि इसमें आदि से अन्त तक तारतम्य दृष्टिगत होता है । भारतीयों का दृष्टिकोण आदर्शवादी था । फलत: यहां शिक्षाप्रद आदर्शवादी कथा-साहित्य का प्रणयन हुआ । भारतीय कथा-साहित्य की परम्परा पुरातन है । वेदों से इनका उद्गम माना जाता है । उपनिषद्-कथाएं, पौराणिक कथाएं,

---

१- डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय :"आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका : १९५२ : इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी, पृष्ठ० ४०४, ४०५, ४२०, ४२४ आदि ।

'रामायण', 'महाभारत', की कथाएं 'बृहत्कथा', 'शुकसप्तति', 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश' 'सिंहासनबत्तीसी', 'बैतालपचीसी', आदि प्रसिद्ध कथाएं हैं। इनकी रचना सौद्देश्य हुई है। इनमें पाठक के समक्ष दृष्टान्त कथा-रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसीलिए इनमें आदि, मध्य तथा अन्त में शिक्षात्मक स्थल दृष्टिगत होते हैं। उपन्यास में जिस यथार्थ चित्रण की आवश्यकता एवं यथार्थ समन्वित औपन्यासिक शैली अपेक्षित होती है, उसका आधुनिक काल के पूर्व अभाव दृष्टिगत होता है। अतः निर्माण-कालीन उपन्यासकारों को परम्परा के अभाव में अत्यधिक श्रम करना पड़ा। उन्हें वह भूमि प्रस्तुत करनी पड़ी जिसमें पाश्चात्य साहित्य का नॉवेल भारतभूमि का उपन्यास पनप सके।

आलोच्यकाल की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का संक्षिप्त सिंहावलोकन :-

१५- साहित्य की अन्य विधाओं की भांति उपन्यास भी अपने काल की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति से प्रभावित होता है और इन्हें प्रभावित करता भी है। इसीलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि आलोच्यकाल की स्थिति का संक्षिप्त सिंहावलोकन हो, यद्यपि विस्तार से विचार करना विषयान्तर होगा। आलोच्यकाल का इतिहास भारत~~वर्ष~~ में अंग्रेजी राज्य की स्थापना, भारतीयों की परतंत्रता तथा उससे मुक्ति का इतिहास है। जहांगीर के शासनकाल में ही अंग्रेजों का आगमन भारतमें हो गया था। उन्होंने बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिए थे। कालान्तर में इन्होंने अपनी कूटनीति से राजनीतिक शक्ति की अभिवृद्धि की। अपने प्रभुत्व की स्थापनाके लिए इन्हें अनेक युद्ध करने पड़े, जिसमें ये विजयी हुए किन्तु अंग्रेजों की पक्षपातपूर्ण नीति के कारण भारतीय सेना असन्तुष्ट तथा रुष्ट थी। फलतः सन् १८५७ में स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रव्यापी क्रान्ति हुई। प्रारम्भ में यह क्रान्ति सफल होती हुई प्रतीत हुई। किन्तु अन्त में सन् १८५८ में सम्पूर्ण भारतवर्ष एक विदेशी राजनीतिक सत्ता के अधीन हो गया। परन्तु भारत का शासन ईस्ट-इंडिया कम्पनी के हाथ से पार्लियामेंट आफ इंगलैंड के हाथ में चला गया। इंगलैंड में सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया नियुक्त किया गया और उसकी सहायता के लिए

एक इंडिया कौंसिल भी बनी । उसी की नीति के आधार पर भारत में शासन होने लगा । भारतीयों की राजनीतिक अवस्था अत्यधिक करुणा तथा दयनीय हो गयी ।

१६- सन् १८८५ में ह्यूम के प्रयत्न से बम्बई में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई । अंग्रेजों के सहयोग से स्थापित इस संस्था को शीघ्र ही वे सशंकित दृष्टि से देखने लगे । धीरे-धीरे कांग्रेस के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का प्रसार होने लगा । अंग्रेजों की भेद-नीति के कारण सन् १८८८ में 'अपर इंडिया लीग एसोसियेशन' की स्थापना हुई किन्तु कांग्रेस में राष्ट्रीय मुसलमानों की संख्या अल्प नहीं थी । कांग्रेस ही राष्ट्रीय संस्था थी । हिन्दू-मुसलमानों में मेल रहे, इस उद्देश्य के हेतु कांग्रेस और लीग की सम्मिलित बैठक हुई । संक्षेप में, कांग्रेस के माध्यम से देश में राजनीतिक चेतना का विकास और प्रसार हो रहा था । यह काल कांग्रेस की शक्ति का विकास-काल है ।

१७- गांधीजी के सफल नेतृत्व में सन् १९२१ में कांग्रेस-शक्ति सम्पन्न हो गयी। तथा वह राष्ट्रीय चेतना का अंग बन गई । क्रान्तिकारी दल विघटित हो गए । यह काल इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि सर्वप्रथम भारतीय जनता ने स्वतंत्रता का महत्व समझ लिया तथा जनता-अधिकारों के प्रति सजग होकर राष्ट्रीय आन्दोलनों में संलग्न हुई । सन १९२१ में गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया । सैनिक-शक्ति से हीन भारत ने सर्वप्रथम गांधी जी के नेतृत्व में विदेशी शासन तन्त्र के विरुद्ध असहयोग प्रकट किया । फलत: शासनतंत्र के स्तम्भ कचहरी, सरकारी दफ्तर आदि का बहिष्कार हुआ एवं विदेशी वस्त्रों की होली जलायी गई । पाश्चात्य शिक्षा पद्धति पर आधारित स्कूली शिक्षा का विरोध हुआ । और राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई, किन्तु चौरी चौरा की घटना के उपरान्त इस आन्दोलन को समाप्त कर दिया गया । इन आन्दोलनों के फलस्वरूप जनता अभय तथा निडर हुई तथा उसने अपनी शक्ति को पहचाना । जनता अधिकारों की मांग स्पष्टता से कर रही थी । अंग्रेजों की शोषण-नीति के कारण दैनिक जीवन की सामान्य वस्तुएं -कपड़ा, नमक आदि मंहगा हो गया था । गांधी जी ने नमक - कर का विरोध किया । सन् १९३० गांधी जी की प्रसिद्ध डांडी-यात्रा प्रारम्भ हुई । प्रतिदिन राष्ट्रीय चेतना का विकास तथा प्रसार हो रहा था । सन् १९३५ में स्वायत्तशासन की स्थापना हुई ।

परन्तु भारतीय इससे सन्तुष्ट नहीं हो सके। सन् १६४२ में क्रिप्स योजना प्रस्तुत हुई जो सभी दलों द्वारा अस्वीकृत हुई। भारतीय राष्ट्रीय इतिहास में सन् १६४२ का अत्यधिक महत्व है। क्रिप्स योजना की विफलता के कारण देश में असन्तोष के बादल छा गये। ८, अगस्त, १६४२ को बम्बई में कांग्रेस ने अंग्रेजों से भारत छोड़ने वाला 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित किया था। गांधी जी ने 'करो या मरो' का मूल मंत्र जनता को प्रदान किया था। कांग्रेस कमेटी का कार्य पूर्ण होने के पूर्व ही ६, अगस्त को प्रात:काल ही देश के नेता गिरफ्तार कर लिए गए। फलत: सम्पूर्ण देश में जन-विद्रोह प्रारम्भ हो गया। सरकार ने अत्यधिक निष्ठुरता तथा निर्ममता से इस आन्दोलन का दमन किया। इसी जनक्रान्ति के समय ही में नेता सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में देश को मुक्त कराने के लिए 'आजाद हिन्द फौज' जापान में संगठित हुई थी तथा इसने अंग्रेजों से युद्ध भी किया था। भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील थे। इंगलैंड में लेबर पार्टी जब शक्ति में आई, तो उसकी उदारता तथा भारत की राष्ट्रीय जागृति के फलस्वरूप १५, अगस्त, १६४७को भारत स्वतंत्र हो गया। मुस्लिम लीग के आन्दोलन तथा अंग्रेजों की दुरभिसंधि के कारण भारत अखण्ड न रह सका। उसका एक अंश पाकिस्तान के रूप में परिणत हो गया। इस काल की मुख्य घटनाएं हैं-भारत की स्वतंत्रता तथा पाकिस्तान की स्थापना। स्वतंत्रता के उपरान्त भारत में कांग्रेस-मन्त्रिमंडल सर्वांगीण प्रगति के लिए प्रयत्नशील है।

१८- १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजनीतिक स्थिति की भांति ही भारत की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गयी थी। यह देश संसार का सबसे दरिद्र राष्ट्र माना जाने लगा था। यहां का जन-जीवन अनेक सामाजिक कुरीतियों से आक्रान्त हो रहा था। फलत: भारतीय जनता के नैतिक चरित्र का ह्रास हो चुका था। किन्तु १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही भारत की सामाजिक स्थितिमें परिवर्तन के लक्षण प्रकट होने लगे। इसका एक महत्वपूर्ण कारण है शासनतंत्र में परिवर्तन। यातायात, प्रेस यंत्र की सुविधा प्राप्त हो जाने के कारण भारतीयों का सम्पर्क पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से हो गया फलत: उनके रूढ़िवादी दृष्टिकोण में परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगत होने लगे। इसके अतिरिक्त, ईसाई मिशनरी, ब्रह्मसमाज, आर्य समाज, तथा कांग्रेस के प्रयत्नों के कारण भारतीयों की सुप्त चेतना जागृत हुई। ब्रह्म समाज का सम्बन्ध हिन्दी प्रदेश सेनहीं है। इसलिए उसकी चर्चा नहीं की जा रही है। स्वामी दयानन्द ने सन् १८७५ आर्यसमाज की स्थापना की। भारतीयों ने अपनी विस्मृत संस्कृति को जाना तथा जनता ने अंध-विश्वास तथा रूढ़ियों से मुक्ति प्राप्त

की । इसने हिन्दुओं को विधर्मी होने से ही नहीं बचाया, प्रत्युत विधवा-विवाह निषेध, बालविवाह, कर्मकाण्ड एवं अन्धविश्वासों का खंडन किया । आर्य समाज द्वारा प्रस्तुत सुधार, कार्यक्रम कुछ संशोधन के साथ कांग्रेस के कार्यक्रम के अंग बन गए । गांधीजी ने कुरीतियों तथा कुप्रथाओं के विरुद्ध सशक्त स्वर ही नहीं उठाया, प्रत्युत राष्ट्र की शक्ति को पहचाना था तथा ग्रामीण समस्याओं की ओर दृष्टि-पात किया था । ग्राम्य में जमींदारी प्रथा के कारण कृषक की स्थिति करुण तथा दयनीय हो रही थी । धनाभाव तथा लगान के कारण वह महाजन के शोषण चंगुल में फंसता जा रहा था । भूमि सम्पन्न कृषक भूमिहीन होकर मजदूरी करने के लिए विवश था । शहर में मजदूरी कर वह पूंजीवादी व्यवस्था का शिकार हो रहा था । गांधीजी ने आर्थिक, सामाजिक शोषण के विरुद्ध जनता की आवाज
(१९१-क) गांधी प्रश्न की
उठाई । राष्ट्रीय आन्दोलनों के फलस्वरूप श्रमिक तथा कृषक की सामाजिक तथा आर्थिक चेतना जाग्रत हो गयी । ट्रेडयूनियन तथा मजदूर यूनियन के द्वारा वे अन्याय का प्रतिकार संगठित रूप से करने लगे ।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त :-

१९- स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त भारत की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया । शिक्षा के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई है । स्थान-स्थान पर नए स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय आदि स्थापित किए गए । आज यहां की जनता की सामाजिक चेतना सजग हो चुकी है । सरकार तथा अनेक सामाजिक संस्थाओं के द्वारा प्रत्येक वर्ग के सामाजिक तथा आर्थिक उत्थान के लिए प्रयत्न हो रहा है । सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति की है । शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति दृष्टिगत हो रही है । भारत के सभी प्रांतों में विश्वविद्यालयों, कॉलेजों, कृषि-कॉलेजों तथा औषधीय कॉलेजों, तकनीकी विद्यालयों, स्कूलों आदि की स्थापना हो गयी है । भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थिति अभी संतोषप्रद नहीं है यद्यपि पहले की अपेक्षा अच्छी है ।

प्रथम मौलिक उपन्यास

२०- हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती' है जिसका रचना-काल सन् १८७७ के लगभग और प्रकाशन-काल सन् १८८७ के लगभग है । इसके पूर्व ~~मुंशी ईश्वरीप्रसाद तथा~~ मुंशी ईश्वरीप्रसाद तथा मुंशी कल्याणराय कृत 'वामा शिक्षक अर्थात् दो भाई और चार बहनों की कहानी' :१८७२: तथा

भारतेन्दु हरिश्चन्द :१८५०-१८८५: कृत "पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा" :१८८६: नामक उपन्यास प्राप्त होते हैं। "वामा शिक्षक अर्थात् दो भाई और चार बहनों की कहानी "यह भारतीय ढंग का प्रथम उपन्यास है। उपन्यासकार ने इसे अनूदित उपन्यास नहीं स्वीकार किया है किन्तु मुझे साहित्यिक गोष्ठी में इसकी बंगला प्रति के कुछ अंश सुनने को मिल चुके हैं। अतएव इसे हिन्दी का उपन्यास समझना उचित नहीं है तथा "पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा" भी मराठी उपन्यास के आधार पर अनूदित सामाजिक उपन्यास है।[1] इसे हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानना उचित नहीं प्रतीत होता। "भाग्यवती" को ही हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास मानना समीचीन होगा। परन्तु शिल्प की दृष्टि से यह प्राचीन कथा-शैली में प्रस्तुत हुआ है। इसके कथानक में कहीं-कहीं स्वाभाविकता दृष्टिगत होती है। "भाग्यवती" शिक्षाप्रद कथा तथा उपन्यास की मध्यवर्ती श्रृंखला है। इसमें भाग्यवती के माध्यम से नारियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा दी गई है। इसके अनन्तर लाला श्रीनिवासदास का "परीक्षा गुरु" :१८८२: प्रकाशित हुआ है जिसे हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास स्वीकार किया गया है।[2] यह नवीन पद्धति का उपन्यास है जिसमें सर्वप्रथम यथार्थ-चित्रण दृष्टिगत होता है।

उपन्यास-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : सन् १८७७-१९५५:

२१- उपन्यास हिन्दी साहित्य की समृद्ध धारा है। आज बृहत संख्या में उपन्यास लिखे जा रहे हैं। विषय की दृष्टि से भी विभिन्न प्रकार के उपन्यास प्राप्त होते हैं। किन्तु यहां हम आलोच्य विषय के अनुसार

१- सम्पादक - धीरेन्द्र वर्मा : "हिन्दी साहित्य कोश", १९६३, वाराणसी, पृ० ३८३

२- "अब तक नागरी और उर्दू भाषा में अनेक तरह की अच्छी-अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं, परन्तु मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गई, इसलिए अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी, परन्तु नई चाल होने से ही कोई चीज अच्छी नहीं हो सकती।"

—श्रीनिवास दास : "परीक्षा गुरु" निवेदन।

उन्हीं उपन्यासों की चर्चा करेंगे, जिनका शिल्प की दृष्टि से महत्व है। यहाँ संक्षेप में उपन्यासों की सामान्य प्रवृत्तियाँ तथा हिन्दी उपन्यास का इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है।

२२- उपन्यासों की परम्परा के अभाव में निर्माण कालीन उपन्यासकारों को अत्यधिक श्रम करना पड़ा। उन्होंने सर्वप्रथम उपन्यास का ढांचा प्रस्तुत किया, जिसमें कालान्तर में सजीव चित्र तथा रंग भरे गए। हिन्दी उपन्यास के प्रथम चरण में सुधारवादी उपन्यास दृष्टिगत होते हैं जो उस युग की देन है। भारतेन्दु युग जागरण-का काल है। हिन्दी साहित्यकार ने दूषित सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था, कुरीतियों तथा कुप्रथाओं के विरुद्ध लेखनी उठाई थी। इन उपन्यासकारों ने सुधार-भावना से अनुप्राणित होकर सामाजिक उपन्यासों का प्रणयन किया जिनमें प्रमुख हैं - राधाकृष्णदास :१८६५-१९०७: कृत "निस्सहाय हिन्दू :१८९०:, बालकृष्ण भट्ट :१८४४-१९१४: कृत "सौ अजान और एक सुजान":१८९२: तथा मेहता लज्जाराम शर्मा का "आदर्श हिन्दू" :१९१५: आदि। शिल्प की दृष्टि से ये उपन्यास उल्लेखनीय नहीं हैं। किशोरीलाल गोस्वामी :१८६५-१९३२: के उपन्यास इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि उन्होंने सर्वप्रथम उपन्यासों का सम्बन्ध जीवन से जोड़ा। इसमें कतिपय समस्याओं की झलक दृष्टिगत होती है। आपके सामाजिक उपन्यासों में प्रमुख हैं --"चपला वा नव्य समाज चित्र" :१९०३:, "अंगूठी का नगीना": ? : आदि। इसके अतिरिक्त, आपने सर्वप्रथम ऐतिहासिक रोमांस की सृष्टि की। ऐतिहासिक रोमांस में उल्लेखनीय हैं -- मल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी तथा "तारा वा क्षात्र कुल कमलिनी" :१९०२: आदि। गोस्वामी जी ने सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों की सृष्टि कर प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) तथा वृन्दावन लाल वर्मा (१८८९) के लिए भूमि प्रस्तुत कर दी। निर्माणकालीन उपन्यासों की प्रतिनिधि धारा है तिलस्मी उपन्यास। इस धारा का सूत्रपात देवकीनन्दन खत्री :१८६१-१९१३: हुआ। लोकप्रियता की दृष्टि से "चंद्रकान्ता" :१८८८: तथा "चंद्रकान्ता संतति" :१८९६: का स्थान सर्वोपरि है। इसने कितने ही अहिन्दी भाषा-भाषियों को हिन्दी सीखने के लिए विवश कर दिया। कल्पना की अबाध क्रीड़ा होने के कारण इनका शिल्प कुतूहलवर्धक तथा विलक्षण है। निर्माण-काल में जासूसी उपन्यास भी लिखे गए हैं। इसका सूत्रपात गोपालराम गहमरी :१८६६-१९४६: के उपन्यासों

से हुआ था । तिलस्मी उपन्यासों की अपेक्षाकृत ये उपन्यास अधिक यथार्थवादी हैं ।

२३- हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में प्रेमचन्द :१८८०-१९३६:का योगदान उल्लेखनीय है । प्रेमचन्द ने "सेवासदन" :१९१८: द्वारा हिन्दी उपन्यास के उज्ज्वल भविष्य का उद्घोष किया । वास्तव में यहां से हिन्दी उपन्यास का द्वितीय उत्थान प्रारम्भ होता है । इस काल के उपन्यास गांधीवाद से प्रभावित थे । इस काल में अनेक पारिवारिक,सामाजिक तथा राजनीतिक उपन्यास लिखे गये जिनमें प्रमुख हैं - प्रेमचन्द :१८८०-१९३६:कृत "रंगभूमि" :१९२६:,"कर्मभूमि" :१९३२:,"गोदान" :१९३६:,जयशंकर प्रसाद :१८८९-१९३७:का "कंकाल" :१९२९: तथा "तितली" :१९३४: विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक :१८९१-१९४५:कृत "भिखारिणी" :१९२९:,"माँ" :१९२९: तथा भगवतीचरण वर्मा :१९०३: कृत "चित्रलेखा" :१९३४: ।प्रेमचन्द एक प्रगतिशील उपन्यासकार हैं । उनका अन्तिम उपन्यास "गोदान" :१९३६: शिल्प की दृष्टि से सराहनीय है । वास्तव में शिल्प की दृष्टि से यह एक उत्कृष्टतम उपन्यास है । प्रेमचन्दकाल ही में उपन्यासकारों का एक वर्ग यथार्थवाद के नाम पर प्रकृतवादी उपन्यासों का प्रणयन कर रहा था । जिसकी संज्ञा कालान्तर में घासलेटी साहित्य हो गई । इन उपन्यासकारों की दृष्टि इतनी पैनी न थी कि वे समाज में व्याप्त अनाचार पर करारा व्यंग्य कर पाते । उपन्यासकार कोठों का चित्रण करते-करते उसी में रम गया । चतुरसेन शास्त्री :१८९१-१९६०: कृत "व्यभिचार" :१९२४: बेचनशर्मा उग्र :१९०७ :कृत "दिल्ली का दलाल" :१९२७: ,ऋषभचरण जैन: १९१२ कृत "वेश्यापुत्र" :१९२९: तथा "दुराचार के अड्डे" :१९४०: आदि ऐसे ही उपन्यास हैं । इनका शिल्प की दृष्टि से महत्त्व नगण्य है । इस काल में विभिन्न प्रकार के उपन्यासों की सृष्टि होने लगी थी । ऐतिहासिक रोमांस का प्रारम्भ निर्माण काल में ही हो गया था । किन्तु इस काल में देश-काल की दृष्टि से सफल ऐतिहासिक उपन्यास तथा रोमांस का प्रणयन हुआ । सन् १९२९ में वृन्दावनलाल वर्मा ने "गढ़कुण्डार" की रचना कर विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास का सूत्रपात किया। यह क्षीणकाय धारा कालान्तर में विभिन्न उपन्यास रूपी धाराओं के संयोग से विशालकाय हो रही है । आज हिन्दी में अनेक शिल्प की दृष्टि से सफल-ऐतिहासिक तथा (ऐतिहासिक रोमांस) उपन्यास उपलब्ध होते हैं जिनमें उल्लेखनीय हैं -- वृन्दावनलाल वर्मा :१८८९: कृत "विराटा की पद्मिनी" :१९३६:,"मृगनयनी" :१९५०:,

सत्यकाम विद्यालंकार :१९०३: का 'आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य' :१९५४: तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी :१९०७: कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' :१९४६: आदि । ऐतिहासिक उपन्यासों की भांति ही इस काल में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का भी श्रीगणेश हुआ । 'परख' :१९२९: द्वारा जैनेन्द्र :१९०५: ने जिस मनोवैज्ञानिक धारा का प्रवर्तन किया वह आज विभिन्न मनोवैज्ञानिक विषय रूपी नदियों तथा नवीन शिल्पगत प्रयोग रूपी नद से समृद्ध तथा सशक्त हो रही है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों ने अन्तश्चेतन मस्तिष्क में स्थित कुंठाओं का चित्रण कर नवीन क्षितिज का उद्घाटन कर दिया । इन उपन्यासों का शिल्प भी पूर्ववर्ती उपन्यासों से सर्वथा भिन्न है । शिल्प की दृष्टि से अज्ञेय :१९११: कृत 'शेखर : एक जीवनी' भाग, १-२ क्रमशः (१९४[illegible] तथा १९४४):, जैनेन्द्र के 'सुखदा' :१९५२: तथा 'विवर्त' :१९५३: तथा इलाचन्द्र जोशी कृत 'जहाज का पंछी' :१९५५: आदि महत्वपूर्ण उपन्यास हैं ।

२५- सन् १९३६ के उपरान्त उपन्यास के क्षेत्र में परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगत होने लगते हैं । 'गोदान' :१९३६: का शिल्प ही प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: के अन्य उपन्यासों से भिन्न है । इसमें आदर्शवाद के प्रति वह आग्रह भाव नहीं है जो उनके उपन्यासों में दृष्टिगत होता है । इसका अन्त यथार्थवादी है । सन् १९३६ के उपरान्त भी, प्रेमचन्दीय उपन्यास लिखे गए परन्तु वह धारा क्षीण हो गई थी । प्रगतिवादी उपन्यास ही इस काल के प्रतिनिधि साहित्य हैं । प्रगतिवाद वस्तुतः मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा है । इस धारा का सूत्रपात यशपाल :१९०३: कृत 'दादा कामरेड' :१९४१: से हुआ है । इसके अनन्तर अनेक प्रगतिवादी उपन्यास लिखे गये जिनमें से शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं - यशपाल :१९०३: का 'मनुष्य के रूप' :१९४९:, मन्मथनाथ :१९०८: का 'दुश्चरित्र' :१९४९:, नागार्जुन :१९१०: का 'बाबा बटेसरनाथ' :१९५४: तथा रांगेयराघव :१९२३-१९६२: कृत 'हुजूर' :१९५२: एवं मन्मथनाथ गुप्त :१९०८: का 'बहता पानी' :१९५५: आदि । प्रचारात्मकता के आधिक्य के कारण कम प्रगतिवादी उपन्यास सफल हुए हैं । उपन्यासकारों के एक वर्ग ने इस काल में यथार्थवादी उपन्यासों का सृजन किया। इन यथार्थवादी उपन्यासों का शिल्प प्रकृतवादी उपन्यासों की तुलना में श्रेष्ठतर है । अमृतलाल नागर :१९१६: का महाकाल :१९४७: तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' :१९१०: का 'बड़ी बड़ी आंखें' : १९५४ : शिल्प की दृष्टि से सफल प्रयोग हैं ।

२५- आज हिन्दी उपन्यास-साहित्य विभिन्न पगडण्डियों की ओर अग्रसर हो रहा है। आज व्यंग्य तथा हास्य उपन्यास लिखे जा रहे हैं। व्यंग्य-उपन्यासों में जयशंकर प्रसाद :१८८९-१९३७: का "कंकाल" :१९२९: तथा रांगेय राघव :१९२३-१९६२: का "हुजूर" :१९५२: उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार हास्य उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं परन्तु इनका शिल्प सामाजिक, उपन्यासों से भिन्न नहीं है। सन् १९५२ से आलोच्यकाल ५५ तक विभिन्न प्रकार के शिल्पगत मौलिक प्रयोग हुए हैं जिनमें उल्लेखनीय हैं -फणीश्वरनाथ रेणु :१९२१: का "मैला आँचल" :१९५४:। "गोदान" :१९३६: की भांति यह भी मीलस्तम्भ है। इसका शिल्प पूर्ववर्ती उपन्यासों से सर्वथा भिन्न है। निर्माणकालीन उपन्यास शिशु के लड़खड़ाते चरण अब स्थिर हो नहीं हुए हैं प्रत्युत वे सबल तथा शक्ति सम्पन्न होकर नवीन पथ की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

निष्कर्ष :-

२६- साहित्य का उत्कृष्टतम रूप है उपन्यास। यह यूरोपा संस्कृति की महानतम देन है। १९ वीं शताब्दी में जब व्यक्तिवाद का विकास हुआ - तब उपन्यास साहित्य का जन्म हुआ। हिन्दी में भी भांति-भांति के उपन्यास लिखे जा रहे हैं। आज भी तिलस्मी, जासूसी तथा सस्ते प्रेम-उपन्यास लिखे जाते रहे हैं परन्तु इनका साहित्यिक मूल्य नगण्य है। हिन्दी पाठक अब इतना सजग, जागृत तथा परिष्कृत रुचि का हो गया है कि स्वच्छन्दतावादी तथा पलायन-वादी साहित्य से उसका मनोरंजन नहीं हो सकता। उपन्यास में वह जीवन की समस्याओं, कठिनाइयों तथा संघर्षों का चित्रण देखना चाहता है। यह संघर्ष सजीव तथा जीवन्त होना चाहिए। चलचित्र में दर्शक पात्रों को प्रत्यक्ष संघर्ष करते देखता है, उनके वार्तालाप को सुनता है किन्तु उपन्यास में शब्दों द्वारा पात्र का संघर्ष चित्रित होता है। किन्तु इसमें इतनी शक्ति होती है कि उपन्यास के पात्र चलचित्र अथवा नाटक के पात्र की अपेक्षा अधिक सजीव तथा जीवन्त प्रतीत होते हैं। इसमें जिस आत्मीयता तथा निश्छलता के साथ पात्र-चित्रण होता है, वह साहित्य के अन्य रूपों द्वारा संभव नहीं है। इसी कारण इसके पठ से जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वह भी साहित्य के अन्य रूपों द्वारा संभ

नहीं है । इसमें वस्तुत: आश्रित का संघर्ष ही नाम रूप परिवर्तित करके कथात्मक (तथा कल्पनात्मक) रूप में व्यक्त होता है ।

२७- उपन्यास के क्षेत्र में आलोच्यकाल १९५५ के उपरान्त नाना प्रकार के शिल्पगत प्रयोग हो रहे हैं, जो इसके द्योतक हैं कि उपन्यासकार जहां इनमें नवीन समस्याओं तथा चरित्रों को प्रस्तुत करने की ओर प्रयत्नशील हैं, वहां वे इसके कलापक्ष की ओर उदासीन नहीं हैं, राजेन्द्र यादव (?) भगवतीचरण वर्मा : १९०३ :, अज्ञेय : १९११ : रांगेयराघव : १९२३-१९६२ अमृतलाल नागर : १९१६ : प्रभाकर माचवे (?), नरेश मेहता (?) आदि के उपन्यासों में विषय-वस्तु तथा शिल्पगत नवीनता दृष्टिगत होती है । इनमें अभिनव चरित्र भी प्रस्तुत हुए हैं । इनमें अधिक महत्वपूर्ण है- इनका शिल्प। उपन्यासकारों ने प्रस्तुतीकरण शिल्प के महत्त्व को समझा । हिन्दी उपन्यास ने ७७ वर्षों में जो प्रगति तथा उन्नति की है, वह इसके उज्ज्वल भविष्य की द्योतक है ।

अध्याय २

उपन्यासों का वर्गीकरण

१- सामान्यत: प्रत्येक उपन्यास का एक निश्चित आकार-प्रकार होता है जो अन्य उपन्यास से भिन्न हुआ करता है । अतएव उपन्यासों की रूप एवं विषयगत विशिष्टता स्पष्ट है । इस विशिष्टता एवं विभिन्नता के बावजूद कुछ उपन्यासों में स्वरूपगत साम्य दृष्टिगत होता है । इसी साम्य अथवा वैषम्य की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण हो सकता है । एडविन म्योर ने उपन्यासों का वर्गीकरण इस दृष्टि से किया है कि वे सरलता से पहचान लिए जायें।[1] उन्होंने उपन्यासों का वर्गीकरण निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया है —

१- घटना तथा चरित्र प्रधान उपन्यास

२- नाटकीय उपन्यास

३- वृत्त उपन्यास

४- कालिक उपन्यास

यह वर्गीकरण किसी विशिष्ट सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, यद्यपि उपन्यासों के प्रचलित रूपों की विवेचना इन शीर्षकों के अन्तर्गत हो गई है । अतएव यह वर्गीकरण पूर्ण नहीं प्रतीत होता है ।

२- हिन्दी में प्राय: कथा, चरित्र तथा भावना की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाता है । ~~किन्तु यह उपन्यास शिल्प पर पूर्णत: आधारित नहीं है ।~~ इसके अतिरिक्त, कथानक, पात्र, वर्ण्यविषय, काल, शैली तथा उद्देश्य की दृष्टि से भी उपन्यासों का वर्गीकरण उपलब्ध होता है । यह वर्गीकरण अपने आप में पूर्ण है । परन्तु यह उपन्यास-शिल्प पर पूर्णत: आधारित नहीं है । वर्ण्यविषय की दृष्टि से जो वर्गीकरण होगा उसका शिल्प की दृष्टि से महत्त्व न होगा । सामाजिक उपन्यास के अन्तर्गत आदर्शवादी, व्यक्तिवादी, प्रगतिवादी आदि उपन्यास आ जायेंगे, जिनके शिल्प में मौलिक अन्तर है । इसी

१- एडविन म्योर : 'दी स्ट्रक्चर आफ दी नावेल' : १९५७, लंदन, सातवां संस्करण, पृ० ७ ।

प्रकार काल की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण करना समुचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि काल की दृष्टि से उपन्यासों का ऐतिहासिक अध्ययन हो सकता है, वर्गीकरण नहीं ।

३- इस अध्याय में चेष्टा की गयी है कि उपन्यासों का वर्गीकरण अथवा कोटि निर्धारण विशिष्ट सिद्धान्तों के आधार पर किया जाये । यहां हम केवल शिल्प की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण करने की चेष्टा करेंगे । उपन्यास-शिल्प के प्रमुख तत्वों के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है -

१- कथानक-प्रधान अथवा कथानक की दृष्टि से
२- चरित्र-प्रधान अथवा चरित्र की दृष्टि से
३- दृष्टिकोण के आधार पर
४- परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से
५- प्रस्तुतीकरण शिल्प की दृष्टि से

कथानक प्रधान या घटनामूलक उपन्यास

४- कथानक प्रधान उपन्यासों में कथानक का ही प्राधान्य होता है । उपन्यास-शिल्प के अन्य उपकरण इनमें नगण्य होते हैं । उपन्यास के विकास-काल में ऐसे उपन्यास बहुलता से लिखे गए । इन उपन्यासों को हम घटनामूलक उपन्यास भी कह सकते हैं । उपन्यास के विकास में इन उपन्यासों का महत्वपूर्ण योगदान है । घटनामूलक उपन्यासों में सरल, स्वाभाविक तथा जटिलता विहीन ~~जीवन का~~ जीवन का चित्रण होता है । इस कारण कुछ व्यक्ति इसे श्रेष्ठ समझते हैं । किन्तु इनकी सफलता उपन्यासकार की इस शक्ति में निहित है कि रोचक परिस्थितियों का चित्रण इतनी दक्षता के साथ करे कि पाठकों की कल्पना उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके, वे उस क्षण के लिए कहानी के पात्रों के साथ एकाकार हो जांय और वे उसके साहसिक कृत्यों का पात्रवत् रसास्वादन करें । घटनामूलक उपन्यासों में केवल घटनाओं का प्राधान्य होता है । इसमें तुच्छ घटनाओं का असाधारण परिणाम होता है । एक घटना अनन्त घटनाओं का जाल बुन सकती है जिसका

अन्त में चमत्कारिक ढंग से उद्घाटन होता है।[1] उनका कथानक कल्पना के अतिरेक के कारण स्वच्छन्दतावादी होता है। वह शिथिल भी होता है। इन उपन्यासों का लक्ष्य निरन्तर विस्मय तथा कुतूहल-भावना को सतत जाग्रत तथा सन्तुष्ट करना होता है। इसी कारण उपन्यासों के पात्र मनुष्य होते हुए भी न तो सामाजिक प्राणी हैं और न स्वतंत्र व्यक्तित्वसम्पन्न ही। वे केवल भाग्य तथा परिस्थिति-जन्य घटनाओं के शिकार हैं। वे अनेक कुतूहलजनक तथा विलक्षण कृत्य करते हैं। इस वर्ग के उपन्यासों के नायक या प्रमुख पात्र किसी पात्र की सहायता करता है। इस प्रयत्न में अथवा संयोगवश वह स्वयं विपत्ति में फंस जाता है। इसमें नायक को पलायन भी करना पड़ता है किन्तु इस पलायन का सुरक्षित होना अपरिहार्य है। संक्षेप में इन उपन्यासों का कथानक हमारी इच्छाओं के अनुरूप होता है, ज्ञान के नहीं।[2] दुष्ट पात्रों का वध अन्त में हो जाता है तथा कुछ सत्पात्र भी बलि हो जाते हैं। अन्त में नायक सुरक्षित रूप में सफल होकर वापिस आता है। इन उपन्यासों में चरित्र, कथोपकथन, परिप्रेक्ष्य आदि का महत्व नहीं होता। कथानक की प्रगति के लिए ये साधन मात्र हैं। घटनामूलक उपन्यास वस्तुतः लेखक की इच्छाओं का काल्पनिक मूर्तिविधान हैं। ये अनेक प्रकार के होते हैं, यथा-

१- तिलस्मी उपन्यास
२- जासूसी उपन्यास
३- साहसिक उपन्यास
४- प्रेमाख्यानक उपन्यास
५- पौराणिक उपन्यास

१- एडविन म्यौर :' द स्ट्रक्चर ऑफ दी नॉवेल ': १९५७, लंदन, सा०सं० पृ० २०।

५- निर्माणकालीन हिन्दी-उपन्यासों की प्रतिनिधि धारा तिलस्मी उपन्यास है। देवकीनन्दनखत्री :१८६१-१९१३: के, 'चन्द्रकान्ता' :१८८८:, 'चन्द्रकान्तासंतति' :१८९६: से प्रभावित होकर कितने ही व्यक्तियों ने हिन्दी सीखी। खत्री जी ही इस धारा के प्रवर्तक हैं। आपने तिलस्मइ होशरुबा से प्रेरणा ग्रहण की थी परन्तु इसका बीज तथा विकास पूर्णतः भारतीय है। तिलस्म से सम्बद्ध होने के कारण ये उपन्यास तिलस्मी संज्ञा के अधिकारी हुए। तिलस्म एक प्रकार का रहस्यमय कोषागार है जिसकी रचना तिलस्मी सिद्धान्तों के आधार पर हुई है। अनेक पक्ष के व्यक्ति उसे खोजते हैं - उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न के कारण अनेक अलौकिक चमत्कार दृष्टिगत होते हैं क्योंकि तिलस्म रहस्यागार है। अनेक चमत्कारिक ढंगों और साधनों से व्यक्ति अपरिचित रहस्यमय स्थान में पहुंच जाता है जहां वह बन्दी बन जाता है। परन्तु उसे भोजन अत्यक्तरूप से प्राप्त हो जाता है, वह अपने सहयोगियों के प्रयत्न से मुक्त होता है। किन्तु मुक्त होते ही वह पुनः नवीन आपत्ति के जाल में फंस जाता है। यह क्रम निरंतर चलता रहता है। परन्तु तिलस्म वही व्यक्ति खोल सकता है जिसके लिए वह पूर्वजों से अर्जित है। इसके खोलने की विधि एक पुस्तक में लिखी रहती है जिसे शत्रु पक्ष के व्यक्ति लुप्त कर लेते हैं। अन्त में यह पुस्तक नायक को प्राप्त होती है उसी की सहायता से तिलस्म टूटता है। शिल्प की दृष्टि से तिलस्मी उपन्यासों के कथानक जटिल होते हैं, मानो की तो सात वलाएं होती हैं, किन्तु इनमें अगणित कथाओं की वल्लाएं लिपटी रहती हैं। इन्हीं के कारण उपन्यास रोचक तथा कुतूहलवर्द्धक होता है। इन उपन्यासों में तिलस्म के अतिरिक्त प्रेम-कथाएं भी प्राप्त होती हैं। नायक-नायिका में परस्पर प्रेम हो जाता है। किन्तु इस पथ में बाधक हैं उनके अभिभावक तथा नायक के अन्य प्रेमी-प्रेमिका। प्रत्येक पक्ष के स्त्री-पुरुष ऐयार अपने पक्ष को सफल बनाने के लिए प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार संघर्ष का श्रीगणेश हो जाता है। उपन्यास में प्राप्त्याशा जैसी परिस्थिति दृष्टिगत होने लगती है। किन्तु विरोधी पक्ष के कारण आशा हथेली में आकर जल की बूंद सी फिसल जाती है[१]। इसी कारण कथानक में कुतूहल तथा

१- देवकीनन्दन खत्री : चन्द्रकान्ता : लहरी बुकडिपो, बनारस, १९३२, पी० डि० पृ० ३, १३ आदि

उत्सुकता बनी रहती है। भविष्य में क्या होगा, ऊँट किस करवट बैठेगा, इसकी सम्भावना बनी रहती है। यह क्रम तब तक चलता है जब तक कि तिलस्म टूट न जाए, तथा समस्त विरोधियों का शमन न हो जाए।

जासूसी उपन्यास

६- घटनामूलक उपन्यासों में जासूसी-उपन्यासों का योगदान उल्लेखनीय है। तिलस्मी-उपन्यासों की अपेक्षा इनमें यथार्थ-चित्रण अधिक हुआ है। इस धारा के प्रवर्तक गोपालराम गहमरी :१८६६-१९५६: हैं। इन्होंने कीक और शारलाक के उपन्यासों से प्रेरणा ग्रहण कर सर्वप्रथम हिन्दी में जासूसी उपन्यास लिखे थे। आपने पाश्चात्य तथा बंगला जासूसी-उपन्यासों का भी अनुवाद किया। गहमरी जी ने अनेक मौलिक उपन्यास भी लिखे, यथा- 'जमींदारों का जुल्म घटनाघटाटोप :१९३९:, 'होली का हरभौंग उर्फ भयानक भंडाफोड़ :१९३८:, 'जासूस' :१, जुलाई १९१४- जून, १९१५:' अद्भुत लाश' :१८९६:, 'ठनठन गोपाल' :द्वि०सं० १९४६ : 'हंसराज की डायरी' : ? :, 'प्रोफेसर भोंदू' : ? : प्रभृति। उनका उपन्यास-शिल्प प्रारंभ से अन्त तक एक रहा। अन्य उपन्यासकारों की भांति उनके उपन्यासों में शिल्पगत विकास नहीं दृष्टिगत होता।

७-जासूसी-उपन्यासों का सम्बन्ध मार-काट, हत्या, रक्तपात, चोरी-डकैती की रहस्यपूर्ण घटनाओं से होता है। जासूस की सहायता से वास्तविक अपराधी का अन्वेषण होता है। जासूसी उपन्यासों के प्रारम्भ में हम देखते हैं कि चोरी, डकैती या रहस्यपूर्ण हत्या की सूचना से अवगत होकर जासूस घटनास्थल पर जाकर सूक्ष्म निरीक्षण करता है।[१] इसी के द्वारा वह कुछ निष्कर्ष पर पहुंचता है।

शेष- देवकीनन्दन खत्री: 'चन्द्रकान्ता संतति' :~~लहरी बुकडिपो, बनारस~~, चौ०सं० तेरहवां हिस्सा, १९५४: का०(नि: १९क. नि.) पृ० ३५, ५८ आदि।

१- गोपालराम गहमरी : 'गेरुआ बाबा' : सं० ? पृ० ११।

,, ,, : 'ठनठन गोपाल' : किo पुo, इलाहाबाद, द्वि०सं० १९४६ (१९४६:), पृ०२२, २३, २४आदि।

,, ,, : 'होली का हरभौंग' : जा०आ०कार्यालय, १९३८ (१९३८), पृ० १७

,, ,, : 'ठनठन गोपाल' : कि०पु०, इलाहाबाद, द्वि०सं०, १९४६ (१९४६), पृ० ५९-६०, ६२, १४३-१४५ आदि।

वह खोज प्रारम्भ करता है। कभी-कभी निर्दोष व्यक्ति अपराधी प्रतीत होता है। परन्तु भ्रम-निवारण हो जाता है। जासूस अपने प्रयत्न में रत रहता है। ऐसी स्थिति में वह संकट में फंस जाता है परन्तु उसे संकट से मुक्त होना ही होता है। अन्त में वास्तविक अपराधी का रहस्योद्घाटन हो जाता है। जासूस की सहायता से नीर-क्षीर न्याय होता है। शिल्प की दृष्टि से, वही जासूसी-उपन्यास सफल तथा उल्लेखनीय है जो स्वाभाविक तथा यथार्थवादी प्रतीत होता है। हिन्दी में ऐसे जासूसी उपन्यास नहीं लिखे गये।

साहसिक उपन्यास

८- साहसिक उपन्यास कथानक-प्रधान होता है। इनमें तथा जासूसी उपन्यासों में अन्तर है। इन उपन्यासों में भी डाके पड़ते हैं, जासूस डाकुओं को पकड़ने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं तथा वे भी उन्हें पकड़ने का यत्न करते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों के कथानक में साहस तथा वीरता का समावेश हो जाता है। साहसिक उपन्यास में नायक के वीरतापूर्ण तथा साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन होता है। उच्चकोटि के साहसिक उपन्यासों का हिन्दी में अभाव है। प्रारम्भिक काल में अवश्य कुछ ऐसे उपन्यास लिखे गए थे, किन्तु उनका साहित्यिक मूल्य नगण्य है। पात्रों की प्रकृति को देखते हुए ये तीन प्रकार के उपन्यास दृष्टिगत होते हैं —

:१: इस श्रेणी के अन्तर्गत वे उपन्यास आते हैं जिनमें डाकू डाके डालते हैं पर उनका लक्ष्य सत् तथा उदात्त होता है। इनके कथानक में डाकू की वीरता तथा सिद्धान्तप्रियता पर प्रकाश डालने का सफल यत्न होता है। किन्तु अन्त में डाकू की पराजय निश्चित है। जासूस अपने यत्न में सफल होता है भले ही इसके लिए संयोग का आश्रय लिया गया है। ये डाकू सामान्य डाकू से भिन्न होते हैं। अत्याचारी से निरीह जनता की रक्षा करना इनका व्रत होता है।[१] देश-काल, संवाद तथा वातावरण कथानक की आवश्यकता के अनुरूप ही होता है।

१- चन्द्रशेखर पाठक : "अमीर अली ठग या ठग वृत्तांत" : १९११, कलकत्ता: पृ० ५८, ६१ आदि।

:२: इस प्रकार के साहसिक उपन्यासों में डाकुओं का लक्ष्य उदात्त नहीं होता, इनका कंचन तथा कामिनी के प्रति मोह अपरिमित है। डाकू साहसी तथा निर्भीक होते हैं। ये पिस्तौल तथा क्लोरोफार्म का प्रयोग करते हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं। इन उपन्यासों में डाकुओं का एक झुंड डाके डालता है, चोरी करता है। जासूस तथा डाकुओं में परस्पर प्रतियोगिता-सी होती है। कभी-कभी जासूस डाकुओं के पंजे में पड़ जाता है पर अवसर मिलते ही भाग जाता है। जासूस भी निरन्तर क्रियाशील रहता है। वे उनके समूह में सम्मिलित होकर पकड़ने में समर्थ होता है अथवा किसी डाकू को स्वपक्ष में कर अपने प्रयत्न में सफल होता है। 'खूनी जवानी': ? : तथा 'काला अँगूठा': ? : आदि ~~सीरीज~~ में ऐसे ही उदाहरण मिलते हैं।

:ख: रहस्यपूर्ण साहसिक उपन्यासों में नायक सभ्य समाज का व्यक्ति होता है जो गुप्त रीति से हत्याकारी षड्यन्त्र किया करता है। ये षड्यंत्र कंचन तथा कामिनी के लिए ही हुआ करते हैं। छद्मवेषी सभ्य व्यक्ति की पराजय केवल इसलिए होती है कि वह प्रेम की उलझनों में फंसा रहता है। "वैज्ञानिक डाकू" : ? : तथा "राजदुलारी" : ? : आदि ऐसे ही उपन्यास हैं।

:३: तृतीय वर्ग के साहसिक उपन्यास वास्तव में क्रान्तिकारी उपन्यास के संनिकट हैं। इनमें भारत को स्वतंत्र कराने के लिए अनेक गुप्त संस्थाओं का आयोजन होता है। इनमें पात्रों का साहस तथा वीरता का चित्र प्रस्तुत होता है। दुर्गाप्रसाद खत्री रचित "लाल पंजा":१९२७: तथा "सुफेद शैतान":१९३५: ऐसे ही उपन्यास हैं। निर्जन स्थानों में गुप्त सभाएं होती हैं गिरफ्तार साथियों को छुड़ाने का प्रयत्न भी होता है।

प्रेमाख्यानक उपन्यास

१- प्रेमाख्यानक काव्य की भांति ही इनका कथानक विविध प्रेम-प्रसंगों से निर्मित होता है। इस वर्ग के उपन्यासों की दो परम्पराएं दृष्टिगत होती हैं। प्रथम वर्ग के उपन्यासों की परम्परा विशुद्ध भारतीय है तथा गीति-काव्य के नायक-नायिका परम्परा से अनुप्राणित है। किशोरीलाल गोस्वामी :१८६५-१९३२: के उपन्यास "रत्नचन्द्र प्लीडर : ? : एवं "नूतन चरित्र":१९२२:इसी वर्ग के

उपन्यास हैं। दूसरे वर्ग के उपन्यासों में फारसी-काव्य परम्परा दृष्टिगत होती है। नायक को नायिका की प्राप्ति के लिए असाध्य कार्य करने पड़ते हैं। इनमें प्रेम के चित्रण में शोखी, शरारत तथा चुहल आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। रामलाल वर्मा कृत गुलबदन या रजिया बेगम :१९०८:, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव रचित 'गंगाजमुनी' :१९३४: ऐसे ही उपन्यास हैं।

१०- हिन्दी के प्रारम्भिक काल की ये रचनाएं भले ही घटनामूलक उपन्यासों के अन्तर्गत रखी जायँ। किन्तु आज जो भी प्रेम या रोमांस प्रधान उपन्यास लिखे जा रहे हैं, उन्हें इस श्रेणी में रखना कठिन है। आज इनमें हिन्दी या उर्दू की काव्य-परम्परा का चित्रण नहीं होता। इनमें मनोवैज्ञानिकता के साथ-साथ सामाजिक पृष्ठभूमि पर प्रेम की समस्यायें उभरती हैं। अस्तु, इनमें चरित्र-चित्रण का महत्व है। इस कारण इनका शिल्पगत महत्व भी है। अतः इन्हें कथानक प्रधान उपन्यास के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता।

पौराणिक उपन्यास:

११- कुछ विद्वानों ने ऐतिहासिक उपन्यासों को घटनामूलक उपन्यास के अंतर्गत रखा था। परन्तु ऐतिहासिक उपन्यासों में केवल घटना-चमत्कार, कथानक-वैचित्र्य नहीं होता, इसमें चरित्र-चित्रण का भी महत्व होता है। फलतः वह घटनामूलक उपन्यास के अन्तर्गत नहीं आता है। इसके ~~अतिरिक्त~~ विपरीत पौराणिक उपन्यास अवश्य घटनात्मक उपन्यास के अन्तर्गत आ सकते हैं। शिल्प की दृष्टि से सफल पौराणिक उपन्यास हिन्दी में नहीं लिखे गए। जो लिखे भी गए हैं इन्हें 'पुराण कथा' कहना अधिक समीचीन होगा। इनके कथानक में अतिप्राकृत प्रसंगों का समावेश हुआ है।

कथानक के प्रकार की दृष्टि से :-

१२- उपन्यासों का कथानक विभिन्न प्रकार का होता है। कभी उपन्यासकार इतिहास अथवा पुराणप्रसिद्ध घटनाओं से कथानक का निर्माण करता है तो कभी कल्पना के बल पर कथा की सृष्टि करता है। कुछ उपन्यासों के कथानक में दोनों :इतिहास तथा कल्पना: का मिश्रण रहता है। इस दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत हो सकता है -

१- प्रख्यात   २- उत्पाद्य   ३- मिश्रित

प्रख्यात

१३- इसके अन्तर्गत वे समस्त उपन्यास आते हैं जिनका कथानक विश्वविश्रुत है। इनका कथानक इतिहासप्रसिद्ध अथवा पौराणिक होता है। इस प्रकार के उपन्यासों को ऐतिहासिक अथवा पौराणिक उपन्यास के नाम से भी अभिहित करते हैं।

उत्पाद्य

१४- उपन्यास का कथानक लेखक की कल्पना तथा अनुभूति पर आधारित होता है। दूसरे शब्द में लेखक अपनी कल्पना के बल पर जीवन-चित्र प्रस्तुत करता है। इन्हें मौलिक उपन्यास कहते हैं। विषयवस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से इनके अनेक भेद हो सकते हैं यथा- यथार्थवादी, आदर्शवादी, मनोवैज्ञानिक, काल्पनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आदि।

मिश्रित

१५- इसके कथानक का निर्माण प्रख्यात घटना के आधार पर होता है इनके विकास में मौलिक कल्पना का योगदान होता है। ~~इन्हें मिश्रित~~ वैशाली की नगरवधू (१९४९) सफल मिश्रित उपन्यास है।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण

१६- चरित्र-शिल्प उपन्यास का प्राण है। आधुनिक उपन्यासों में कथानक की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर अधिक बल दिया जाता है। कुछ ऐसे उपन्यास भी होते हैं जिनमें चरित्र-चित्रण ही प्रमुख होता है, कथानक नगण्य होता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का एक वर्ग ऐसा ही है।

चरित्रप्रधान उपन्यास

१७- चरित्रप्रधान उपन्यास, कथानकप्रधान उपन्यासों के प्रतिकूल होते हैं। कथानक प्रधान उपन्यासों में तुच्छ घटनाओं का असाधारण महत्त्व होता है। इसके विपरीत वहाँ घटनाएं नगण्य होती हैं। घटनाएं तथा परिस्थितियाँ पात्रों को प्रभावित नहीं कर सकती हैं। वहाँ पात्र घटनाओं, स्थितियों तथा दशाओं के नियामक होते होते हैं। कथानक का कार्य है कि पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करे

कथानक का कार्य प्रत्यक्षत: उनके विकास का अनुरेखण नहीं है क्योंकि स्थिर चरित्र होनेके कारण उनका विकास नहीं हो सकता, किन्तु पात्रों को नवीन परिस्थिति में रख कर उनके परस्पर सम्बन्धों[१] को परिवर्तित करना होता है जिससे वे विशिष्ट प्रकार का आचरण कर सकें। स्पष्टतया इस प्रकार के उपन्यासों में नाना परिस्थितियों एवं विविध प्रकार के तत्वों का आयोजन होता है जिससे कि पात्रों का व्यंग्यात्मक,हास्यपूर्ण अथवा आलोचनात्मक चित्रण सम्भव हो सके। इनके कथानक का कार्य केवल इतना ही है कि वह पात्रों में विद्यमान स्वभावगत विशेषताओं का प्रदर्शन भिन्न भिन्न स्थितियों में रख कर करे, उनके परस्पर असंगत तथा विचित्र व्यवहार का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करे। पात्रों के परस्पर व्यवहार, उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया से कथानक का निर्माण होता है। अतएव इनका कथानक शिथिल होता है।

१८- चरित्र-शिल्प की दृष्टि से इस प्रकार के उपन्यासों की विशेषता है कि इनमें पात्र के सामाजिक तथा वैयक्तिक रूप के वैषम्य का स्पष्टीकरण प्रस्तुत होता है। पात्रों के बाह्य स्वरूप तथा उनकी आन्तरिक वास्तविकता में जो अन्तर तथा वैषम्य होता है उसी का चरित्रप्रधान उपन्यासों में प्रदर्शन होता है।इन उपन्यासों के पात्र अपने सिद्धान्त,मान्यताओं में चट्टान की भांति अचल तथा अडिग होते हैं। जो गुण अथवा दोष पात्रों में प्रारम्भ से दृष्टिगत होते हैं वे अन्त तक वर्तमान रहते हैं।अपरिवर्तनशीलता उनके स्वभाव की विशिष्टता है। कथानक प्रधान उपन्यासों में चरित्र-चित्रण कथानक के अधीन होता है। यहां चरित्र कथानक के अंग नहीं होते, वे स्वतंत्र होते हैं तथा कार्य उनके अधीन होता है। कार्य तथा संवाद के आश्रय से चरित्र-चित्रण प्रस्तुत होता है। यदि उपन्यास के अन्त में नवीन विशिष्टता दृष्टिगत होती है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि पात्र में वह विशेषता प्रारम्भ में न थी प्रत्युत इसके प्रदर्शन के लिए इसके पूर्व अवसर प्राप्त नहीं हुआ था।

---

[१] "obviously not to trace the development, for being flat they cannot develop, but to set them in a new situation to change their relations to one another and in all of these to make them behave typically."

-एडविन म्योर :दी स्ट्रक्चर ऑफ दी नॉवेल":लंदन, १९५७,सा०सं०,पृ० २६

१६- ये उपन्यास स्थान-सापेक्ष होते हैं, समय-सापेक्ष नहीं । समय की गति का प्रभाव उपन्यास में वर्णित घटनाओं,परिस्थितियों तथा वातावरण पर नहीं पड़ता। इन उपन्यासों में स्थान परिवर्तन का महत्व होता है । कथा जिस बिन्दु से प्रारम्भ होती है,उसी पर समाप्त हो जाती है । इसका कारण यह है कि चरित्र प्रारम्भ से ही पूर्ण होते हैं । नाटकीय पूर्णता अपेक्षणीय है। उपन्यास की एकरूपता का परिहार स्थान परिवर्तन के द्वारा चरित्र प्रधान उपन्यासों में होता है । यूं स्थान तथा देश-काल-चित्रण तथा वातावरण-चित्रण का महत्व इसी तथ्य में निहित है कि वह पात्र के चरित्र पर प्रकाश डाले ।इस प्रकार के उपन्यास जैनेन्द्र :१६०५: तथा अज्ञेय :१६११: ने लिखे हैं ।

नाटकीय उपन्यास

२०- कथानक प्रधान उपन्यास की भांति नाटकीय उपन्यास में चरित्र-चित्रण नगण्य नहीं होता और न चरित्र-प्रधान उपन्यास के सदृश्य कथानक केवल चरित्र-चित्रण का साधन मात्र होता है । उपन्यास में वर्णित घटनाओं की निश्चितप्रतिक्रिया पात्र के व्यक्तित्व पर होती है, और व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण घटनाक्रम में परिवर्तन हो जाता है । इसमें चरित्र तथा कथानक दोनों अविच्छिन्न रूप से सुग्रथित होते हैं । यह सम्बन्ध आन्तरिक,नाटकीय तथा मनोवैज्ञानिक होता है । नाटकीय उपन्यास की घटनाएं तथा परिस्थितियां स्थिर नहीं रहतीं । वे पात्रों के संसर्ग में आकर निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं । फलत: कथावस्तु का निर्माण मनोवैज्ञानिक तथा स्वाभाविक घटनाओं के द्वारा होता है परन्तु संयोग एवं भाग्य का भी योगदान रहता है । इसका कथानक गतिशील रहता है । फलत: इसमें स्वत: प्रवर्तित प्रवाह होता है । इन उपन्यासों का अन्त चरित्रप्रधान उपन्यासों की भांति साधारण अथवा सूत्ररूप में नहीं होता । अन्त के सम्बन्ध में अनुमान अवश्य होने लगता है पर निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता । कभी-कभी उपन्यासकार अथवा पात्र अन्त के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी करता है । जिस समस्या को लेकर उपन्यास अग्रसर होता है, उसी के समाधान से उपन्यास समाप्त होता है । यह अप्रत्याशित असाधारण तथा आशातीत भी हो सकता है । इसका अन्त प्राय: दो प्रकार का होता है,-- मृत्यु तथा पर्यवसान एकत्व अर्थात् विवाह । इसका अन्त उसी बिन्दु पर होता है

जहाँ कथा तथा चरित्र-चित्रण की गति समाप्त हो जाती है। यह अन्त पूर्ण होता है तथा कलाकार से उस अन्तिम स्पर्श-सा होता है जो उसकी कला को पूर्णता तथा विराटता प्रदान करता है। नाटकीय उपन्यास एक प्रकार का ऐसा विकास है जो जीवन की सर्वांगिक गति की पुनर्रचना करता है।.. यह चरित्रात्मक क्रम, ध्वनि की लय की भाँति अधिक है।[१]

२१- चरित्र-प्रधान उपन्यासों की भाँति नाटकीय उपन्यासों में पात्रों की वास्तविकता तथा बाह्यस्वरूप का वैषम्य प्रस्तुत नहीं होता। नाटकीय उपन्यासों में प्रदर्शित होता है कि बाह्य स्वरूप तथा वास्तविकता दोनों एक हैं। शिल्प की दृष्टि से ये पात्र गतिशील हैं। फलत: ये पात्र निर्जीव तथा निष्प्राण नहीं हैं जो केवल परिस्थितियों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दें। ये सिद्धान्तों के प्रति मूर्ति नहीं प्रतीत होते जो पाषाण की भाँति अचल तथा अडिग होते हैं, फलत: ये विश्वसनीय, मनोवैज्ञानिक तथा नाटकीय हैं। नाटकीय उपन्यासों का घटनास्थल अपरिवर्तनशील रहता है। अतएव उपन्यासकार विस्तार से पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण कर सकता है। इस प्रकार के पात्र प्राय: व्यक्ति मात्र होते हैं किसी वर्गविशेष के प्रतीक नहीं। प्रेमचन्द :१८८०-१९३६:, उषादेवी मित्रा :१८९७: आदि के उपन्यासों में कुछ ऐसे पात्र भी उपलब्ध होते हैं।

२२- नाटकीय उपन्यास समय-सापेक्ष होते हैं। स्थान आदि से अन्त तक वही रहता है। किन्तु समय निरन्तर गतिशील रहता है। गतिशील समय की स्वतंत्र सत्ता दृष्टिगत नहीं होती, क्योंकि वह पात्रों में मूर्तिमान तथा ग्रन्थिबद्ध होता है। यही कारण है कि उसकी गति मनोवैज्ञानिक तथा विश्वसनीय प्रतीत होती है तथा उसकी तीव्र अथवा मन्दगति का आभास पात्र के कार्य की गति के द्वारा होता है। समय की गतिशीलता के कारण उपन्यासों में तीव्रता दृष्टिगत

१- "The dramatic novel is rather a development reproducing the organic movement of life......is more like a movement in a symphony".

-एडविन म्यौर : दी स्ट्रक्चर आफ दी नावेल, १९५७, लंदन, पा०सं०पृ०८५-

होती है। चरित्रप्रधान तथा नाटकीय उपन्यासोंमें समय का अन्तर इस भांति समझा जा सकता है कि एक व्यक्ति स्वदेश में दीर्घकाल के अनन्तर प्रवेश करे, तथा वह देखे कि उसके राष्ट्र की स्थिति वही है जो उसके प्रस्थान के समय थी, तो यह प्रतीति चरित्र-प्रधान उपन्यासों की है। इसके विपरीत यदि वह स्वदेश की परिवर्तित स्थिति देख कर विस्मित रह जाय, उसे ऐसा अनुभव हो कि उसकी अनुपस्थिति के कारण में कुछ असाधारण घटनाएं घटित हुई हैं- यह अनुभूति नाटकीय उपन्यास की है।

२३- एक विचारक ने नाटकीय उपन्यास के लिए 'घटना-चरित्र-सापेक्ष'उपन्यास कहना युक्तिसंगत समझा है।[१] उसकी दृष्टि में चरित्र प्रधान उपन्यास के पात्र स्थिर होते हैं, इसलिए उसे स्थिर-चरित्र उपन्यास के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए किन्तु पात्रों के प्रकार से उपन्यासों का वर्गीकरण समीचीन नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि चरित्र-प्रधान उपन्यास में गतिशील पात्र का प्रवेश हो सकता है तथा नाटकीय उपन्यास में स्थिर पात्र भी दृष्टिगत हो सकता है।चरित्र-चित्रण की पूर्णता के लिए उपन्यासकार दोनों प्रकार के रूपों का उपयोग करता है।

वृत्त उपन्यास

२४- चरित्र-प्रधान तथा नाटकीय उपन्यास क्रमश: स्थान और समय-सापेक्ष्य होते हैं। इसकापरिणाम यह होता है कि जीवन का सम्यक् और पूर्ण चित्र उपलब्ध नहीं होता। वृत्त उपन्यास में इस त्रुटि का परिहार हुआ है। भाग्य के बिना हम नाटकीय उपन्यास की कल्पना नहीं कर सकते हैं तथा समाज के बिना चरित्र-प्रधान उपन्यास की कल्पना संभव नहीं है। इसके निर्माण में भाग्य और समाज दोनों का योगदान उल्लेखनीय है। यह भाग्य रहस्यमय होता है केवल विश्वास के द्वारा ~~हम~~ आत्मसमर्पण किया जा सकता है। यह विश्वास प्राय: धार्मिक होता है किन्तु

१- शिवनारायण श्रीवास्तव :'हिन्दी उपन्यास':वाराणसी,१९५९,पृ० ४६४

वृत्त उपन्यासों के लिए एक दृढ़ ढाँचा तथा स्वच्छन्द एवं अकृत्रिम प्रगति आवश्यक है जिससे वह आकाररहित तथा निर्जीव न हो। फलतः इसमें सार्वजनिकता तथा विशिष्ट यथार्थ का समावेश हो गया है। जीवन-मृत्यु की शृंखला ही उपन्यास की कहानी की डिज़ाइन है जो जीवन का नमूना भी है। इसलिए उपन्यास की समाप्ति पर सीमित उद्गम स्थान से निकल कर प्रतिध्वनि प्रसारित होती है।[१] इसलिए कुछ पीढ़ियों की कथा अनन्त पीढ़ियों की कथा बन जाती है। नाटकीय उपन्यासों के विपरीत इनमें पात्रों का संघर्ष विशद मंच पर प्रस्तुत होता है। इसके पात्र वही रहते हैं किन्तु अन्त में उनकी आकृति, बालों के रंग, उनके विचार तथा प्रेम में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है जब तक अन्तिम परिवर्तन उपस्थित न हो जाए। टाल्सटाय का 'वार एण्ड पीस' ऐसा ही उपन्यास है। हिन्दी में ऐसे उपन्यास बहुत कम लिखे गए हैं।

दृष्टिकोण के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण:-

२५- उपन्यासकार के दृष्टिकोण का प्रभाव उपन्यास के स्वरूप पर पड़ा करता है। इसके अनुसार कथानक का चयन नहीं होता, प्रत्युत जीवन-चित्र, पात्र-चित्र, संवाद आदि उपन्यास के विविध उपकरणों पर अमिट छाप अंकित होती है। साहित्यकार बौद्धिक प्राणी होता है। विश्व में प्रचलित विभिन्न वादों तथा विचारधाराओं से वह प्रभावित होता है। ~~उपन्यास के प्रणयन~~ में इन वादों तथा विचारधाराओं के अनुरूप ही उपन्यास के शिल्प में परिवर्तन हुआ करता है। आधुनिक जीवन दर्शन, गांधी, मार्क्स तथा फ्रायड से मुख्यतः प्रभावित हुआ है। इन तीन महर्षियों ने मानव विचारधारा के समक्ष नवीन क्षितिज का उद्घाटन किया है।

---

१ 'So that, finished, the chronicle releases an echo which wanders in larger spaces than those in which it has just been confined'.

- एडविन म्योर : 'दी स्ट्रक्चर आफ दी नॉवेल' : १९५७, लंदन, सं० पृ० १०२

२६- गांधीवाद से प्रभावित उपन्यास गांधीवादी उपन्यास के नाम से अभिहित किए जाते हैं। गांधीवाद में किसी नवीन जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा नहीं हुई है। गांधीवाद के सिद्धान्त भारतीय दर्शन पर आधारित हैं। सत्य की साधना भारतीय दर्शन की विशेषता है तथा अहिंसा सिद्धान्त भी नूतन नहीं है। गौतमबुद्ध ने हिंसा के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ किया था। वस्तुत: यह प्राचीन जीवन-दर्शन है जो नवीन व्याख्या, परिवर्तन एवं संशोधन के साथ वर्तमान काल में प्रस्तुत हुआ है। यह एक आस्थावादी सत्य की साधना है जो मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों एवं आध्यात्मिक तथा आत्मिक शक्तियों पर अवलम्बित है। सत्य उस ब्रह्म का द्योतक है जो वैदकालीन पुरातन है, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक तथा सर्वद्रष्टा है। ब्रह्म के साक्षात्कार मानव जीवन का लक्ष्य है। इस ध्येय की प्राप्ति का साधन है अहिंसा। अहिंसा का प्रयोग केवल जीवहत्या के संकुचित अर्थ में नहीं हुआ है प्रत्युत परपीड़ा की भावना, ईर्ष्या द्वेष आदि के अभाव के अर्थ में हुआ है। सत्य की प्राप्ति के लिए एक अन्य उल्लेखनीय साधन है, ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म में नियोजन करने की क्रिया। इसके लिए अस्वाद, अस्तेय और अपरिग्रह अनिवार्य है। साथ ही मन, वचन तथा कर्म की एकता भी आवश्यक है। वैयक्तिक क्षेत्र में गांधीवाद द्वारा आत्मशुद्धि एवं आत्म परिष्कार होता है। सामाजिक क्षेत्र में भी इसकी गति है। आत्मशक्ति द्वारा सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किया जा सकता है। परन्तु विरोध पद्धति मौलिक तथा विशिष्ट है क्योंकि गांधीवाद की रक्त-क्रान्ति पर आस्था नहीं है। असहयोग, बहिष्कार, धरना एवं सत्याग्रह इसके अस्त्र हैं। इनका प्रयोग करते समय भी सत्याग्रही को नैतिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।[१]

१- "हर कदम पर सत्याग्रही : जो कि सत्य की शक्ति का पालन करता है : को अपने शत्रु की आवश्यकताओं पर विचार करना अनिवार्य है। वह उसके प्रति हमेशा भद्र और शिष्ट व्यवहार करता है यद्यपि वह उसके अनुचित नियमों और आज्ञाओं को नहीं मानेगा।"

--डा० पट्टाभिसीतारमैया : "गांधी और गांधीवाद" : प०भा०, १९५७ आगरा, पृ० ३४

गांधीवाद में साध्य के साथ-साथ साधन पर भी बल प्रदान किया गया है । संघर्ष के समय उत्तेजित व्यक्तियों द्वारा जब शासक अथवा अधिकारी पर आक्रमण कर क्षति पहुंचाने की चेष्टा की जा रही है, तब उसे उसका प्रतिकार करना चाहिए, भले ही उसे प्राणों की बलि देनी पड़े[1]। गान्धीवाद में धर्म प्रमुख है, राजनीति गौण है । वह धर्म से अनुशासित है । इसका आदर्श रामराज्य है । राज्य का परिचालन दंड, भय से न होकर आत्मिक शक्तियों से होना चाहिए । गांधीवाद आर्थिक वैषम्य का विरोधी है । परन्तु इसका दृष्टिकोण आदर्शवादी है । यह विकेन्द्रीकरण का पक्षपाती है । शिक्षा के क्षेत्र में भी इसकी निजी स्थापना है । तन, मन, आत्मा एवं हृदय का स्वस्थ विकास करने वाली शिक्षा ही वास्तव में शिक्षा है ।

२७- गांधीवाद मानव के हृदय में अवस्थित देवत्व पर ही आधारित है । पर मानव ~~उसके~~ हृदय में दैत्य भी है जो देव पर विजय प्राप्त कर लेता है । इस दर्शन में इस व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा हुई है । इसमें मानव-जीवन की भौतिक आवश्यकताओं तथा दुर्बलताओं की अवहेलना हुई है । इन आदर्शों के अनुरूप ही अनेक उपन्यास लिखे गए हैं । इन उपन्यासों के कथानक के प्रारम्भ में यथार्थ का प्राधान्य रहता है । किन्तु उपन्यास का अन्त आदर्शमूलक होता है । इसमें वर्गवादी पात्रों का चित्रण होता है । सत् पात्र तेजस्वी तथा आदर्श होते हैं । इनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ही दिग्भ्रमित पात्रों को सम्यक् दिशा मिल जाती है । इनमें जिन पात्रों का सुधार नहीं होता उनकी मृत्यु हो जाती है । कथोपकथन कथानक तथा चरित्र-की आवश्यकतानुरूप होते हैं । इन उपन्यासों के वातावरण में यथार्थ और आदर्श का संगम दृष्टिगत होता है तथा इनकी शैली आदर्शोन्मुख यथार्थवादी होती है ।

प्रगतिवादी उपन्यास

२८- प्रगतिवाद वास्तव में साम्यवादियों का साहित्यिक मोर्चा है । साम्यवादी अपने विचारों के प्रसार के लिए साहित्य का आश्रय ग्रहण कर श्रमजीवी तथा बुद्धिजीवी के हृदय में वर्ग-चेतना उत्पन्न कर क्रान्ति करना चाहता है । इसी ध्येय से

१- डा० पट्टाभिसीतारमैया-:" गांधी और गांधीवाद" : प०भा०, १९५७, आगरा, पृ० १३०

प्रेरित होकर सन् १९३६ में प्रगतिवादी लेखक संघ की स्थापना हुई थी। प्रगतिवादी संघ की निश्चित मान्यताएं थीं, उसी के अनुरूप ये साहित्य के विभिन्न अंगों का प्रणयन करते थे। प्रगतिवाद का मूलाधार है मार्क्स दर्शन। कार्लमार्क्स ने मानवीय समस्याओं को नवीन दृष्टि से देखा। यह दृष्टि आध्यात्मिक न होकर भौतिक तथा व्यावहारिक थी। मार्क्स के पूर्व जीवनगत समस्याओं को यथार्थ परिवेश में नहीं देखा गया था। उसके अनुसार, समाज का मूलाधार है आर्थिक व्यवस्था या आर्थिक ढांचा। अर्थ की ही नींव पर संस्कृति, साहित्य, धर्म, आचार-विचार की भित्ति खड़ी होती है। अस्तु, आर्थिक विषमता अभिशाप है क्योंकि इसका तात्पर्य है जीवन धारण करने वाले तत्वों का अभाव। इसके कारण व्यक्तित्व बौना तथा क्षुद्र रह जाता है। अनेक प्रकार की मानसिक गुत्थियों-विकृतियों से परिपूर्ण असन्तुलित व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है। आर्थिक-वैषम्य के कारण वृहत् संख्या में मानव दुखी तथा कष्ट पीड़ित है। लघु मानव समुदाय के द्वारा त्रस्त वृहत् मानव समुदाय शोषित हो रहा है। इस प्रकार समस्त समाज दो वर्गों में विभक्त है-शोषक तथा शोषित वर्ग। दूसरे शब्दों में आर्थिक वैषम्य ने सामाजिक वर्ग संघर्ष को जन्म दिया है। वर्गसंघर्ष के अवसर पर शोषितों में नवशक्ति का संचार करना, उनकी क्रान्ति को सफल बनाने के लिए जिस प्रकार का साहित्य काम्य है, उसे प्रस्तुत करना प्रगतिवाद का लक्ष्य स्वीकार किया गया है। प्रगतिवाद की मान्यता है कि साहित्यकार ऐसे साहित्य का सृजन करे जिससे शोषित जनता अपने अधिकारों से अवगत होकर संघर्ष कर सके। प्रगतिवादी साहित्यकार शोषण, साम्प्रदायिकता तथा धर्म के विरुद्ध साहित्य का सृजन करता है। शोषण के विरुद्ध रूस है। इसलिए इसमें रूस के प्रति रागात्मक स्नेह का परिचय मिलता है। इन मान्यताओं के कारण लेखक की स्वतंत्रता के अपहरण की संभावना है। रोमा रोला जो पूंजीपतियों के विरुद्ध सदैव रहा, वह आदेश-पालन को लेखक की मानसिक दासता से अधिक नहीं समझता था। उसके अनुसार, विचार और प्रतिभा किसी के दास नहीं होते ----लेखक विचार के अतिरिक्त अन्य किसी को स्वामी नहीं स्वीकार कर सकता है। लेखक का कर्तव्य है कि वह दिग्भ्रमित व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन करे, लेखक केवल सत्य का आदर करता है उस

सत्य का जो सीमा, वाद, जाति तथा बंधन से परे है। किन्तु प्रगतिवादी उपन्यासों तथा अन्य प्रकार की रचनाओं में स्वाधीन चेतना को अल्प स्थान प्राप्त हुआ है। यह वस्तुत: साहित्यकार की दुर्बलता है, वाद की नहीं।

२९- मार्क्सवाद में अर्थ का ही प्राधान्य है। यहां पर यह प्रश्न उठता है कि इस दर्शन में क्या मानव की उपेक्षा हुई है? राल्फ फाक्स के अनुसार, मार्क्सवाद में व्यक्ति की उपेक्षा नहीं हुई है, जहां दृष्टिगत होती है वहां वह लेखक की दुर्बलता का चिह्न है। मार्क्स के जीवन-दर्शन का केन्द्र बिन्दु आर्थिक परिस्थितियां नहीं, वरन मानव है। यह सच है कि आर्थिक परिस्थितियां आदमी को बदल देती हैं। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आर्थिक परिस्थितियां स्वयं नहीं बदलतीं और उन्हें बदलने के प्रयास में स्वयं आदमी भी बदल जाता है[१]। परन्तु प्रगतिवादी रचनाओं को देखते हुए यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इसमें सिद्धान्तों के प्रति अत्यधिक आग्रह के कारण कुछ स्थलों पर व्यक्तित्व की उपेक्षा हो गयी है, उपन्यासकार पर प्रचारक ने विजय प्राप्त की है। उपन्यास के कथानक तथा चरित्र-शिल्प के विकास में स्वाभाविकता की अपेक्षा यांत्रिकता अधिक दृष्टिगत होती है। फलत: शिल्प की दृष्टि से सफल प्रगतिवादी उपन्यास कम लिखे गये हैं।

३०- प्रगतिवाद की एक निश्चित शैली है जो सामाजिक यथार्थवाद अथवा समाजवादी यथार्थवाद के नाम से विख्यात है। इस वाद के द्वारा शैली में कुछ परिवर्तन हुआ। रोमानी तथा आलंकारिक शैली की अपेक्षा इसमें यथार्थवादी तथा व्यंग्यात्मक शैली को प्रश्रय प्राप्त हुआ। शैली की स्पष्टता तथा यथार्थता के प्रति आग्रह का यह परिणाम हुआ कि जीवन के गोपनीय प्रसंग तथा गर्हित दृश्यों का भी विशद चित्रण होने लगा। अतृप्त यौन-तृष्णा का नग्न प्रदर्शन प्रगतिवादी साहित्य में हुआ यद्यपि लेनिन के अनुसार यौन सम्बन्धों में केवल प्राकृतिक प्यास को ही

१- "Marxism places man in the centre of its philosophy, for a while it claims that material forces may change man it declares most emphatically that it is man who changes the material forces and that in the courses of so doing he changes himself."

- राल्फ फाक्स: 'दी नॉवेल एण्ड दी पीपुल : १९४४ :कलकत्ता:पृ० २४

आधार नहीं बनाया जा सकता। उसका आधार सांस्कृतिक विशेषताएं भी होती हैं चाहे वह उच्च स्तर की हों अथवा निम्न स्तर की। अनेक विचारक साहित्य में अश्लील चित्रण के विरोधी हैं। परन्तु हिन्दी के प्रगतिवादी उपन्यासों में यथार्थवादी शैली के नाम पर अश्लील साहित्य का प्रणयन हो रहा है।

३०- यह दर्शन भी गांधी-दर्शन की भांति अपूर्ण है। गांधीदर्शन में वास्तविकता की उपेक्षा हुई है। इसमें आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक पक्ष की सर्वथा अवहेलना हुई है। यह वाद राजनीतिक मंतव्यों से अनुशासित है। उसका प्रेरणास्रोत विदेशी है तथा उसकी दृष्टि रूस की ओर केन्द्रित है। परन्तु भारत में प्रस्तुत प्रगतिवादी उपन्यास को पूर्णत: विदेशी मानना समीचीन नहीं है। इसमें चित्रित समस्याएं भारत की ही हैं। शोषण की दृष्टि से प्रेमचन्दीय आदर्शों का इनमें विस्तार से चित्रण हुआ है यद्यपि शिल्प की दृष्टि से गांधीवादी तथा प्रगतिवादी उपन्यासों में अन्तर है। प्रगतिवादी उपन्यासों का लक्ष्य है -शोषितों का उत्थान तथा उनकी राजनीतिक सत्ता की स्थापना। इसके कथानक में शोषित मानवता का यथार्थरूप में चित्रांकन हुआ है। इसमें शोषकों की शोषणवृत्ति तथा प्रकृति का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। यथार्थ के प्रति आग्रह के कारण इसमें जीवन के गर्हित प्रसंगों का चित्रण होता है। इसके पात्र वर्गवादी होते हैं। सत् पात्र गांधीवादी पात्रों के विपरीत मार्क्सवादी होते हैं जो क्रान्ति के लिए दत्तचित्त रहते हैं। कथोपकथन कथानक एवं चरित्र की आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होते हैं। कुछ ही उपन्यासों में सफल वातावरण की सृष्टि हो सकी है। इसकी शैली में यथार्थ का प्राधान्य होता है। किन्तु उपन्यासकारों के प्रचारात्मक दृष्टिकोण के कारण इनमें कलापक्ष गौण हो गया है। हिन्दी में प्रगतिवादी उपन्यास अनेक लिखे गए हैं किन्तु शिल्प की दृष्टि से यशपाल :१९०३: का 'मनुष्य के रूप' :१९४९:, रांगेयराघव :१९२३-१९६२: का 'हुजूर' :१९५२:, नागार्जुन :१९१०: का 'बाबा बटेसरनाथ' :१९५४:, मन्मथनाथ गुप्त :१९०८: का 'बहता पानी' :१९५५: आदि उल्लेखनीय हैं।

मानव जीवन को समझने के लिए फ्रायड का अध्ययन आवश्यक है

३२- फ्रायड का दर्शन गांधी तथा मार्क्स-दर्शन से सर्वथा भिन्न है। मानव-जीवन का अध्ययन अपूर्ण है जब तक कि उसके मानसिक जगत् से परिचय प्राप्त नहीं होता है। फ्रायड ने मानसिक जगत् का उद्घाटन कर अनेक असंगतियों के कारणों पर प्रकाश डाल कर ज्ञान के इतिहास में नवीन शृंखला प्रस्तुत की। फ्रायड के पूर्व मानसिक जगत का महत्त्व नगण्य था। इन्होंने सिद्ध कर दिया कि मानसिक संसार की स्वतंत्र सत्ता है। व्यक्ति का चेतन व्यक्तित्व अचेतन मस्तिष्क का परिणाम है जो चेतन से बृहत्तर है। अचेतन मस्तिष्क में अनेक इच्छाएं, कामनाएं तथा स्वप्न होते हैं जो सामाजिक अमान्यता तथा अस्वीकृति के कारण अभिव्यक्ति के लिए विकल रहते हैं। चेतन तथा अचेतन में निरन्तर संघर्ष हुआ करता है। अचेतन निवासी नाना वेष धारण कर चेतन द्वारा स्वीकृति प्राप्त कर बाहर आते हैं। इन्हें अचेतन से चेतन तक यात्रा करनी पड़ती है। चेतन तथा अचेतन के बीच में एक अवरोधक : Censor है जो सबका परीक्षण करता है। फलत: मस्तिष्क में दमन और रोकथाम होती है। ज्ञात दमन के लिए फ्रायड ने निरोध : Supression : और अज्ञात प्रतिबंधक व्यापार के लिए दमन : Repression : शब्द का प्रयोग किया है। मन की समीक्षा भी तीन शीर्षकों के अन्तर्गत की गयी है —

मन का विभाजन

ईड	ईगो	सुपर ईगो
ईद	अहं	अति अहं

अहं मस्तिष्क का चेतन तथा बौद्धिक अंश है जो ईद में निवास करने वाली अनियंत्रित इच्छाओं, स्वप्नों, वासनाओं का नियंत्रण करता रहता है। यह कार्य ज्ञात स्तर पर होता है पर ऐसा भाग भी है जहां यह कार्य अचेतन रूप में होता है। अति अहं नैतिक अहं का प्रतीक है।

३३- फ्रायड ने जीवन की परिचालिका शक्ति लिबिडो को माना है। यह काम-मूला तथा स्वार्थ-मूला है। मानवीय प्रेम, घृणा, आकर्षण, विकर्षण, आनन्द, उत्साह, कर्म आदि इसी पर अवलम्बित हैं। यह वर्जना और निषेध को नहीं स्वीकार करती है। इसलिए नैतिक भावनाओं से इसकी प्रतियोगिता रहती है। फ्रायड ने

शिशु को भी काम भाव से मुक्त नहीं माना था। बाल्यकालीन मिथुन की चर्चा करते हुए उन्होंने बालक-बालिका के क्रमशः इडिपस तथा इलेक्ट्रा ग्रन्थि पर प्रकाश डाला है। आपके अनुसार मानव में जीवित रहने : Eros : की प्रवृत्ति होती है और मृत्यु : Thanatos : की भी। मृत्यु की भावना का परिवर्धित रूप है-दूसरों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा, आक्रमण करने की प्रवृत्ति आदि। सैडिज़्म अर्थात् पर पीड़न के द्वारा आत्मतुष्टि का अनुभव करना तथा मैसोकिज़्म अर्थात् दूसरे के द्वारा पीड़ित होकर आत्मतुष्टि की अनुभूति प्राप्त करना इसी मरण प्रवृत्ति का ही विकसित रूप है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अचेतन मन में स्थित स्वप्न, कामना तथा इच्छा का ही चित्रण नहीं हुआ है प्रत्युत अनेक मनोग्रन्थियों तथा उनकी प्रतिक्रिया एवं प्रभाव का चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त, फ्रायड ने विशिष्ट मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की स्थापना की है जो इस वर्ग के उपन्यासों में दृष्टिगत होते हैं -

:१: आरोपण सिद्धान्त : Projection : प्रेम के क्षेत्र में व्यक्ति जो कुछ चाहता है उसकी अनुपलब्धि के क्षणों में अपनी भावनाओं का आरोपण दूसरे पर कर देता है। "पथ की खोज" :१९५१: "सराय" :१९४४: आदि में आरोपण सिद्धान्त दृष्टिगत होता है।

:२: स्थानान्तरीकरण : Transference : साम्य अथवा वैषम्य के कारण अज्ञात रूप से मनुष्य एक व्यक्तित्व की विशेषताएं और दुर्गुण दूसरे व्यक्तित्व में स्थानान्तरित कर देता है। इसका सुन्दर उदाहरण "परदे की रानी" :१९४२: में दृष्टिगत होता है।

:३: बद्धत्व : Fixation :कुछ ऐसे मनुष्य भी होते हैं जिनमें बालक बने रहने की प्रवृत्ति होती है। वे शिशु पति होते हैं। इसका उपन्यासों में चित्रण नहीं हुआ है।

:४: प्रत्यावर्तन : महान् संकट के अवसर पर कुछ व्यक्ति बाल्यावस्था को प्राप्त होते हैं। इस स्थिति का उपन्यासों में चित्रण नहीं हुआ है।

:५: उदात्तीकरण : भावावेग विकृत रूप का परित्याग कर नैतिक भावना के अनुरूप वेष धारण कर उदात्त रूप में प्रस्तुत होते हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में उदात्तीकरण अत्यधिक दृष्टिगत होता है।

:६: स्वप्न - अनेक विकृत और दमित इच्छाएँ स्वप्नों के माध्यम से अपने को व्यक्त करती हैं। 'शेखर :एक जीवनी' :१९४०-४४:, 'जहाज का पंछी' :१९५५: आदि में इस प्रकार के स्वप्न दृष्टिगत होते हैं।

:७: औचित्यीकरण- व्यक्ति अपने त्रुटिपूर्ण तथा असंगत व्यवहार के औचित्य के लिए अनेक कारणों की अवतारणा कर लेता है। 'बाहर भीतर' :१९५४: में इसका अच्छा उदाहरण प्राप्त होता है।

३३- फ्रायड के सहयोगी तथा शिष्य एडलर ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में नवीन संभावना प्रस्तुत की। उसने वैयक्तिक : Individual: सम्प्रदाय की स्थापना की। उसने 'काम' की अपेक्षा विजय की कामना को आदि वासना के रूप में ग्रहण किया। उसकी दृष्टि में मानसिक विकृति का कारण काम की अनुचित या अप्राप्ति नहीं है। इसका कारण है विजय-कामना की अप्राप्ति, जिसके कारण व्यक्तित्व में हीनता ग्रन्थि का निर्माण हो जाता है। इस ग्रन्थि का चित्रण उपन्यासों में बहुलता से हुआ है। फ्रायड के अन्य शिष्य जुंग ने विश्लेषण : Analytic :सम्प्रदाय का निर्माण किया। इसने मनोविज्ञान में अध्यात्म का प्रवेश कराकर इसका क्षेत्र विस्तृत और विशद किया। उसके अनुसार वैयक्तिक अचेतन भले ही भोगेच्छु, स्वार्थी, वीभत्स, क्रूरकर्मी, दमित भावनाओं का आकर हो, परन्तु समष्टि मन का अचेतन स्तर त्याग, क्षमा, उदारता, ~~नैतिक भावनाएं- सौंदर्य~~ प्रियता आदि भावनाओं से परिपूर्ण रहता है। जर्मनी के गेस्टाल्वाद ने प्रातिभ के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रयोग किए हैं। आपके अनुसार कोई वस्तु निरपेक्ष नहीं होती, कोई घटना मात्र नहीं है वह कुछ और है। कोई विचार या भाव खंडित नहीं है, सब जगह पूर्णता है। जिसके अन्दर आकर इनको रूप या आकार मिलता है, जिसके कारण ही इनकी सार्थकता की सिद्धि होती है। जैनेन्द्र :१९०५: और 'अज्ञेय' :१९११: के उपन्यास इस सिद्धान्त से प्रभावित हैं। इनके अतिरिक्त, मनोविज्ञान के अनेक सम्प्रदाय हैं आचरणवादी जीवी सम्प्रदाय, प्रवृत्तिवादी स्कूल आदि। इनके अपने अपने सिद्धान्त हैं। हिन्दी उपन्यासकार सबसे अधिक फ्रायड से प्रभावित हुआ है। इसके अतिरिक्त, एडलर के हीनता-ग्रंथि सिद्धान्त को उसने स्वीकार किया है। अन्य सम्प्रदायों की विचारधारा से वह प्रभावित नहीं हुआ है।

३४- मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का शिल्प पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न होता है। इसमें कथानक नगण्य होता है तथा चरित्र का ही महत्त्व है। इसमें असाधारण पात्रों के व्यक्तित्व

की असाधारणता पर प्रकाश पड़ता है । इनमें पात्रों की कुंठा का उन्मूलन विभिन्न पद्धतियों के आश्रय से होता है । कथोपकथन चरित्रव्यंजक होते हैं इनमें प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य गण्य होता है तथा शैली मनोविश्लेषणात्मक तथा विश्लेषणात्मक होती है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का एक अन्य वर्ग भी होता है जिसका शिल्प सामाजिक तथा आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासों से भिन्न नहीं होता परन्तु इनके कथानक का निर्माण जटिल मनोविज्ञान के आश्रय से होता है । चरित्रों की प्रकृति भी जटिल होती है । इसी कारण इन्हें मनोवैज्ञानिक उपन्यास के नाम से अभिहित किया जाता है । इलाचंद्रजोशी :१९०२: के उपन्यास इसी वर्ग के हैं । शिल्प की दृष्टि से जैनेन्द्र :१९०५:, 'अज्ञेय' :१९११: तथा इलाचन्द्र जोशी :१९०२: के उपन्यास उल्लेखनीय हैं ।

३५- इन वादों के अतिरिक्त, उपन्यासों का प्रणयन उपन्यासकार की विशिष्ट दृष्टि से हुआ करता है । यह दृष्टि सम्पूर्ण उपन्यास-शिल्प में मिलती है । उपन्यासकारों की दृष्टि के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से होता है :---

१- यथार्थवादी

२- प्राकृतवादी

३- अति यथार्थवादी

४- आदर्शवादी या आदर्शोन्मुख यथार्थवादी ।

यथार्थवादी उपन्यास

३६- यथार्थवाद क्या है ? भारत के लिए यथार्थवाद एक नवीन विचारधारा है जिससे आधुनिक हिन्दी साहित्यकार प्रभावित हो रहा है । लूकस जार्ज के मतानुसार, सच्चे यथार्थवादी साहित्य की यह प्रमुख विशेषता है कि लेखक बिना किसी भय अथवा पक्षपात के, ईमानदारी के साथ जो कुछ भी अपने आस पास देखता है, उसका चित्रण करे[१] । इससे

'It is a condition sinquanon of great realism that the author must honestly record without fear or favour every thing he sees around him.'
---जार्ज लूकस :
-'स्टडी इन यूरोपियन रियलिज़्म', १९५०, लंदन, प्र.सं०, पृ० १३७-१३८

स्पष्ट होता है कि साहित्य के क्षेत्र में बिना किसी संशोधन के जब जीवन या जगत् का यथार्थ अभिव्यक्त होता है तो वह यथार्थवाद के नाम से अभिहित होता है। यहां एक प्रश्न उठता है कि क्या यथार्थवादी रचना में कल्पना का स्पर्श भी नहीं होता ? जीवन का यथातथ्य चित्रण मात्र से कोई भी रचना गौरवान्वित नहीं हो सकती। उद्यान की सुन्दरता के लिए कांटछांट तथा मौलिक सूझ आवश्यक होती है उसी प्रकार साहित्योपवन के लिए सुरुचि तथा चयन आवश्यक है। यहां सुरुचि का तात्पर्य है --मौलिक उद्भावना। अतएव इस प्रकार में कल्पना रोमानी तथा वायवीय नहीं होती, प्रत्युत ऐसी होतीहै जिससे यथार्थता की प्रतीति होती है। यथार्थ-भावना से अनुप्राणित कल्पना यथार्थ की सहयोगिनी होती है। इसलिए यथार्थवादी उपन्यासकार सत्य और मनोविज्ञान के दीप को ही अवलम्ब बनाकर उपन्यास-पथ की ओर अग्रसर होता है। फलतः इसके कथानक, चरित्र, संवाद, परिप्रेक्ष्य शिल्प में स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता तथा विश्वसनीयता होती है। इसकी शैली भी अन्य प्रकार के उपन्यासों से भिन्न होती है। शैली की भिन्नता के कारण ही कुछ इसे विचारधारा न समझ कर अभिव्यक्तिकी प्रणाली मात्र मानते हैं। इसकी शैली सरल तथा सुबोध होती है जो बाह्याडम्बर, कृत्रिमता, जटिल अलंकारिकता से मुक्त होती है। इस शैली का संभावित दोष है कि उपन्यास नीरस विवरण तथा सुरुचिविहीन अश्लील चित्रण मात्र न हो जाए। इस दुर्बलता का परिहार हो सकता है यदि उपन्यासकार सुरुचिसम्पन्न हो। वह वैज्ञानिक तथा तटस्थ दृष्टि से अन्धपरम्पराओं तथा कुरीतियों का चित्रण कर सकता है। वह अश्लीलताविहीन जीवन का जीवन्त चित्र प्रस्तुत कर सकता है। हिन्दी में शिल्प की दृष्टि से सफल यथार्थवादी उपन्यास बहुत कम हैं जिनमें प्रमुख हैं -- अमृतलाल नागर: १९१६: का 'महाकाल': १९४७: तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क': १९१०: का 'बड़ी बड़ी आंखें': १९५४: फणीश्वरनाथ रेणु :1921: का 'मैला आंचल': १९५४:। इसके अतिरिक्त, कुछ प्रगतिवादी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में भी यथार्थवाद दृष्टिगत होताहै।

प्राकृतवादी उपन्यास

३७- सामान्यपाठक यथार्थवाद तथा प्राकृतवाद को प्राय: एक ही समझता है। इसका कारण यह है कि जिन उपन्यासकारों ने यथार्थवादी साहित्य का प्रणयन किया

उन्होंने प्राकृतवादी साहित्य भी रचा । उपन्यासकारों की दृष्टि तथा अभिव्यक्ति यथार्थमूलक है ।फलत: ये दोनों वाद एक दूसरे का रूप धारण कर रहे हैं । अंग्रेजी में 'नेचुरलिज़्म' का जिस अर्थ में प्रयोग करते हैं, प्राकृतवाद उसी अर्थ का द्योतक है । यथार्थवादी उपन्यासों में जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत होता है किन्तु प्राकृतवादी मनुष्य को प्रकृति का अंग मानता है । वह साहित्य को जीवन के निकट लाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है । इनमें मानव की आदि वासनाओं, शारीरिक चेष्टाओं आदि का चित्रण होता है । इस वर्ग के उपन्यासों में जीवन अपने प्राकृत रूप में चित्रित होता है । प्राकृतवादी कलाकार श्लीलता, धर्म, सुरुचि अथवा नैतिकता के बन्धन को स्वीकार नहीं करता है । इस प्रकार के उपन्यासों का सूत्रपात एमिली जोला ने किया था । उसकी मान्यता थी कि साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह जीवन का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करे चाहे वह नैतिकता की दृष्टि से कितना ही दूषित तथा गर्हित हो । हिन्दी में चतुरसेन शास्त्री :१८९१-१९६०: तथा ऋषभचरण जैन:१९१२: ने कुछ ऐसे उपन्यास लिखे । किन्तु शिल्प की दृष्टि से इनका महत्व नहीं है । इस प्रवृत्ति का स्वतंत्र विकास हिन्दी में नहीं हुआ यद्यपि मनोवैज्ञानिक तथा प्रगतिवादी उपन्यासों में इसकी प्रवृत्ति कुछ स्थलों पर दृष्टिगत होती है ।

अतियथार्थवादी :सररियलिस्ट: उपन्यास

३८- अतियथार्थवाद प्राकृतवाद का चरम विकास है किन्तु प्राकृतवाद तथा अति-यथार्थवाद में मौलिक अन्तर है । प्राकृतवाद यथार्थवाद की चरम अभिव्यक्ति है परन्तु अतियथार्थवादी रचनाओं में लेखक उन स्वप्निल तत्वों का तद्वत चित्र प्रस्तुत करता है जो उनकी कल्पना में आते हैं । इसमें अवचेतन मन पर विशेष बल प्रदान किया जाता है । इसमें उसका दमन नहीं होता, प्रत्युत चित्रों को उभाड़ कर उसे निरावरण रूप में प्रस्तुत किया जाता है । द्वारकाप्रसाद एम.ए. :२: का 'घेरे के बाहर' :१९३७: ऐसा ही उपन्यास है । इसका शिल्प की दृष्टि से महत्व नहीं है । शिल्प की दृष्टि से सफल अतियथार्थवादी उपन्यास नहीं प्राप्त होता है ।

आदर्शवादी उपन्यास

३९- सत्य और कल्पना के परिवेश में ही मानव जीवन व्यतीत करता है । जो है उससे परे की कल्पना ही आदर्शवाद की विधायिका है । आदर्शवाद, जैसा कि इसके ना

से ही व्यक्त होता है, यह यथार्थ के प्रतिकूल होता है । आदर्शवादी साहित्यकार जीवन का वास्तविक चित्र प्रस्तुत नहीं करता है प्रत्युत अपनी कल्पना तथा आदर्श के बल पर जैसा देखना चाहता है वैसा ही चित्रित करता है । सुन्दर से सुन्दरतर की कल्पना ही जब साहित्य में अभिव्यक्ति प्राप्त करती है तो उसकी संज्ञा आदर्शवादी होती है । यथार्थवादी उपन्यासों में जहां जीवन का भौतिक चित्रण होता है वहां अलौकिक चित्रण होता है । सामान्यतया आदर्शवाद को यथार्थवाद का विरोधी माना जाता है । किन्तु यदि बौद्धिक दृष्टि से विचार किया जाये तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आदर्शवाद में भी यथार्थ का स्पन्दन होता है । साहित्य के क्षेत्र में अयथार्थ की कल्पना ही संभव नहीं है किन्तु यह सत्य है कि आदर्शवादी उपन्यासों में अपवाद तथा विशेष का चित्रण होता है । व्यावहारिक दृष्टि से दोनों में यही अन्तर है कि यथार्थवादी उपन्यासों में नित्यप्रति के चिरपरिचित पात्रों की झलक प्राप्त होती है, यहां आदर्श तथा उदात्त पात्रों का चित्रण होता है । यथार्थवादी उपन्यासों का वार्तालाप, जहां सहज स्वाभाविक तथा सरल होता है वहां आदर्शवादी उपन्यासों के वार्तालाप में भी एक प्रकार की गरिमा रहती है । इसकी शैली भी आदर्शों से अनुप्राणित होती है जो प्रसंगानुकूल तथा सरस होती है । जब तक उपन्यासों में पात्रों का व्यवहार लौकिक रहता है, तब तक वह यथार्थवादी है किन्तु जब वह भौतिक व्यवहार से भिन्न होता है उसमें अलौकिकता का समावेश हो जाता है और तब वह आदर्शवादी हो जाता है । "प्रसाद" ने यथार्थवाद की विशेषताओं पर बल प्रदान करते हुए लिखा है --"लघुता की ओर दृष्टिपात । उसमें स्वभावत: दु:ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है । लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दु:ख और अभावों का वास्तविक उल्लेख ।"[१] इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि आदर्शवाद में कतिपय विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है । इसमें उपन्यासकार की दृष्टि शिव पर केन्द्रित होती है । आदर्श के प्राधान्य के कारण

१- जयशंकर प्रसाद : 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' : १९३९, इलाहाबाद, पृ० १३८ ।

इस शैली का संभावित दोष है कि उपन्यास नीरस तथा प्रभावहीन न हो जाए। आदर्शों की कल्पना करना दुष्कर कार्य नहीं है। किसी भी भव्य देव-प्रतिमा का निर्माण करना सरल है किन्तु उसमें जीवन स्फूर्ति करना ही दुष्कर है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार के उपन्यास में प्रस्तुत अविश्वसनीय चित्र प्रभावहीन तथा अरुचिकर होते हैं। फलतः उपन्यासों में आदर्श और यथार्थ का समन्वय प्राप्त होता है।

आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास

४०- यथार्थवाद के द्वारा व्यक्ति को अपनी दुर्बलताओं का ज्ञान होता है। जीवन में जिस यथार्थ से व्यक्ति परिचित होता है-साहित्य में तद्वत चित्रण से उसे नवीनता का अनुभव नहीं होगा। जीवन की कटुता से वह निराशावादी तथा अकर्मण्य भी हो सकता है। इसी प्रकार आदर्शवाद व्यक्ति को वह विशिष्ट दृष्टि प्रदान करता है जो उसे उच्च भावभूमि की ओर अग्रसर करती है। किन्तु इसमें वास्तविकता के अभाव के कारण यांत्रिकता तथा निर्जीवता की आशंका है। प्रेमचन्द ने इन दोनों वादों की सफलताओं तथा दुर्बलताओं का उल्लेख करते हुए आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासों को ही श्रेष्ठ माना है।[१] इन उपन्यासों के प्रारम्भ में यथार्थ-चित्रण होता है तथा इनका पर्यवसान आदर्शवादी हुआ करता है। ('गोदान' : १९३६ : प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) के पूर्व) गुरुदत्त : १८०७ :, विष्णुप्रभाकर : १९१२ : उषादेवी मित्रा : १८९७ : आदि ने इसी धारा के उपन्यासों का प्रणयन किया है।

परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण

४१- प्रत्येक देश के प्रत्येक प्रान्त और स्थान की प्राकृतिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक विशेषता होती है। इसी प्रकार उपन्यासों के देश-काल तथा वातावरण के चित्र में भी विशिष्टता होती है। कुछ उपन्यासों में इनके (देश-काल तथा वातावरण के) चित्रण का विशेष महत्व होता है और कुछ में कम। परिप्रेक्ष्य के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है -

---

१- "इसलिए वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं, जहां यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।" — प्रेमचन्द : 'कुछ विचार' : वाराणसी, १९३६,

१- ऐतिहासिक उपन्यास २- सामयिक उपन्यास ३- आंचलिक उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यास

४२- ऐतिहासिक उपन्यासों में किसी देश के काल-विशेष के विशिष्ट वातावरण की उद्‌भावना होती है। जिस प्रकार नीले और पीले रंग के संयोग से एक नए ही धानी रंग की सृष्टि हो जाती है उसी प्रकार साहित्य और इतिहास के मिलन से एक अभिनव प्रकार के उपन्यास रूप की सृष्टि हुई है जिसे ऐतिहासिक उपन्यास कहा जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास का उतना ही अंग है जितना कि कथा-साहित्य का। यह एक कथा है तथा लेखक की मौलिक उद्‌भावना भी है, बस इसकी एक आवश्यक शर्त है- अतीत जीवन के प्रति सच्चाई। इसमें नीरस विवरण मात्र नहीं होता, इसमें उस सत्य का प्रतिफलन हो जाता है जो इतिहास के क्षेत्र से परे है। इतिहास में महान् घटनाओं, वृत्तों, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक आन्दोलनों का चित्रण होता है किन्तु इनमें आन्तरिक दृष्टिजन्य मानवीय संस्पर्श का अभाव होता है। इतिहासकार जहां विफल हो जाता है वहां उपन्यासकार सफल होता है। उपर्युक्त त्रुटि का परिहार उपन्यासकार की कल्पना के द्वारा हो जाता है। जिस प्रकार एक शिल्पी न चाहते हुए भी मूर्ति-निर्माण के क्षण में अपने व्यक्तित्व का पुट देता है, जिससे सौन्दर्यवृद्धि हो जाती है उसी प्रकार उपन्यासकार भी उपन्यास लिखते समय इतिहास में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा कर देता है। व्यक्तित्व के संस्पर्श के कारण उस स्थल पर उसका चित्र सजीव तथा सशक्त हो जाता है जहां पर इतिहास मौन तथा शांत रहता है। इतिहास के ढांचे में मांस तथा रक्त का संचार उपन्यासकार करता है। इसके लिए वह जनश्रुतियों, दन्तकथाओं तथा स्थान-विशेष की परम्पराओं का आश्रय ग्रहण करता है। ऐतिहासिक उपन्यास में इनका योगदान उल्लेखनीय है। इन्हीं के कारण विशिष्ट युग की प्रतीति होती है। यह तभी संभव है जब कि उपन्यासकार की प्रवृत्ति स्वच्छन्दतावादी हो। स्वच्छन्दतावादी प्रकृति के कारण वह गड़े हुए शवों की वाणी सुन सकता है, नीरव, निःशब्द जीर्ण-शीर्ण इमारतें भी उसे अपने अतीत के वैभव से चमत्कृत कर सकती हैं तथा विगत अतीत चित्र उसके लिए सजीव हो जाते

स्वच्छन्दतावाद

४३- जो विगत है, जो वस्तु नष्ट हो चुकी है तथा भविष्य में जिसकी प्राप्ति की संभावना नहीं है, उसके प्रति ललकभरी चाह तथा व्यथा मिश्रित आह ही स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति है। उपन्यासकार विगत के प्रति तीव्र भावात्मक स्नेह से अनुप्राणित होकर अतीतोन्मुख होता है। फलत: गड़े मुर्दे भी अंगड़ाई लेकर जग उठते हैं, चिता में भस्म शरीर साहित्य में पुन: उसी तेज, शक्ति और गति के साथ अवतरित होता है। इस प्रवृत्ति के अभाव में सफल ऐतिहासिक उपन्यास की रचना नहीं हो सकती। ऐतिहासिक विवरण मात्र से ऐतिहासिक उपन्यास की सृष्टि नहीं हो सकती है। शिल्प की दृष्टि से उन उपन्यासों का महत्व नहीं है जिनमें ऐतिहासिक वातावरण की उद्भावना नहीं हो सकी है। वह उपन्यास विफल है जहां उपन्यासकार को उपन्यास में घोषणा करनी पड़े कि यह अंश ऐतिहासिक है। यदि ऐतिहासिक उपन्यास में ऐतिहासिकता अक्षुण्ण है किन्तु उपन्यासत्व का अभाव है तो भी उपन्यास विफल है। शिल्प की दृष्टि से वही उपन्यास सफल है जिनमें देश-काल तथा विशिष्ट वातावरण की सफल उद्भावना होती है, प्रत्येक क्षेत्र का निश्चित प्रभाव वहां के निवासियों के मानसिक, शारीरिक आर्थिक, धार्मिक धरातल पर पड़ा करता है। वहां का विशिष्ट वातावरण ही वहां के निवासियों की प्रकृति का जनक हुआ करता है। अतएव ऐतिहासिक उपन्यासों में सांस्कृतिक तथा भौतिक दोनों ही दृष्टि से देश-काल-चित्र प्रस्तुत होता है। यथार्थता का प्रतीति के लिए इसका अत्यधिक महत्व है। ऐतिहासिक उपन्यास भांति-भांति के लिखे गए हैं, इतिहास के उपयोग की दृष्टि से मुख्यत: दो प्रकार के उपन्यास होते हैं उनकी दो प्रकार की शैलियां भी होती हैं:---

क- विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास

ख- ऐतिहासिक रोमांस

विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास : आंगिक पद्धति

४४- उपन्यासकार अपनी कल्पना रोमांस प्रवृत्ति तथा ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर ही उपन्यास का सृजन करता है। फलत: इसके कथानक, चरित्र-चित्रण तथा वातावरण में पूर्ण ऐतिहासिकता अक्षुण्ण रहती है। विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना आंगिक प्रणाली में हुआ करती है। इस पद्धति में इतिहास से उपलब्ध-

सामग्री का उपयोग तथा चयन अपनी योजनानुसार करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उपन्यासकार उपन्यास में केवल ऐतिहासिक विवरण ही प्रस्तुत करता है तथा इनमें कल्पना का अभाव होता है। उपन्यासकार कथानक के चयन, पात्र-चित्रण में कल्पना का आश्रय ग्रहण करता है। ऐतिहासिक घटनाओं तथा चरित्रों के अतिरिक्त काल्पनिक घटनाओं तथा पात्रों एवं उनके वार्तालाप की अवतारणा करता है। परन्तु उसके शिल्प की सफलता इस तथ्य में निहित है कि ये इतिहास-विरोधी ही न हों, प्रत्युत इतिहास तथा इसमें अद्भुत सामंजस्य हो। आंगिक पद्धति में प्रस्तुत उपन्यासों में इतिहास में परिवर्तन नहीं हो सकता है। वृन्दावनलाल वर्मा :१८८६: की 'झांसी की रानी -लक्ष्मीबाई' :१६४६: सत्यदेव विद्यालंकार :1903: का 'विष्णुगुप्त चाणक्य' :१६५४: आदि ऐसे ही उपन्यास हैं।

ऐतिहासिक रोमांस : कृत्रिम प्रणाली

४६- विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की तुलना में ऐतिहासिक रोमांस में कल्पना को अधिक स्थान प्राप्त होता है। इन उपन्यासों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कथानक तथा चरित्र-चित्रण ऐतिहासिक हो। इनमें ऐतिहासिक वातावरण अपेक्षित है। इसी का प्राधान्य होता है। परन्तु कथा तथा चरित्र की सृष्टि काल्पनिक हो सकती है। किन्तु इनमें इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह ऐतिहासिकता का अनुभव करा सकें। कृत्रिम प्रणाली में प्रस्तुत उपन्यासों में इतिहास में संशोधन भी किया जा सकता है, इसे उपन्यास के अनुकूल भी बनाया जा सकता है। किन्तु यहां यह भी आशंका है कि कहीं उपन्यास केवल कल्पना की उड़ान मात्र न हो जाए। इसके लिए सफल ऐतिहासिक कल्पना अपेक्षित है। 'विराटा की पद्मिनी' :१६३६:, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' :१६४६: आदि ऐसे उपन्यास हैं। विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास तथा ऐतिहासिक रोमांस -दोनों ही में आंगिक तथा कृत्रिम पद्धति का उपयोग होता है। उपन्यासकार अपनी प्रतिभा तथा विषयवस्तु की उपयुक्तता की दृष्टि से इनका प्रयोग करता है। गीति के द्वारा कविता जिस प्रकार सशक्त होती है उसी प्रकार इतिहास के द्वारा ऐतिहासिक उपन्यास सफल तथा जीवन्त होते हैं। सामाजिक उपन्यास तथा ऐतिहासिक उपन्यास का शिल्प लगभग एक-सा होता है। किन्तु वातावरण ही उन्हें सामाजिक उपन्यास से भिन्न करता है। शिल्प की दृष्टि से सफल ऐतिहासिक उपन्यास में जहां ऐतिहासिकता की रक्षा अनिवार्य है वहां यह भी आवश्यक है कि उसमें कल्पना भी अक्षुण्ण रहे।

समसामयिक उपन्यास

४६- ऐतिहासिक उपन्यास तथा समसामयिक उपन्यासों का शिल्प एक ही है। किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास का सम्बन्ध अतीत काल से होता है। समसामयिक उपन्यासों का सम्बन्ध समसामयिक जीवन तथा समस्याओं से होता है। इनमें तत्कालीन जीवन के यथार्थ को कल्पना से अधिक महत्त्व होता है। प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: तथा गुरुदत्त :१८०६: के उपन्यास समसामयिक हैं। ये समसामयिक जीवनके इतिहास हैं।

आंचलिक उपन्यास

४७- जब किसी उपन्यास में अंचल विशेष के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य का चित्रण होता है, तब उसे आंचलिक उपन्यास के नाम से अभिहित किया जाता है। आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष की संस्कृति, वहां के निवासियों के मानसिक, भौतिक, बौद्धिक, धार्मिक धरातल का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत होता है। इसमें उस स्थान विशेष का भौगोलिक वर्णन तथा वहां की वनस्पति तथा प्रकृति का चित्र अंकित होता है। फलतः इसके कथानक की गति मन्द होती है। चरित्र-चित्रण में यथार्थता होती है। पात्र वर्गवादी होते हैं। कथोपकथन शिल्प लोकभाषा के प्रयोग से जीवन्त प्रतीत होता है। इसकी शैली में प्रकाशचित्रीय यथार्थता दृष्टिगत होती है। 'मैला आंचल' :१९५४:, शिल्प की दृष्टि से सफल आंचलिक उपन्यास है।

निष्कर्ष :-

४८- उपन्यासों का वर्गीकरण विभिन्न दृष्टि से हो सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से मौलिकता, विषयवस्तु, अन्त तथा शैली की दृष्टि से भी उपन्यासों का वर्गीकरण किया जा सकता है। उपन्यास मौलिक है अथवा अनूदित -- इस आधार पर समस्त उपन्यास दो वर्गों के अन्तर्गत आ जायेंगे। वे उपन्यास जो अन्य किसी साहित्य के आधार पर रचित नहीं हैं, उन्हें मौलिक उपन्यास के नाम से अभिहित किया जाएगा तथा, वे उपन्यास जो अन्य भाषाओं में लिखे गए हैं, हिन्दी में जब वे रूपान्तरित होते हैं, तो उन्हें अनूदित उपन्यास के नाम से सम्बोधित किया जाता है। विषय-वस्तु के अनुसार भी, मौलिक उपन्यास विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, यथा-

सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, पौराणिक, क्रान्तिकारी, मनोवैज्ञानिक आदि। उपन्यास में जिस विषय की प्रधानता होगी उसी के आधार पर वह सम्बोधित होगा। यथा- यदि उसमें पारिवारिक समस्याओं का प्राधान्य है तो वह पारिवारिक, अथवा यदि उसमें व्यक्ति का प्राधान्य है तो वह वैयक्तिक उपन्यास कहलाएगा। जिन उपन्यासों का ताना-बाना सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक सूत्रों से बुना जाता है उन्हें क्रमशः सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक उपन्यास कहते हैं। इसके अतिरिक्त, उपन्यासों के अन्त की दृष्टि में रख कर भी उपन्यासों का वर्गीकरण हो सकता है -- सुखान्त, दुखान्त तथा प्रसादान्त। वे उपन्यास जिनकी समाप्ति विवाह, मिलन, अथवा सुखद प्रसंग के साथ होती है उन्हें सुखान्त तथा जिन उपन्यासों के अन्त में विरह, वियोग, मृत्यु अथवा दुखद घटनाओं का चित्रण होता है उन्हें दुखान्त उपन्यास के नाम से सम्बोधित किया जाता है। इसके अतिरिक्त, एक प्रकार के ऐसे भी उपन्यास होते हैं जिनमें सुख-दुख, हर्ष-वेदना दोनों ही अन्त में सुग्रथित होते हैं इन्हें प्रसादान्त कहते हैं। शैली की दृष्टि से भी उपन्यासों का वर्गीकरण हो सकता है : जैसे - जीवनी-उपन्यास, आत्मकथात्मक उपन्यास, पत्रात्मक उपन्यास आदि।

४८ किन्तु उपन्यासों का यह वर्गीकरण पूर्ण तथा न्यायसंगत नहीं है। उपन्यास एक कला है। कला अविभाज्य है। इसलिए एक प्रकार के उपन्यासों को अन्य प्रकार के उपन्यासों से पूर्णतः पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रत्येक प्रकार के उपन्यासों की कुछ शिल्पगत विशेषताएं होती हैं। किन्तु उपन्यास की शक्ति की अभिवृद्धि के लिए एक प्रकार पश्चात् में भिन्न प्रकार के उपन्यासों की विशेषता का समावेश किया जाता है। यथा सामाजिक उपन्यासों में प्रसंगवश ऐतिहासिक वातावरण के समावेश से उपन्यास में गरिमामयी समावेश हो जाता है : यथा- 'कंकाल' :१९२९: में। मनोवैज्ञानिक उपन्यास, जिसमें कथानक नगण्य होता है उसमें भी सामाजिक समस्याओं का विशद चित्र अंकित हो सकता है। समाज के गहन अध्ययन के फलस्वरूप ये उपन्यासकार जहां गहरे मानवीय स्पर्शों का मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित करते हैं वहां ये समाज का सफल चित्र भी प्रस्तुत कर देते हैं : यथा--- 'शेखर-एक जीवनी' :१९४०: 'जहाज का पंछी' :१९५५: आदि में। ऐतिहासिक परिवेश में भी किसी भी वाद से प्रभावित रचना मनोवैज्ञानिक, आदर्शवादी, गांधीवादी, अथवा प्रगतिवादी हो सकती है। नाटकीय उपन्यास जिनमें गतिशील

पात्रों का ही प्राधान्य होता है, उनमें चरित्र प्रधान उपन्यास के स्थिर पात्र भी प्रविष्ट हो जाते हैं जिससे उपन्यास विश्वसनीय तथा स्वाभाविक प्रतीत हों। इसी प्रकार कथानक प्रधान साहित्यिक उपन्यासों में चरित्र की उपेक्षा संभव नहीं है। आज हिन्दी में ऐसे अनेक उपन्यास लिखे जा रहे हैं जिनमें कथानक तथा चरित्र-चित्रण दोनों का ही समान महत्व है यथा- 'चित्रलेखा' :१६३४:, 'गोदान' :१६३६: 'वचन का मोल' :१६३६: आदि। यूं प्रत्येक उपन्यास की रूप-रचना अन्य प्रकार से भिन्न हुआ करती है। वह स्वयं में एक प्रकार होता है। आज उपन्यास-कला अत्यन्त जटिल होती जा रही है। अतएव उपन्यासों का पूर्ण वर्गीकरण अत्यधिक दुष्कर है। कुछ उपन्यासों का वर्गीकरण भी विवादास्पद है यथा- 'चित्रलेखा' :१६३४: 'वचन का मोल' :१६३६: 'जीवन की मुस्कान' :१६३६: 'बहती गंगा' :१६५२: आदि। 'चित्रलेखा' :१६३४: जहां समस्याप्रधान उपन्यास है वहां वह ऐतिहासिक वातावरण के चित्रण के कारण ऐतिहासिक उपन्यास के अन्तर्गत भी आएगा। 'वचन का मोल' :१६३६: तथा 'जीवन की मुस्कान' :१६३६: भावात्मक तथा आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास हैं और दर्शन की दृष्टि से वे गांधीवादी उपन्यास हैं। इसी प्रकार 'बहती गंगा' :१६५२: में दो सौ वर्षों के काशी का इतिहास चित्रित हुआ है। अतएव यह ऐतिहासिक है तथा यह आंचलिक उपन्यास भी है क्योंकि काशी जनपद के दो सौ वर्षों का चित्रण इसमें हुआ है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उपन्यासों का वर्गीकरण सामान्यतया हो सकता है परन्तु ऐसा वर्गीकरण संभव नहीं है जो एक प्रकार से उपन्यास को अन्य प्रकार से पूर्णतः असंपृक्त कर सके।

अध्याय - 3

उपन्यास- शिल्प

१- साहित्य के अन्य रूपों की भांति ही उपन्यास के लिए भी आकार, रूप तथा रचना की आवश्यकता होती है। मात्र आकार, रूप, रचना की दृष्टि से ही उपन्यास का श्रेष्ठत्व सिद्ध नहीं हो सकता है। कुछ उपन्यास ऐसे भी होते हैं जो वृहताकार होते हैं परन्तु उनमें प्रस्तुत जीवन के चित्र अपूर्ण, अनावश्यक तथा अप्रासंगिक होते हैं। यथा- सेठ गोविन्ददास (१८९६) कृत "इन्दुमती" :१९५०:, अमृतराय :१९२१: कृत "बीज" :१९५३: आदि। कुछ का आकार संक्षिप्त होता है परन्तु वे उल्लेखनीय होते हैं यथा- जैनेन्द्र :१९०५: कृत "परख" :१९३०: एवं "त्यागपत्र" :१९३७: तथा उषादेवी मित्रा :१८९७: कृत "वचन का मोल" :१९३६: आदि। कुछ उपन्यासों की रूप-रचना उल्लेखनीय होती है यथा -नरेश मेहता का "डूबते मस्तूल" :१९५४:, नरोत्तमप्रसाद नागर का "दिन के तारे" : ? : आदि। किन्तु ये उपन्यास विफल प्रयोग ही करके हो रह जाते हैं। यहां एक प्रश्न उठता है कि उपन्यास की सफलता के लिए विषय वस्तु का अधिक महत्व है अथवा उसके शिल्प का ? अधिकतर उपन्यास ऐसे भी होते हैं जिनका कथानक अच्छा होता है। किन्तु उनका शिल्प इतना अधकचरा तथा अपरिपक्व होता है कि वे उपन्यास असफल हो जाते हैं यथा- मन्नन द्विवेदी कृत "रामलाल" :१९१७:, धनीराम प्रेम कृत मेरा देश, अवधनारायण कृत "विमाता" :१९२५: श्रीनाथसिंह का "जागरण" :१९३७: राहुल सांकृत्यायन कृत "जीने के लिए" :१९४०:, सिंह सेनापति :१९४२: आदि। उपन्यास में विषयवस्तु तथा शिल्प दोनों का ही समान महत्व होता है। सुगठित पुस्तक में विषय तथा रूप एकाकार तथा अभिन्न हो जाते हैं[1]। यदि उपन्यास की रचना पद्धति में अस्पष्टता है तो इसका यह तात्पर्य है कि लेखक के चिन्तन में कुछ कमी है। इसीलिए विषय वस्तु में अस्पष्टता है। उपन्यास एक कला है। प्रत्येक कला के कुछ सिद्धान्त, मान्यताएं तथा आदर्श होते हैं। उपन्यासकार का दर्शन, चिन्तन

---

१. "The well-made book is the book in which the subject and the form coincide and are in-distinguishable". — पर्सी लुब्बाक — "दी क्राफ्ट ऑफ फिक्शन" :१९६०, लंदन, पुन: मुद्रित तथा प्रकाशित पृ० ९

तथा विषयवस्तु शिल्प के माध्यम से ही व्यक्त होते हैं । अतएव यह जानना आवश्यक है कि उपन्यास शिल्प क्या है ? उपन्यास शिल्प शब्द अस्पष्ट है । जिस प्रकार पवन सर्वत्र व्याप्त होता है किन्तु उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता,उसी प्रकार इसका भी प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता है ।

२- पाश्चात्य विचारकों ने उपन्यास शिल्प पर विभिन्न बिन्दुओं से प्रकाश डाला है । लेखकों ने उन तत्वों का विश्लेषण तथा विवेचन किया है जिनकी समष्टि ही उपन्यास शिल्प है । हिन्दी में शिल्प शब्द का अर्थ है कारीगरी तथा विधि का अभिप्राय है प्रणाली । अतएव शिल्पविधि का अर्थ हुआ उपन्यास के प्रस्तुत करने की प्रणाली । अतएव शिल्पविधि के अन्तर्गत वे समस्त तत्व आ जाते हैं जो उपन्यास रूप का निर्माण करते हैं । वे तत्व क्या है ? लैथरोप ने उपन्यास के विविध उपकरणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि प्रत्येक कहानी के तीन अनिवार्य तत्व होते हैं: विशेष परिस्थिति में कुछ लोगों के द्वारा कुछ घटित होता है । कार्यों का होना, कार्यविधान कथा ही है, अथवा जब :वह: निश्चित रूप से सुगठित होता है तो वह कथानक है । कार्य करते हुए व्यक्ति चरित्र हैं । स्थिति के अन्तर्गत कुछ कार्य होते हैं वे परिप्रेक्ष्य का निर्माण करते हैं ।[१] यहां उपन्यास के तीन प्रमुख तत्वों पर प्रकाश पड़ता है - कथानक, चरित्र तथा परिप्रेक्ष्य । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तत्व भी हैं - संवाद तथा शैली । संवाद के अभाव में उपन्यास नीरस हो जायेगा । शैली के बिना उपन्यास की कल्पना ही संभव नहीं है । उपन्यास के प्रस्तुतीकरण की योजना ही शैली है तथा भाषा-शैली के बिना उपन्यास का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा । इस प्रकार से उपन्यास-शिल्प के निम्नलिखित तत्व हुए -----

१- कथानक
२- चरित्र
३- कथोपकथन
४- परिप्रेक्ष्य
५- क- शैली
   ख- भाषा शैली

१- "Every story, of course, has three necessary elements: something done, by some body under some conditions. The things done, the transaction is the fable, or when definitly organised the plot. The persons doing are characters; The condition under which the things are done constitute the setting."

-एच०बी०लैथरोप: 'दी आर्ट ऑफ दी नोवेलिस्ट' :लंदन, १९२१,प्र०सं०पृ०

के संवादों में ही उपन्यासकार का व्यक्तित्व जो उसके दृष्टिकोण का परिचायक है, प्रतिफलित होता है। प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) के उपन्यासों में शोषितों के प्रति सहानुभूति, शोषकों के प्रति घृणा कथानक-योजना तथा संवादों के माध्यम से ही व्यक्त हुई है। प्रगतिवादी उपन्यासों में गांधीवादी पात्रों के प्रति लेखक का आक्रोश प्रकट हुआ है किन्तु उपन्यास नीति-शास्त्र का ग्रन्थ नहीं है। यह एक कला है। इसलिए आवश्यक है कि उसका दृष्टिकोण उपन्यास का अंग बन कर प्रकट हो क्योंकि उपन्यास पैम्फलेट मात्र नहीं है। शिल्प की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उपन्यासकार का दृष्टिकोण प्रच्छन्न रूप से व्यक्त हो। उपन्यासकार के लिए यही श्रेष्ठ होगा कि वह अपने विचार, तथा व्यक्तित्व को किसी पात्र विशेष में समाहित कर दे। उसकी उपस्थिति से उपन्यास-शिल्प पर आघात होता है। यदि उपन्यासकार अप्रच्छन्न रूप से उपन्यास में बार-बार प्रकट होता है तो उपन्यास नीरस ही नहीं हो जाता, प्रत्युत वह नीतिशास्त्री की रचना हो जाता है। उन उपन्यासकारों की प्रशंसा होती है जो जीवन के प्रति सच्चे होते हैं जो रोमांच और उत्तेजना के लिए मानवों के नैतिक जीवन को दूषित नहीं करते, जिनका हास्य यथार्थ तथा कृत्रिम और जिनका दुःख वास्तव में अनुभूत होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उपन्यासकार के दृष्टिकोण का प्रभाव उसकी रचना-पद्धति पर भी पड़ता है। यदि उसका जीवन-दर्शन, स्वरूप, सुरुचिपूर्ण तथा वर्गीय नहीं है तब उसका उपन्यास भी विषयवस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से अच्छा हो सकता है। दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण ही उपन्यास के स्वरूप में विभिन्नता दृष्टिगत होती है। आदर्शोन्मुख यथार्थवादी तथा गांधीवादी उपन्यासों में समस्याओं का समाधान काल्पनिक होता है, प्रगतिवादी उपन्यासों में यह सिद्ध करने का प्रयास हुआ है कि मार्क्सवाद के द्वारा ही इन समस्याओं का समाधान संभव है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का चरित्र-शिल्प इन सबसे भिन्न है। वहां उपन्यासकार उन कारणों पर प्रकाश डालना चाहता है जो उसकी चरित्र-विकृति के मूल में हैं। इन

यह परिभाषा समीचीन प्रतीत होती है क्योंकि कार्य-कारण की शृंखला में आबद्ध कथा-दृश्य-योजना ही कथानक है। होगराथ ने कथानक को एक कल्पना के रूप में अंगीकार किया है। 'उपन्यास का कथानक एक कल्पना, घटनाओं की ऐसी कृत्रिम व्यवस्था है जो पाठक की अभिरुचि अन्त तक बनाए रखती है जहां कि कहानी केवल तथ्य पर आधारित घटनाओं के युक्तियुक्त क्रम से पूर्ण गद्यात्मक कथन मात्र है'[1]।

६- थियोडोर ड्रेजर ने घोषणा की थी कि समस्त महान् उपन्यासों में कथानक नगण्य होता है। वस्तुत: जहां पर कथानक नहीं होता वहां साहित्यिक विशिष्टता [illegible] होती है। महान् उपन्यासों में कथानक के अभाव का कारण है कि वह चरित्रों के [illegible] बौद्धिक कार्यकलाप में हस्तक्षेप करता है[2]। इस कथन में आंशिक सत्यता है। अनेक लब्धप्रतिष्ठ पाश्चात्य तथा प्राच्य उपन्यासकारों ने कथानक की उपेक्षा नहीं की है और उनके उपन्यास विख्यात हैं, यथा- तालस्ताय कृत 'एना करीनिना', मोपासॉ कृत 'ए वीमेंस लाइफ', भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' (१९३४), हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६)। जहां पात्र के अन्तश्चेतन का ही प्राधान्य होता है, जहां चरित्र-चित्रण ही प्रमुख होता है वहां अवश्य कथानक गौण हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उपन्यास-शिल्प में कथानक का महत्व नगण्य है। अधिकतर पाठक कहानी के प्रेमी होते हैं। कहानी तथा कथानक में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। कहानी के द्वारा उपन्यासकार एक प्रकार की व्यवस्था स्थापित कर देता है जिससे पात्र निरुद्देश्य दिग्भ्रमित न हों। कहानी वस्तुत: पात्रों के कार्यों की उपलब्धि है।

१- 'A plot for a novel is a contrivance, an artificial arrangement of incidents so contrived as to keep up the readers interest until the very end where as a story is, of course, merely the bald statement of prosaic incidents of facts in their logical sequence.'
- बेसिल होगराथ : 'दी टेकनीक ऑफ नॉवेल राइटिंग' : १९३४, लंदन, पृ०सं०, पृ०४९

२- वही : पृ० ५१

कहानी तथा कथानक

७- उपन्यास तथा कहानी का अभिन्न सम्बन्ध है । कुछ के अतिरिक्त समस्त उपन्यासों में कहानी प्रस्तुत होती है । ई०एम० फॉर्स्टर के अनुसार कहानी उपन्यास का प्रमुख तत्व है । शरीर में जो स्थान रीढ़ की हड्डी का है, उपन्यास में कहानी का वही स्थान है । उन्होंने लिखा है " कलेवा के अनन्तर सायं भोजन, सोमवार के उपरांत मंगल, नाश के पश्चात् मृत्यु आदि कालगत क्रम से क्रमबद्ध घटनाओं की श्रृंखला कहानी है"[१]। उपन्यासकार का लक्ष्य सुन्दर कहानी सुनाना है तथा यह उपन्यासकार की कला की कसौटी है । सामान्यत: कहानी के द्वारा ही उपन्यास में आदि से अन्त तक रोचकता बनी रहती है । प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: तथा वृन्दावनलाल वर्मा:१८८९: कहानी कहने में पटु हैं । किन्तु उपन्यास में प्रस्तुत कहानी तथा सामान्य कथा में अन्तर हो सकता है । उपन्यास में व्यक्ति और व्यक्ति, व्यक्ति तथा समाज या प्रकृति अथवा भाग्य के संघर्ष की कहानी प्रस्तुत होती है । परन्तु इस कहानी का प्रस्तुतीकरण विशिष्ट रीति से होता है । यह कहानी कार्य-कारण — श्रृंखला में आबद्ध होकर प्रस्तुत होती है इसलिए वह कथानक के नाम से अभिहित होता है ।

कथानक का विभाजन

८- व्यावहारिक दृष्टि से हम कथानक को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं --

१- आदि

२- मध्य

३- अन्त

आदि

९- उपन्यास का आदि महत्वपूर्ण होता है । तथा अत: इसी पर उपन्यास का भविष्य निर्भर होता है । यदि उपन्यास का आदि कुतूहलवर्द्धक, रोचक तथा हृदयग्राही

१- It is a narrative of events arranged in their time sequence - dinner coming after breakfast, tuesday after monday, decay after death and so on.

--ई०एम०फॉर्स्टर: 'एस्पैक्ट्स ऑफ दी नॉवेल' १९४६, लंदन, पृ० २९

न हो तो उसकी सफलता संदिग्ध है। कुछ उपन्यासों का आदि रोचक तथा कुतूहलवर्द्धक प्रतीत होता है, किन्तु इससे उपन्यास का कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह भूमिका मात्र होता है। उपन्यास का प्रारम्भ भिन्न भिन्न प्रकार से होता है। कुछ उपन्यासों का प्रारम्भ प्रकृति-चित्रण, स्थान, काल अथवा युग चित्रण से होता है। कुछ का प्रारम्भ पात्रों के संवाद से होता है। संवादात्मक प्रारम्भ श्रेष्ठ प्रतीत होता है क्योंकि यह विवरणविहीन और नाटकीय होता है किन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि वही आदि श्रेष्ठ है। शिल्प की दृष्टि से वही आदि सफल है जो प्रभावशाली हो तथा जो केवल भूमिका मात्र न हो प्रत्युत उसका उपन्यास में महत्व हो। यथा-'कंकाल':१९२९:। घटनात्मक उपन्यासों को दृष्टि में रख कर हौगराथ ने लिखा है कि जिन उपन्यासों का प्रारम्भ आगन्तुक के नगरप्रवेश, निर्वासन के पश्चात् पुनरागमन, नायक के मस्तिष्क पर मृत्यु का प्रभाव, सगाई अथवा आकस्मिक घटना से होता है, वे आदि की दृष्टि से अच्छे नहीं समझे जाते हैं।[१] इस प्रकार का प्रारम्भ भी अच्छा हो सकता है यदि उपन्यासकार ने कुतूहल जाग्रत किया है तथा इससे मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का सफल चित्रण अंकित किया है।

मध्य

१०- जिस समस्या को लेकर उपन्यास प्रारम्भ होता है, उसी का विकास मध्य में होता है। शिल्प की दृष्टि से मध्य की विशेषता है कि इसका विकास सहज स्वाभाविक रीति से हो। इसमें एक घटना दूसरे की ओर शीघ्रता से अग्रसर हो रही हो तथा उसमें स्वत: सहज स्वाभाविक गति और प्रवाह हो। उपन्यास में वर्णित समस्त घटनाएं स्वत: ही अन्त की ओर अग्रसर हो रही हों। इसका विकास इस प्रकार होना चाहिए कि वह विश्वसनीय प्रतीत हो। वह उपन्यासकार द्वारा आरोपित न लगे, प्रत्युत घटनाओं की सहज स्वाभाविक परिणति प्रतीत हो। स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता मध्य का प्राण है। कथानक की समस्त विशेषताएं प्राय: मध्य में ही दृष्टिगत होती हैं।

१- बेसिल हौगराथ : 'दी टैकनीक आफ नॉवेल राइटिंग' :१९३४, लंदन, पृ०सं० ८१

अन्त

११- उपन्यास का अन्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि यही वह बिन्दु तथा लक्ष्य-स्थल है जिसके लिए उपन्यास के रूप - विधान की रचना हुई । यह अन्त ही है जो पूरे उपन्यास में एकता तथा प्रभावान्विति की सृष्टि करता है क्योंकि प्रत्येक घटना, दृश्य, पात्र के कार्यकलाप का लक्ष्य यही है । अन्त यदि प्रभावपूर्ण है तो उपन्यास सफल है क्योंकि इसका प्रभाव स्थायी होता है । शिल्प की दृष्टि से वही अन्त दर्शनीय है जो अपूर्ण नहीं प्रतीत होता । अन्त के उपरान्त यह अनुभूति नहीं होनी चाहिए कि कुछ शेष रह गया है । विशिष्ट कार्य अथवा भाषण के द्वारा श्रेष्ठ अन्त पाठकों की कल्पना को उत्तेजित करता है । बेसिल हौगराथ के अनुसार वास्तविक अन्त प्राय: एक दार्शनिक श्रार :तनाव : होता है। इसके लिए केवल एक वाक्य अपेक्षित है, किन्तु प्राय: यह विचार विषयवस्तु अथवा उपन्यास की नैतिकता का सारांश होता है[१]। यदि अन्त सफल नहीं है तो इसका अर्थ है कि उपन्यासकार ने मस्तिष्क में कथा को परिपक्व नहीं होने दिया है । श्रेष्ठ उपन्यासों में अन्त तथा आदि में सम्बन्ध होता है । यह अन्त जितना ही व्यंजनात्मक होता है उतना ही श्रेष्ठ होता है। उपन्यासों का अन्त प्राय: दो रूपों में होता है । श्रेष्ठ उपन्यास चरम सीमा पर समाप्त हो जाते हैं ।

चरम सीमा

१२- चरम सीमा वह स्थल होता है जहां उपन्यास अथवा कहानी या नाटक में मुख्य कथा चरमोत्कर्ष को प्राप्त होती है ।उपन्यास की समस्त घटनाओं की अवस्थिति इस बिन्दु के लिए हुआ करती है । बढ़ती हुई तीव्रता के साथ लक्ष्य का प्रत्यावर्तन चरम सीमा कहानी के ढांचे को एकता तथा निश्चित रूप प्रदान करने का साधन है[२]। चरमसीमा के द्वारा ही उपन्यास में एकता दृष्टिगत होती है क्योंकि

- The actual ending is often in a philosophic strain it need only be a sentence, but it usually summaris the point, the theme or moral of the novel.

-बेसिल हौगराथ: 'दी टेकनीक आफ नॉवेल राइटिंग' : १९३४, लंदन, पृ०सं०पृ०८६

Recurrence of a motive with an increase in intensi climax - is a means of giving definiteness and unity to the structure of narrative.

-एच०बी०लैथरोप: 'दी आर्ट ऑफ दी नावलिस्ट : १९२१, लंदन पृ०सं० पृ०८५

सफल उपन्यास की घटनाओं का लक्ष्य यही बिन्दु होता है। कार्य के उत्थान से पतन का अवस्थान्तर चरमसीमा या परमोत्कर्ष है।[1] किन्तु केवल उत्थान से पतन ही नहीं, प्रत्युत पतन से उत्थान का बिन्दु भी चरम सीमा होता है। फलत: यह बिन्दु ही कथासाहित्य का प्राण है। अतएव चरमसीमा वह स्थिति हुई, जहां कथा की गति तीव्रतम होती है। संघर्ष यहां पर प्रबलतम स्थिति में होता है। जो वेग नदी और वारिनिधि के मिलन में होता है, कुछ कुछ वैसा ही वेग तथा प्रवाह उस स्थल पर होता है। यहां पर जो उपन्यास समाप्त होते हैं वे अधिक प्रभावशाली तथा मार्मिक होते हैं। चरमसीमा के उपरान्त अवसान की स्थिति प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए शिल्प की दृष्टि से यही उचित है कि चरम सीमा के अनन्तर शीघ्रातिशीघ्र उपन्यास समाप्त हो जाय।

उपसंहार

१३- कुछ ऐसे भी उपन्यास होते हैं जो चरमसीमा के अनन्तर ही समाप्त नहीं होते हैं। उपन्यासकार को कुछ कहना शेष रह जाता है। कहानी की समाप्ति तथा पात्र-चित्रण के लिए उपन्यास चरमसीमा के उपरान्त भी चलते रहते हैं। हिन्दी में अधिकतर उपन्यासों का अन्त उपसंहार रूप में हुआ है। यह भी प्राय: देखा जाता है कि जिन उपन्यासों का अंत एक कथा की समाप्ति के साथ न होकर विभिन्न कथाओं की समाप्ति के साथ हुआ करता है, उन उपन्यासों में चरम सीमा का अभाव होता है। इसका कारण यह है कि विभिन्न कथाओं के उत्कर्ष के कारण चरमसीमा जैसी स्थिति की संभावना नष्ट हो जाती है। 'गबन' :१९३०:, कर्मभूमि':१९३२:'मैला आंचल':१९५४: आदि ऐसे ही उपन्यास हैं। इसके अतिरिक्त, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में चरमसीमा का अभाव होता है क्योंकि वहां कथानक नगण्य होता है। किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि चरमसीमा के अनन्तर विस्तृत व्याख्यामूलक उपसंहार शिल्प की दृष्टि से दोषपूर्ण है। इससे अभीप्सित प्रभाव का ह्रास होता है।

---

1. The transition from the rising to the falling action is the crisis or climax.

 - एच०बी०लैथरोप :'दी आर्ट ऑफ दी नॉवेलिस्ट':१९२१,लंदन, प्र०सं० पृ० ८३

कथावस्तु की विशेषता

१४- प्रत्येक उपन्यासकार अपने कथानक को रोचक बनाने का प्रयत्न करता है। इसके लिए वह विविध उपायों का आश्रय ग्रहण करता है। कथानक में कतिपय विशेषताओं के समावेश होने से उसकी शक्ति और प्रभाव की अभिवृद्धि होती है। यहां हम उन्हीं विशेषताओं के विषय में विचार करेंगे।

कुतूहल

१५- शिल्प की दृष्टि से कथानक की कतिपय विशेषताएं हैं। इन विशेषताओं के कारण कथानक-शिल्प अच्छा माना जाता है। उपन्यास के कथानक में कुतूहल का महत्वपूर्ण स्थान है। उपन्यासकार कथानक को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उपन्यास में आदि से अन्त तक कुतूहल तत्व अक्षुण्ण रहे। प्रारम्भिक उपन्यासों में कुतूहल सृष्टि के लिए विलक्षण तथा रहस्यमय दृश्यों की योजना होती थी। किन्तु जब जनता की रुचि परिमार्जित होने लगी इस प्रकार के सस्ते मनोरंजन से उसकी तृप्ति नहीं हो पाती थी। रहस्य कथानक के लिए आवश्यक है, किन्तु बुद्धिक्रिया से हीन रहस्य को पसन्द नहीं किया जा सकता[१]। इसलिए कुतूहल को बनाये रखने के लिए उपन्यासकार विविध तर्कसम्मत उपायों का अवलम्ब ग्रहण करने लगे। उपन्यासकार किसी रोचक घटना द्वारा अथवा भविष्य संकेत द्वारा अथवा प्रमुख पात्र को विपत्ति में डाल कर पाठक की उसके प्रति उत्सुकता जाग्रत करने लगा। पाठक पात्र की विपत्ति, घात प्रतिघात तथा समस्याओं के प्रति चिन्तित हो जाता है तथा वह शीघ्रता से अन्त की प्रतीक्षा करने लगता है। इस प्रकार उपन्यासकार आदि से अन्त तक निरन्तर आशंका तथा अनिश्चय की स्थिति बनाये रखता है जिससे कुतूहल की सृष्टि होती है। कुतूहल तत्व को अक्षुण्ण रखने के लिए उपन्यासकार कभी कभी किसी घटना अथवा पात्र के सम्बन्ध में अधूरी सूचना प्रदान कर उपन्यास के किसी अन्य सूत्र को उठा लेता है। इसके अतिरिक्त, उपकथानक के द्वारा कथानक जटिल ही नहीं होता प्रत्युत रोचक तथा कुतूहलवर्द्धक भी हो जाता है। प्रेमचंद: :१८८०-१९३६:, वृन्दावनलाल वर्मा :१८८९: के उपन्यासों में यह विशेषता दृष्टिगत

---

[१] Mystery is essential to a plot, and can not be appreciated without intelligence.
-ई०एम०फार्स्टर : एस्पेक्ट्स ऑफ नावेल :१९५९, लंदन, पा०बु०ए०पृ० ८४

होती है । उपन्यासों में मानव तथा प्रकृति का संघर्ष, मानव तथा नियति का संघर्ष महान् लक्ष्य अथवा किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दो या कई व्यक्तियों के संघर्ष के द्वारा भी उपन्यासों में कुतूहल की सृष्टि होती है । शिल्प की दृष्टि से यही कुतूहल उल्लेखनीय है क्योंकि यह पलायनवादी उपन्यासों की भाँति वायवीय नहीं है । इस कुतूहल का आधार यथार्थ होता है । इस संघर्ष में वह :पाठक: अपनी आत्मा का प्रतिबिम्ब पाता है इसीलिए वह आनन्दित होता है । अनेक उपन्यासों में इसी प्रकार का कुतूहल दृष्टिगत होता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्रों के असंगत व्यवहार के प्रति कुतूहल भाव जागृत होता है ।

स्वाभाविकता तथा मनोवैज्ञानिकता

१६- शिल्प की दृष्टि से कथानक की मुख्य विशेषता है, स्वाभाविकता, सजीवता तथा मनोवैज्ञानिकता । स्वाभाविकता का अर्थ है कि उपन्यास में वर्णित कथा विश्वसनीय हो । जगत् में जिस प्रकार की घटनाएं घटित होती हैं, इसी के प्रतिरूप घटनाओं द्वारा कथावस्तु निर्मित होनी चाहिए । इसका अर्थ यह नहीं है कि ~~सफल~~ सफल उपन्यासों में व्यक्ति की जीवनगाथा यथातथ्य रूप में प्रस्तुत होती हैं । कल्पना तथा यथार्थ के उचित सामन्जस्य से उपन्यास-कला विकसित होती है । यथार्थ के अन्धानुकरण से उपन्यास विवरणमात्र हो जाता है तथा कल्पना की अतिशयता से रचना जीवन-हीन हो जाती है । उपन्यास-कला फोटोग्राफी नहीं है और न स्वप्न मात्र । कल्पना के आश्रय से जीवन तथा जगत् का सत्य ही उपन्यास में पुष्पित और पल्लवित होता है । कथानक शिल्प की विशेषता इस तथ्य में निहित है कि उपन्यास में व्यक्ति के जीवन की कथा इस रूप में प्रस्तुत हो कि वह काल्पनिक होते हुए भी यथार्थ प्रतीत हो । इसके अतिरिक्त, कथानक का विकास सहज स्वाभाविक रूप से हो । उसमें आकस्मिक संयोग के लिए अल्प स्थान हो । उपन्यास में वर्णित प्रत्येक स्थल, परिस्थिति तथा दृश्य का विकास अकृत्रिम रूप से होना चाहिये । घटनाएं एवं कथाएं मनोवैज्ञानिक हों तथा वे तर्कसम्मत प्रतीत हों । शिल्प की दृष्टि से वही कथानक दर्शनीय है जिसका स्वत: विकास होता है । कथानक में गति होना आवश्यक है । श्रेष्ठ उपन्यासों में प्रत्येक घटना तीव्रता के साथ चरम सीमा की ओर अग्रसर होती है । एक घटना के क्रोड़ से अन्य घटना उसी प्रकार विकसित होती है जिस प्रकार कली में अन्तर्निहित पुष्प । राबर्ट लिडिल ने ठीक ही

कहा है कि कथानक विकास का परिणाम होना चाहिए, हस्तसाधन का नहीं।[१] इसका यह अर्थ नहीं है कि जो अपवाद स्वरूप प्रतीत होता है उसका चित्रण यहां नहीं हो सकता। उपन्यास का क्षेत्र अतिव्यापक है। यहां पागल, सनकी, सनकी की कथा भी प्रस्तुत हो सकती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में ऐसे ही पात्रों की कुंठा अथवा मन:स्थिति का चित्रण होता है। परन्तु यह चित्रण इतना स्वाभाविक जीवन्त तथा मर्मस्पर्शी होना चाहिए कि पाठक विचित्रता के सम्बन्ध में प्रश्नचिह्न अंकित न कर सके। इसके अतिरिक्त इसका अर्थ यह नहीं है कि उपन्यास के क्षेत्र से कल्पना बहिष्कृत हो गयी। आज के उपन्यासों में पौराणिक उपन्यासों की भांति भूत, बन्दर, राक्षस, ईश्वर आदि का चित्रण नहीं होता किन्तु प्रतीकात्मक स्थल अथवा प्रतीकात्मक कथाओं में कल्पना का प्रसार दृष्टिगत होता है। कल्पना यथार्थ की सहयोगिनी होकर उपन्यासों में प्रस्तुत होती है। कल्पना के आश्रय से उपन्यासकार यथार्थ की प्रतीति कराता है। इसी कारण उपन्यास सजीव तथा सशक्त हो जाते हैं।

सुगठन तथा सम्बद्धता

१७- उपन्यास का कथानक सुगठित होता है। उपन्यास में मुख्य कथानक ही नहीं, प्रत्युत इसमें उपकथानक तथा प्रासंगिक कथाएं भी होती हैं। प्रासंगिक तथा उपकथाएं तो छोटी-छोटी नदियों की भांति ~~होती~~ हैं जो कि प्रमुख कहानी-सरिता में लय हो कर उसे शक्तिसम्पन्न बनाती हैं। उपकथानक के द्वारा विविध प्रयोजनों की सिद्धि होती है। इसके द्वारा उपन्यास में रोचकता आती है। उपकथानक के द्वारा ~~संबन्धी~~, जीवन के विविध पक्षों, संघर्षों, समस्याओं आदि पर प्रकाश पड़ता है। प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) के उपन्यासों में ग्रामीण तथा नागरिक जीवन से सम्बद्ध दो कथानक दृष्टिगत होते हैं। किन्तु शिल्प की दृष्टि से उपकथानक का तभी महत्व है जब कि वह मुख्य कथानक से गुम्फित हो। इसलिए यह आवश्यक है कि उपकथानक को प्रमुखता तथा प्राथमिकता न प्राप्त हो। उपन्यास में कथानक उपकथानक से प्रमुख ही रहे। जब कथानक

The plot should result from growth; not manipulation-

-राल्फ लिडिल : "ए ट्रीटाइज़ ऑन दी नावेल" : १९५५, लंदन, प्र०पृ०, पृ० ८५

सुगठित होता है तब ही इसका अभीप्सित प्रभाव पड़ता है अन्यथा रचना विशृंखल होकर प्रभावहीन हो जाती है। इसके अतिरिक्त, कथानक में सम्बद्धता भी आवश्यक है। उपन्यास की प्रत्येक कथा घटना, दृश्य, प्रसंग आदि परस्पर सम्बद्ध होना चाहिए। जिस प्रकार सरिता की प्रत्येक लहर स्वतंत्र है किन्तु वह सरिता में तिरोहित होकर विशाल धारा का अंग बन जाती है उसी प्रकार तरंग-धारा न्याय की भांति उपकथानक तथा प्रासंगिक कथाएं रूपी लहरें उपन्यास में प्रस्तुत जीवन-धारा का सम्बद्ध अंग हैं। इसीलिए सम्बद्धता बनाए रखने के लिए सफल उपन्यासकार विविध प्रकार के उपायों का अवलम्ब ग्रहण करते हैं। वे यथासंभव उपकथानक का चित्रण गौण रूप में करते हैं। कुछ उपन्यासों में कभी कभी केन्द्रीय विचार अथवा मुख्य पात्र के द्वारा कथानक में सम्बद्धता स्थापित की जाती है। 'सिंह सेनापति' :१९४२: 'दिव्या' :१९४५: 'बहती गंगा' :१९५२: आदि में यह विशेषता दृष्टिगत होती है।

मौलिकता

९८- मौलिकता कथानक की मुख्य विशेषता है। मौलिकता तथा नवीनता के प्रति आकर्षण व्यक्ति की इच्छा ही करता है। कथानक का विषयवस्तु भी मौलिक होना चाहिए। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल मौलिकता के ही कारण कोई उपन्यास श्रेष्ठ समझा जाता है[१]। उपन्यास एक कला है। कला में विषयवस्तु की अपेक्षाकृत शिल्प का भी महत्व होता है। यदि उपन्यास का शिल्प समुन्नत नहीं है तो उसमें प्रस्तुत मौलिक समस्याएं भी अर्थहीन तथा निस्सार हैं। ऐसे अनेक उपन्यास दृष्टिगत होते हैं जिनमें अछूती समस्या को उठाया गया है परन्तु उनके प्रस्तुतीकरण का ढंग इतना निर्जीव निष्प्राण है कि वे उपन्यास प्रभावहीन तथा महत्वहीन हो जाते हैं। यथा- इन्द्रविद्यावाचस्पति का 'अपराधी कौन' :१९३२: अंचल का 'उल्का' :१९४७: भैरवप्रसाद गुप्त का 'शोले' :१९५०: आदि। प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: तथा फणीश्वरनाथ रेणु आदि के उपन्यासों का महत्व इसलिए है कि उनमें मौलिकता के साथ ही प्रस्तुतीकरण शिल्प भी उल्लेखनीय है।

१- बेसिल होगराथ: 'दी टेकनीक आफ नावेल राइटिंग' : लंदन, १९३४, प्र०सं०पृ०५२

कथानक के दोष

१९- विशेषताओं का अभाव ही कथानक का दोष होता है। उपन्यासकार की रचना संबंधी असावधानी अथवा उसकी अक्षमता के कारण इसमें कतिपय दोष देखे जाते हैं।

असम्बद्धता

२०- कथानक शिल्प की दृष्टि से सम्बद्धता का अभाव उपन्यास-कला का बड़ा दोष है। यदि उपकथानक कथानक से प्रमुखतर हो जाये, यदि उपकथायें समानाधिकारी तथा स्वतंत्र कथा प्रतीत होने लगें तो इससे प्रभावान्विति पर आघात होता है। इसके अतिरिक्त, उपन्यासकार के दृष्टिकोण के कारण भी कहीं कहीं अनावश्यक विस्तार दृष्टिगत होता है। नगण्य घटनाएं तथा प्रासंगिक कथाएं (जिनकी उपन्यास की दृष्टि से आवश्यकता नहीं) विस्तार प्रवृत्ति के कारण अनावश्यक महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं। फलतः कथानक गतिहीन, शिथिल तथा नीरस हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अनपेक्षित विस्तार तथा असम्बद्धता के कारण उपन्यास का स्वतः विकास नहीं होता। प्रत्येक घटना स्वतः विकसित नहीं होती। उपन्यासकार को स्वतः इन विशृंखल चित्रों को जोड़ना पड़ता है जिससे उपन्यास सौष्ठव पर आघात होता है। रांगेयराघव (१९२३-१९६२) का "मुर्दों का टीला" (१९४८) "बलभद्रप्रसाद ठाकुर का "भूमिका" (१९५०) अमृतराय (१९२१) का "बीज" (१९५३) आदि उपन्यास ऐसे ही हैं।

अस्वाभाविकता

२१- अस्वाभाविकता उपन्यास-शिल्प के लिए घातक है। जहां पर पाठक को यह प्रतीत होने लगता है कि यह चित्रण स्वाभाविक नहीं है, यह संभावित नहीं है वहीं उपन्यासकार विफल हो जाता है। वह उपन्यास जीवन्त तथा सजीव नहीं प्रतीत होता जिसमें अस्वाभाविक चित्रण होता है। अस्वाभाविक चित्र का अर्थ है कि वह जीवन का दर्पण नहीं है। स्वाभाविकता के अभाव में उपन्यास विश्वसनीय नहीं हो सकता। फलतः वह न तो हृदयस्पर्शी होगा और न प्रभावपूर्ण ही।

पुनरावृत्ति

२२- पुनरावृत्ति कथानक का दोष ही है। इसका अर्थ यह है कि उसकी योजना त्रुटिपूर्ण है। जिस घटना से पाठक परिचित हो चुका है, उसकी पुन: सूचना प्राप्त कर उसे हर्ष का अनुभव नहीं होता। कभी-कभी पुनरावृत्ति का प्रयोग बल प्रदान करने के लिए भी होता है। परन्तु प्राय: यह असंगत प्रतीत होता है। इससे रोचकता का ह्रास होता है।

चरित्र

२३- आधुनिक काल में चरित्र-चित्रण का महत्त्व कथानक की अपेक्षा अधिक हो गया है। उपन्यास में व्यक्तियों का महत्त्व होता है, विचार अथवा कथावस्तु का नहीं।[१] उपन्यास मनुष्य का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है, वह प्रदर्शित करने में समर्थ है कि मनुष्य का मुख्यत: आन्तरिक जीवन विशुद्ध अभिनेता के जीवन से सर्वथा भिन्न होता है यह चलचित्र की क्षमता से परे है।[२] इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास में व्यक्ति के प्रत्यक्ष तथा सांसारिक जीवन का ही चित्रण नहीं होता प्रत्युत उसके आन्तरिक जीवन का भी चित्रण होता है। यह उपन्यासकार का कार्य है कि वह छिपे हुए जीवन के उत्सों का उद्घाटन करे।[३] उपन्यासकार जीवनीकार तथा इतिहास-कार की अपेक्षा अधिक सजीव तथा व्यक्तित्व सम्पन्न पात्र प्रस्तुत करता है। संसार में असाधारण

१- बेसिल हॉगराथ :"दी टेकनीक ऑफ नॉवेल राइटिंग": १९३४, लंदन, प्रथम सं० पृ० ९२

२- The novel gives ' a completer picture of man, of being able to show that important inner life as distinct from the purely dramatic man, the acting man, which is beyond the scope of cinema.

- राल्फ फाक्स :"दी नावेल एण्ड दी पीपुल": १९४४, प्र० सं० पृ० २६

३-And it is the function of the novelist to reveal the hidden life at its source-

-ई०एम० फॉर्स्टर :"एस्पैक्ट्स ऑफ दी नावेल": १९४९, लंदन, पृ० ४५

व्यक्ति भी दृष्टिगत होते हैं। किन्तु यह उपन्यास ही है जहाँ उपन्यासकार असाधारणता के भी कारण प्रस्तुत करता है। उपर्युक्त पृष्ठभूमि के कारण ही चरित्र सजीव तथा यथार्थ प्रतीत होते हैं। फॉस्टर ने ठीक ही कहा है कि प्रत्येक मानव के दो पक्ष होते हैं - इतिहास तथा कथा के उपर्युक्त जो मनुष्य में दर्शनीय है अर्थात् उसके कार्य तथा आध्यात्मिक अस्तित्व जिनका आकलन कार्यों से होता है- वे इतिहास के अन्तर्गत आते हैं किन्तु स्वप्नजीवी दोनों के अन्तर्गत स्वप्न प्रसन्नता आदि विशुद्ध भावनाएं आती हैं। जिन्हें मानव नम्रता अथवा लज्जा के कारण व्यक्त करना नहीं चाहता तथा मानव जीवन के इस पक्ष का उद्घाटन करना ही उपन्यास-का मुख्य कार्य है[१]। इतिहास केवल महान् व्यक्तियों के चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख मात्र है। इसके विपरीत उपन्यास में उन कारणों पर प्रकाश पड़ता है जिनके कारण उनका व्यक्तित्व बना। उपन्यास के पात्र इतिहास की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय प्रभावोत्पादक सजीव तथा जीवन्त होते हैं। उपन्यासकार अपनी कल्पना के आश्रय से ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए भी उसमें कुछ जोड़ देता है। चरित्रों में संशोधन भी कर देता है यथा-इतिहास के अनुसार चाणक्य कूटनीतिज्ञ था। उसने नन्द का विरोध व्यक्तिगत अपमान के कारण किया। उसके मगध के शासक नन्द के विरोध में स्वार्थ की गन्ध आती है। किन्तु उपन्यासकार ने उसे जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह उसे महाकार बना देता है। वह नन्द का विरोध स्वार्थ भावना या अपमानजन्य क्रोध के कारण नहीं करता प्रत्युत वह मगध में एक ऐसा प्रबल शासक चाहता था जो विदेशी शक्ति से लोहा ले सके। सुरा सुन्दरी में आकण्ठ निमग्न नन्द अयोग्य था। फलतः वह उसका विरोध करता है। इसी प्रकार 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' :१९४६: इतिहास की लक्ष्मीबाई से सर्वथा भिन्न है। इतिहास की लक्ष्मीबाई अमर है किन्तु उपन्यास की 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' :१९४६: अधिक सहज, प्रबुद्ध है, तथा उनका व्यक्तित्व अधिक तेजोदीप्त तथा विश्वसनीय है। संसार में मानव के जीवन में अनेक घटनाएं घटित होती हैं। वह नित्य कुछ कर्म करता है,

---

१- ई०एम० फार्स्टर : 'एस्पेक्ट्स ऑफ दी नॉवेल' : लंदन, १९५८, पा०बुक्स० पृ०४५-४६

कितनेही विषयों पर असम्बद्ध वार्ताकरता है, नित्य भोजन तथा विश्राम करता है। रात्रि में वह स्वप्न देखता है। चरित्रशिल्प की दृष्टि से मनुष्य की दिनचर्या व्यर्थ है। पात्र चित्रण के हेतु भोजन, स्वप्न आदि का एक सीमा तक उल्लेख होता है। नाश्ता तथा भोजन के माध्यम से पात्र एकत्र होते हैं, किसी विषय पर उनके विचार व्यक्त होते हैं या किसी की भावनाओं का अथवा उसके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। स्वप्नों के द्वारा अव्यक्त मन पर प्रकाश पड़ता है। जन्म तथा मृत्यु का चित्रण भी पात्र की मानसिक स्थिति को प्रगट करने के लिए हुआ करता है। उपन्यास में पात्र-चित्रण महत्वपूर्ण कृत्यों के आश्रय से होता है। इसलिए यह सजीव तथा हृदयग्राही होता है।

२४- उपन्यास में कितने पात्र होने चाहिए ? इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कुछ उपन्यासकार अल्प पात्रों का चित्रण करना अधिक पसन्द करते हैं और कुछ अधिक का। पात्रों की संख्या उपन्यास की आवश्यकता तथा उपन्यासकार की प्रतिभा पर अवलम्बित है। किन्तु यदि पात्रों की संख्या अल्प होती है तो चित्रण स्वाभाविक सजीव, श्रेष्ठ तथा विश्वसनीय होता है। इसका कारण यह है कि अधिक पात्रों को देख कर ऐसा अनुभव होता है कि पाठक विराट् जुलूस को देख रहा है। पात्रों का स्थायी प्रभाव पाठक पर नहीं पड़ता क्योंकि उपन्यासकार को पात्रों की भीड़ में इतना अवकाश नहीं मिलता कि वह उसकी कार्यप्रणाली चिन्तन की व्याख्या तथा उसका विश्लेषण सम्यक् रूप से कर सके। उपन्यास में अल्प पात्रों का ही सफल तथा पूर्ण चित्रण हो सकता है। यहां पर एक प्रश्न यह भी उठता है कि उपन्यास में पात्रों का प्रवेश किस क्रम में हो ? ---- पात्रों का प्रवेश भी उपन्यासों में विविध प्रकार से होता है। कुछ उपन्यासों में प्रारम्भ में एक-दो पात्रों से परिचय प्राप्त होता है। आवश्यकतानुसार पात्रों से परिचय होता जाता है किन्तु सुन्दर उपन्यासों में ८०० से १००० शब्दों, अर्थात् आरम्भ के तीन-चार अध्यायों में प्रमुख पात्रों से परिचय हो जाता है। यथा-भगवतीचरण वर्मा कृत "चित्रलेखा" :१९३४:, प्रेमचन्द कृत "गोदान" :१९३६:, जैनेन्द्र कृत "सुनीता" :१९३६: आदि उपन्यासों के प्रारम्भ में ही प्रमुख चरित्रों से पाठक परिचित हो जाता है। उपन्यास का प्रत्येक पात्र व्यक्ति होता है। अतः उसका नाम होना

आवश्यक है। कुछ पात्रों के नाम गुणवाचक होते हैं। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों के पात्रों के नाम ऐसे ही होते थे। गुणवाचक नामों की अपेक्षा जगत् में प्रचलित वैयक्तिक नाम अधिक उपयुक्त होते हैं। यदि विविध पात्रों के नाम समान होते हैं तो इससे पाठक को उलझन होती है। दुरूह तथा कर्णकटु अक्षरों का नाम भी सुन्दर नहीं प्रतीत होता है। पात्र किस प्रकार के हों, यह उपन्यासकार पर अवलम्बित है। वह अपनी प्रेरणा तथा इच्छानुसार ही विविध प्रकार के पात्रों का चित्रण करता है किन्तु यदि पात्र जगत् के मानव की भाँति ही हुए तो चरित्र-शिल्प की दृष्टि से महत्वहीन हो जायेंगे। श्रेष्ठ उपन्यासों के पात्रों में कुछ विशिष्टता तथा मौलिकता होती है। कुछ पात्र जटिल तथा पहेली से प्रतीत होते हैं उनका रहस्योद्घाटन अन्त में होता है। यथा- जैनेन्द्र :१९०५: का "सुनीता" :१९३६:, इलाचंद्र जोशी :१९०२: का "पर्दे की रानी" :१९४१:, "निर्वासित" १९४६: आदि। चरित्र-शिल्प की दृष्टि से यह भी आवश्यक है कि पात्र सरलता से पहचाने जा सकें। इसके लिए आवश्यक है कि उपन्यासकार पात्र की आकृति तथा शारीरिक विशेषताओं पर प्रकाश डाले और साथ ही उनकी आन्तरिक विशेषताओं का भी चित्रण करे।

<u>चरित्र-चित्रण के प्रकार</u>

२५- उपन्यासों में विविध प्रकार के पात्र दृष्टिगत होते हैं। पात्रों की प्रवृत्तियों के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से हमें दो रूपों में पात्र-चित्रण दृष्टिगत होता है - आन्तरिक तथा बाह्य। आन्तरिक चित्रण के अन्तर्गत पात्र की मनोभावनाओं पर प्रकाश पड़ता है और बाह्य के अन्तर्गत पात्र की आकृति, वेशभूषा, रहन-सहन, व्यवहार आदि का चित्रण होता है।
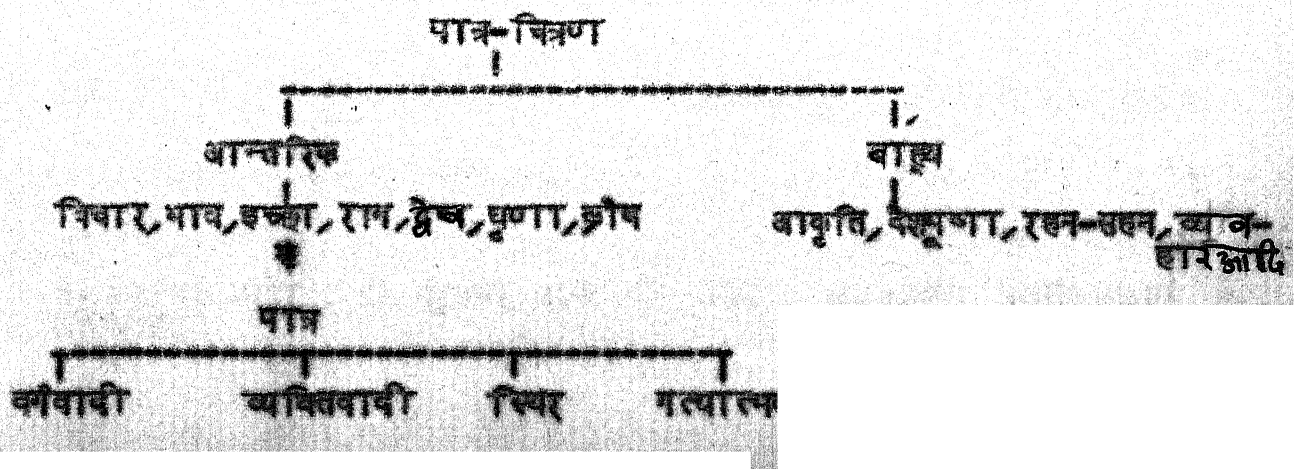
वर्गवादी पात्र तथा व्यक्तिवादी

२६. वर्गवादी चित्रण में व्यक्ति विशेष ~~समुदाय~~ का चित्रण नहीं होता है। इसमें समाज के एक विशेष समुदाय का चित्रण होता है अर्थात् इसके पात्र विशिष्ट वर्ग ~~विचारधारा, चिन्तन~~ के प्रतीक होते हैं। इनके समस्त कार्यकलाप उस वर्ग के अनुकूल होते हैं। वे समाज के प्रतिनिधि होते हैं। उनका सुख-दुःख, भाव-अनुभूति व्यक्ति की न होकर उस वर्ग विशेष की होती है। इसीलिए वे टाइप होते हैं। आदर्शोन्मुख यथार्थवादी, प्रगतिवादी तथा ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐसे चरित्र ही प्रमुख होते हैं। वर्गवादी पात्रों के विपरीत व्यक्तिवादी पात्र होते हैं। ये किसी समुदाय या वर्ग के प्रतिनिधि नहीं होते। इनके संस्कार विशिष्ट होते हैं। इनके राग, मनोभाव, संस्कार, मनःस्थिति सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में व्यक्ति-चरित्र का ही प्राधान्य होता है।

स्थिर-चरित्र तथा गतिशील चरित्र

२७. पात्रों के स्वभाव के अनुसार दो प्रकार के पात्र दृष्टिगत होते हैं। स्थिर चरित्र वास्तव में वे होते हैं जो आदि से अन्त तक निरन्तर स्थिर अर्थात् एकरस होते हैं। परिस्थितियों तथा बाह्य प्रभाव से ये मुक्त रहते हैं। जो विशेषताएं प्रारम्भ में दृष्टिगत होती हैं वे अन्त तक वर्तमान रहती हैं। अतः ये सरलता से पहचान लिए जाते हैं।[१] प्रायः [illegible] वाक्यांश से ये पहचाने जाते हैं। इसके द्वारा कभी-कभी हास्य की सृष्टि होती है परन्तु जहां गंभीरता तथा दुःखपूर्ण स्थिति होती है वहां ये स्थिर चरित्र विफल हो जाते हैं।[२] यह कथन भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। एडविन म्यीर ने पात्रों का स्थिर और गतिशील, [illegible] विभाजन स्वीकार किया है परन्तु स्थिर चरित्र को कम महत्वपूर्ण नहीं मानता है क्योंकि ये ही उपन्यासकार के उद्देश्य सिद्धि में सहायक होते हैं।[३] इसके अतिरिक्त,

---

१- ई०एम०फॉस्टर :'दी एस्पैक्ट्स आफ नॉवेल':पी०बु०ए० १९४९ लंदन:पृ० ६६

२- वही, पृ० ७०

३- एडविन म्यीर :'दी स्ट्रक्चर आफ दी नावेल': १९५७,लंदन, ए०सं० पृ०२६

यदि स्थिर चरित्र विफल होता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह स्वत: प्रभावहीन होता है। हिन्दी उपन्यासों में अनेक सजीव स्थिर चरित्र दृष्टिगत होते हैं-यथा: फणीश्वरनाथ रेणु :१९२१: के मैला आंचल :१९५४: का बावनदास, प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: के `गोदान` :१९३६: का मेहता, होरी, भगवतीचरण वर्मा :१९०३: का `चित्रलेखा` :१९३४: का बीजगुप्त प्रभृति पात्र|स्थिर-चरित्र से सर्वथा भिन्न गतिशील पात्र होते हैं। ये वातावरण, परिस्थिति तथा बाह्य प्रेरणाओं से प्रभावित होते हैं। ये आदि से भिन्न रूप में अन्त में चित्रित होते हैं। पात्रों के संस्कार बाह्य परिस्थितियों से टकराते हैं। मानसिक संघर्ष के कारण उनका रूपान्तर हो जाता है। अत: उनकी व्याख्या एकसूत्र वाक्य में नहीं हो सकती। एक आलोचक के अनुसार, गतिशील पात्र की परीक्षा इस तथ्य में निहित होती है कि क्या विश्वासप्रद रूप में पाठकों को चमत्कृत करने में समर्थ है या नहीं? यदि वह कभी भी चमत्कृत नहीं कर सकता तो यह स्थिरचरित्र है जो गतिशील होने का अभिनय मात्र करता है।[१] शिल्प की दृष्टि से गतिशील पात्र वहीं श्लाघ्य होगा, जहां उसका विकास स्वाभाविक और विश्वसनीय प्रतीत हो। वस्तुत: स्थिर चरित्र अथवा गतिशील पात्र का सफल अथवा विफल होना उपन्यासकार के प्रस्तुतीकरण शिल्प पर अवलम्बित है।

प्रस्तुतीकरण

२८- पात्रों का निजी सौन्दर्य होता है। किन्तु शिल्प के अभाव में प्रभावशाली पात्र भी प्रभावहीन तथा नीरस हो जाते हैं इसलिए चरित्र-शिल्प की दृष्टि से उपन्यासकार विविध प्रयोग किया करते हैं। पात्र को सजीव, सशक्त बनाने के लिए उपन्यासकार विविध विधियों से विविध पात्र प्रस्तुत करते हैं। जिन विधियों का प्रयोग उपन्यासों के प्रारम्भ काल से हो रहा है उनका निरंतर विकास-

हो रहा है --

---

1. The test of a round character is whether it is capable of surprising in a convincing way. If it never surprises, it is a flat pretending to be round.

- ई०एम०फार्स्टर : `एस्पैक्ट्स ऑफ दी नावेल` : १९४५, लंदन, पा०कु०२० पृ०७५
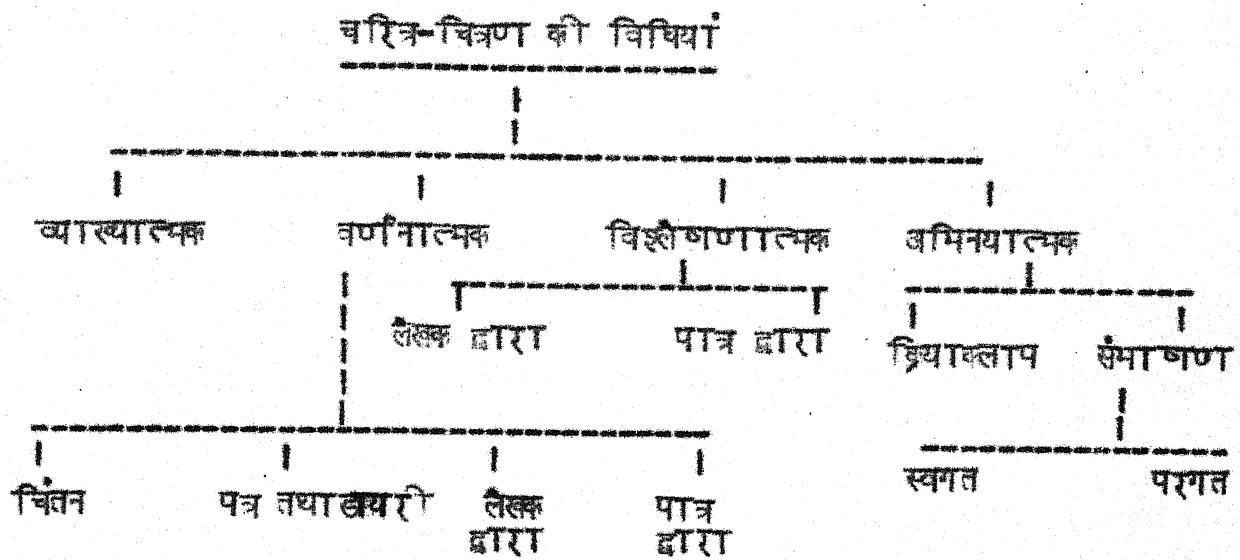
वर्णनात्मक प्रणाली

२६- चरित्र शिल्प की दृष्टि से वर्णनात्मक प्रणाली सबसे अधिक प्राचीन है। इस शैली में उपन्यासकार पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं का स्वयं उल्लेख करता है। वह चरित्रों की रुचि क्रियाकलाप तथा वेशभूषा का वर्णन करता है। यदि सभी पात्रों का चित्रण अभिनयात्मक ढंग से हो तो उपन्यास में अनावश्यक विस्तार की वृद्धि हो जायगी किन्तु इस विधि द्वारा विस्तार से रक्षा हो जाती है। समस्त उपन्यासों में कम तथा अधिक मात्रा में वर्णनात्मक प्रणाली का प्रयोग होता है। आज यह सामान्य वर्णनात्मक शैली मात्र नहीं रह गयी है- इसका कलात्मक विकास हो रहा है। यह चिन्तन, पत्र,डायरी आदि रूपों से समृद्ध हो रही है। चिन्तन के द्वारा कभी - कभी चिन्तक के चरित्र पर आलोक पड़ता है तो अन्य व्यक्ति के भी चरित्र पर भी प्रकाश पड़ जाता है यथा- प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: के 'गोदान' :१९३६: के होरी के चिन्तन में धनिया की चारित्रिक विशेषताएं प्रकट हुई हैं। पत्र तथा डायरी लेखन के रूप में भी पात्र की मनोभावनाएं स्पष्ट हुई हैं। जयशंकरप्रसाद :१८८९-१९३७: की 'तितली' :१९३४: में इन्द्रदेव की डायरी से उसकी शैला के प्रति मनोभाव प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त, यह शैली जब व्याख्या समन्वित होती है तो यह व्याख्यात्मक हो जाती है। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में इसका प्राधान्य था। आज भी यह शैली उपन्यासों में दृष्टिगत होती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में भी यह शैली देखी जा सकती है। यहां यह मनोविज्ञान समन्वित होकर

विश्लेषणात्मक हो जाती है। लेखक पात्रों के चिन्तन, असाधारण कार्यों तथा मानसिक विकृति का विश्लेषण करता है। यह विश्लेषण दो रूपों में प्रस्तुत होता है। कभी-कभी पात्र स्वयं का विश्लेषण करता है अथवा लेखक या कोई पात्र किसी अन्य का विश्लेषण करता है। वर्णनात्मक प्रणाली की अन्यतम विशेषता हो गयी है चित्रात्मकता। चित्रात्मकता के कारण ही पात्र-चित्रण जीवन्त होता है।

अभिनयात्मक पद्धति

30- शिल्प की दृष्टि से वर्णनात्मक या व्याख्यात्मक पद्धति की अपेक्षा अभिनयात्मक पद्धति श्रेष्ठतर है[1]। इसका कारण है कि वर्णनात्मक पद्धति यदि चित्रात्मकता से हीन है तो वह नीरस और बोझिल हो जाती है। इसके विपरीत जब पाठक लेखक के मुख से पात्रविशेष के गुणों को न सुन कर स्वतः पात्र के कार्यों तथा उसकी विशेषताओं से परिचित होता है तो उसे नाटक अथवा चलचित्र जैसा आनन्द प्राप्त होता है। इस पद्धति में पात्र-चित्रण वार्तालाप तथा कार्यों के द्वारा होता है। वार्तालाप के द्वारा पात्र के चरित्र पर सहज स्वाभाविक ढंग से प्रकाश पड़ता है। चरित्र चित्रण के लिए संवाद अनुपम साधन है[2]। दो प्रकार से चारित्रिक विशेषताएं स्पष्ट होती हैं। पात्रों के परस्पर आलोचनात्मक संवाद के माध्यम से किसी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त आत्मपरक संवाद के द्वारा वक्ता का चरित्र स्पष्ट हो जाता है। पात्रों के कार्य संवाद तथा चिन्तन चरित्र व्यंजक होते हैं। इस पद्धति के द्वारा उपन्यासों में नाटकीयता का समावेश हो जाता है। इसीलिए पात्र सजीव तथा हृदयग्राही हो जाते हैं। आधुनिक उपन्यासों में इस पद्धति का प्रयोग बहुलता से हो रहा है।

१- एच०बी०लैथरोप : "दी आर्ट ऑफ दी नॉवेलिस्ट" : १९२१, लंदन, प्र०सं० पृ०१३१।

Dialogue is a matchless instrument for characterisation.

- बेसिल हॉगराथ : "दी टैकनीक ऑफ नॉवेल राइटिंग" : १९३४, लंदन, प्र०सं० पृ० १०६

३१- प्रत्येक उपन्यासकार प्रयत्न करता है कि उसके चरित्र-चित्रण में कुछ ऐसी विशेषतायें हों जिसके कारण पात्र दीर्घ समय तक पाठकों की स्मृति में रह सकें। यहां हम उन विशेषताओं पर विचार करेंगे जिनके कारण यह चरित्र-चित्रण-शिल्प जीवन्त होता है।

स्वाभाविकता तथा सजीवता

३२- चरित्र-शिल्प की सफलता इस तथ्य में निहित है कि पात्र-चित्रण इतना सजीव और सशक्त हो जितना कि हाड़मांस से निर्मित मनुष्य। उसका काल्पनिक अस्तित्व इतना सशक्त तथा सप्राण हो कि वह यथार्थ तथा जीवन्त प्रतीत हो। यह तभी हो सकता है जब कि वह लेखक के हाथ की कठपुतली न हो। वह लेखक के सिद्धान्तों तथा आदर्शों की प्रतिमूर्ति न हो, उसके संस्कार तथा मान्यतायें बाह्य परिस्थितियों से संघर्ष करती हों तथा चरित्र का स्वत: विकास हो। उसे स्वत: अपनी विषम परिस्थितियों से संघर्ष करना चाहिए। उसको स्वत: अपनी कथा प्रस्तुत करनी चाहिए। वह ही पात्र सजीव है जिसकी व्याख्या उपन्यासकार को न करनी पड़े। दूसरे शब्दों में उपन्यासकार का चरित्र-शिल्प वहीं सराहनीय है जहां कि उसे पात्रों की असंगति का कारण न बताना पड़े। यदि उसे असंगति का कारण स्पष्ट करना पड़ता है तो इसका अर्थ है कि चरित्र में शिल्पगत त्रुटि है। वह स्वत: पूर्ण तथा सजीव नहीं है। इसी प्रकार से चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता उपन्यास का प्राण है। उपन्यास के पात्र साधारण, असाधारण, उच्च अथवा निम्न वर्ग आदि के हो सकते हैं। किन्तु पात्र-चित्रण नितान्त स्वाभाविक तथा विश्वसनीय होना आवश्यक है। पात्र का कोई भी कार्य, चिन्तन अथवा शारीरिक स्थिति, स्तर के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि पात्र प्रारम्भ में जिस रूप में उपस्थित हों, अन्त में वैसे ही दृष्टिगत हों। पात्र में परिवर्तन बाह्य परिस्थितियों एवं प्रभाव के द्वारा हुआ करता है। किन्तु बाह्य परिस्थितिजन्य परिवर्तन क्षणिक होता है स्थायी परिवर्तन क्षणिक मनोवेगों एवं संस्कार के विकट संघर्ष के उपरान्त होता है। इसलिए परिवर्तन शिल्प भी विश्वसनीय तथा स्वाभाविक होना चाहिए। परिवर्तन आकस्मिक घटना का प्रतीत होना चाहिए तथा वह सकारण होना चाहिए।

वैयक्तिकता

३३- संसार में एक व्यक्ति अपने अस्तित्व के कारण अन्य व्यक्ति से भिन्न दृष्टिगत होता है। इस प्रकार से उपन्यास जगत् में भी अनेक व्यक्ति [विद्यमान] होते हैं, उपन्यास में पात्रों की वैयक्तिकता अक्षुण्ण रहनी चाहिए। वैयक्तिक विशेषताओं के कारण एक वर्ग के पात्रों में भी अन्तर दृष्टिगत होता है। चरित्र-शिल्प की विशेषता इस तथ्य में निहित है कि उपन्यास में वर्णितपात्रों की वैयक्तिकता स्पष्टत: दृष्टिगत हो। पात्र के नाम बिना जाने हुए भी कार्य तथा कथोपकथन से परिचित होकर उस व्यक्ति को पाठक यदि पहचान सके तो उपन्यासकार का शिल्प सफल समझा जायगा। प्रेमचंद :१८८०-१९३६:, वृन्दावनलाल वर्मा: १८८९:, जैनेन्द्र :१९०५: अज्ञेय :१९११: के पात्र इसी विशेषता के कारण प्रसिद्ध हैं।

विभिन्नता तथा विषमता

३४- चरित्र-शिल्प का सौन्दर्य विभिन्नता तथा विषमता में दृष्टिगत होता है। यदि सभी पात्र एक से हों तो उपन्यास श्रीहीन तथा कुतूहलहीन हो जायेगा.। विभिन्न पात्रों के सहयोग से उपन्यास में सौंदर्य का प्रवेश होता है क्योंकि विभिन्नता में सौंदर्य निहित है। इसके अतिरिक्त, विभिन्न पात्रों के माध्यम से संघर्ष प्रारम्भ होता है। पात्रों का वैषम्य तथा विभिन्नता जितनी ही स्पष्ट होती है उतना ही चरित्र-शिल्प श्लाघ्य है। प्रेमचंद :१८८०-१९३६:, वृन्दावनलाल वर्मा :१८८९: जैनेन्द्र :१९०५: अज्ञेय :१९११: आदि के पात्रों में विभिन्नता तथा विषमता देखी जाती है।

दुर्बलताएं

३५- चरित्रचित्रण के क्षेत्र में शिल्पगत विशेषताओं का अभाव ही दोष अथवा दुर्बलता है। चरित्र-शिल्प सम्बन्धी दुर्बलता कभी-कभी उपन्यासकार की असावधानी के कारण दृष्टिगत होती है तो कभी-कभी पात्र जो प्रारम्भ में लेखक के हाथ की कठपुतली प्रतीत होता है, [वह स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करता है] अथवा अन्त में सजीव पात्र कठपुतली हो जाता है इस कारण वह स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता।

३६- चरित्रशिल्प की दृष्टि से अस्वाभाविकता उपन्यास का बहुत बड़ा दोष है। उपन्यास में प्रस्तुत पात्र यदि स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक तथा विश्वसनीय नहीं प्रतीत

होता तो वह प्रभावहीन, नीरस पात्र है । स्वाभाविकता तथा मनोविज्ञान की कसौटी पर जब पात्र कंचन की भांति खरा नहीं उतरता तो वह विफल पात्र हो जाता है । कोई भी पात्र उपन्यासकार की सम्मोहक शक्ति के बल पर जीवित नहीं रह सकता जब तक कि वह सहज स्वाभाविक जीवनयापन न करे । यदि पात्रचित्रण उसके संस्कारों के प्रतिकूल हुआ है, परिवर्तन आकस्मिक तथा अविश्वसनीय प्रतीत होता है तो वह पात्र उपन्यास के क्षेत्र में जीवित नहीं रह सकता । मौलिक पात्र होते हुए भी स्वाभाविकता के अभाव में ऐसे पात्र महत्वहीन हो जाते हैं ।

निर्जीवता

३८- यदि पात्रों में प्राणशक्ति का अभाव दृष्टिगत होता है तो यह भी चरित्र-शिल्प का ही दोष है । मृत व्यक्ति क्रियाशून्य, वचनहीन तथा अनुभवरहित होता है । कुछ विफल उपन्यासों में ऐसे भी पात्र दृष्टिगत होते हैं जो स्वत: जीवनयापन करने में विफल होते हैं । उनका विकास स्वयमेव नहीं होता, वे लेखक के हाथ की कठपुतली होते हैं । हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में यह दोष सर्वाधिक था । पात्र संस्कारविहीन अकर्मण्य था । इसके अतिरिक्त, कभी-कभी उपन्यासकार पात्र के आन्तरिक जीवन में इतना अधिक प्रवेश करता है कि वह नीरस और निर्जीव प्रतीत होने लगता है । ऐसा अनुभव होने लगता है कि जैसे वह पात्र के माध्यम से मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों पर पहुंचने लगता है । यथा नरोत्तम प्रसाद नागर : कृत दिन के तारे (?) प्रभाकर माचवे का परन्तु अविनाश आदि । पर्सी लुब्बाक ने ठीक ही कहा है कि पात्रों के आन्तरिक जीवन में अनियमित तथा अनावश्यक रूप से डूबने से प्रभावोत्पादकता में केवल भ्रम उत्पन्न होता है । इससे केन्द्रविन्दु तो बदल जाता है किन्तु इसकी कमी पूरी नहीं हो पाती[१] । ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति के कारण भी पात्र प्राय: निर्जीव और निष्प्राण हो जाते हैं ।

- Haphazard and unnecessary plunges into the inner life of the characters only confuse the effect, changing the focus without compensating gain.

-पर्सी लुब्बाक : 'दी क्राफ्ट आफ फिक्शन' : १९५०, लंदन, पृ० पृ० ७

३८- यदि पात्रों में प्राणप्रतिष्ठा नहीं हो सकी है, एक पात्र का व्यक्तित्व अन्य पात्र से भिन्न नहीं है तो चरित्र शिल्प की दृष्टि से यह दोष है। उपन्यासों के पात्रों का नाम ही भिन्न नहीं होता, उनके संस्कार आचार विचार, कार्यकलाप आदि भी भिन्न होते हैं। पात्रों की पहचान उनके नामों से न होकर व्यक्तित्व से होनी चाहिए। पात्र जब व्यक्तित्व सम्पन्न नहीं होते तो उपन्यास के समस्त पात्र एकरूप प्रतीत होते हैं। ऐसे पात्रों के प्रति पाठक को रंचमात्र भी कुतूहल नहीं होता। चरित्र-शिल्प की दृष्टि से वैयक्तिकता विहीन एकरूप पात्र महत्त्वहीन हैं। यदि उपन्यासों में ऐसे ही पात्रों की बहुलता होती है तो उपन्यास विफल हो जाते हैं।

पात्रगत अन्याय

३९- दृष्टिकोण के कारण कभी-कभी उन पात्रों के साथ उपन्यासकार न्याय नहीं कर पाता है जिन्हें वह पसन्द नहीं करता है। पात्र चाहे जितना ही नगण्य क्यों न हो, उपन्यासकार की विचारधारा से कितना ही भिन्न क्यों न हो, उपन्यासकार को उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं प्रतीत होता। यदि उपन्यासकार तुच्छ व्यक्तियों के प्रति घृणात्मक तथा हेयभाव प्रकट करता है क्योंकि वे केवल छोटे हैं यह लेखक को गौरवान्वित नहीं करता[1]। उपन्यासकार की दृष्टि में सभी पात्र समान होते हैं जब वह समस्त पात्रों के साथ न्याय करता है, उसका चरित्र-शिल्प सराहनीय हो सकता है। यदि उपन्यासकार किसी भी पात्र की उपेक्षा कर उसे पंगु बनाता है या उसकी असावधानी के कारण चरित्र अपरिपक्व रह जाता है तो उसका चरित्र-शिल्प दूषित हो जाता है। प्रगतिवादी उपन्यासों में कांग्रेसी पात्रों के प्रति अन्याय किया जाता है फलत: चरित्र-शिल्प यांत्रिक प्रतीत होने लगता है।

---

1. A condescending contemptuous tone to-wards small people merely because they are small does not honour to a writer.

- लेखक : के०सी०राय :दी टेकनीक ऑफ नावेल राइटिंग :लंदन, प्र०सं० पृ० ११२

कथोपकथन

४०- उपन्यास शिल्प में कथोपकथन का विशिष्ट स्थान है। जिस प्रकार कशीदा से सौन्दर्यवृद्धि होती है उसी प्रकार वार्तालाप से उपन्यास शिल्प में सुन्दरता, स्वाभाविकता तथा नाटकीयता का समावेश होता है। भावात्मक, हास्यपूर्ण दृश्य, प्रेम तथा नाटकीय प्रसंगों के लिए वार्तालाप ही उपयुक्त माध्यम है। इसके अतिरिक्त, वार्तालाप के द्वारा नीरस इतिवृत्तात्मक स्थलों का परिहार हो जाता है तथा कथा वस्तु की सहज स्वाभाविक प्रगति होती है। कुछ कथोपकथन के द्वारा विगत घटनाओं की सूचना प्राप्त होती है। छूटे हुए विशृंखल प्रसंग भी कथोपकथन के द्वारा कथानक में ग्रथित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, वर्तमान प्रगति तथा भविष्य की योजना पर भी पात्रों के द्वारा प्रकाश पड़ता है। कथोपकथन का एक प्रयोजन है कि वह कथावस्तु की प्रगति में सहायक हो दूसरा प्रयोजन है कि वह चरित्र-चित्रण में सहायक हो। इसके अतिरिक्त, नाटकीय प्रभाव के लिए संवाद सर्वोत्तम साधन हैं[1]। शिल्प की दृष्टि से वे ही संवाद प्रभावशाली तथा मार्मिक होते हैं जो सारगर्भित तथा प्रसंगानुकूल होते हैं। पात्रों के वार्तालाप को प्रभावशाली तथा मार्मिक बनाने के लिए उपन्यासकार विविध उपायों का अवलम्ब ग्रहण करते हैं। विस्तृत कथोपकथन की नीरसता के परिहार के लिए उपन्यासकार लघु व्यवधान की योजना प्रस्तुत करता है। कभी-कभी वह पात्रों के कथन के साथ ही उसकी आकृति मुद्रा का चित्रण करता है — इससे नाटकीयता की वृद्धि होती है तथा पात्र की मानसिक स्थितिका परिचय भी प्राप्त होता है।

कथोपकथन की विशेषताएं

४१- कथानक तथा चरित्र-शिल्प की भांति कतिपय विशेषताओं के समावेश के कारण पात्रों के वार्तालाप का शिल्पगत महत्व होता है।

स्वाभाविकता तथा सजीवता

४२- कथोपकथन शिल्प की भी मूलभूत विशेषता है स्वाभाविकता तथा सजीवता। आडम्बरहीन तथा अकृत्रिम वार्तालाप ही उपन्यास की श्रीवृद्धि कर सकते हैं। शिल्प

1- Dialogue is the natural vehicle for dramatic effect.

-पी० लुबाक : "दी आर्ट ऑफ दी नावेल": १९३४ : न्यूयार्क, प्र०सं० पृ० १२

की दृष्टि से उसी वार्तालाप का महत्व है जो व्यावहारिक तथा पात्रानुकूल होते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि संवाद पात्र के मानसिक स्तर के अनुकूल हों। संवादों में स्वाभाविकता तथा सजीवता को बनाये रखने के लिए एक सीमा तक की भाषाओं तथा बोलियों का प्रयोग हो सकता है। किन्तु इनका प्रयोग अधिक नहीं होना चाहिए अन्यथा रचना देशी बोलियों का कोश प्रतीत होने लगेगी। इसके अतिरिक्त कथोपकथन की स्वाभाविकता का यह तात्पर्य नहीं है कि वह दैनिक जीवन में व्यवहृत संवादों की भांति अनिश्चित, असम्बद्ध तथा अप्रासंगिक हो। उपन्यास सोद्देश्य रचना है अतः इसके कथोपकथन प्रसंगानुकूल सम्बद्ध स्वाभाविक मार्मिक तथा नाटकीय होने चाहिए।

वैयक्तिक

१३- शिल्प की दृष्टि से वैयक्तिक कथोपकथन महत्वपूर्ण होते हैं। वही वार्तालाप सफल है जिसमें व्यक्तित्व का प्रतिफलन होता है पात्र विशेष का कथन उसके चिंतन, मनन तथा कार्यप्रणाली के अनुरूप होने चाहिए। प्रत्येक पात्र के वार्तालाप में व्यक्तित्व के अनुरूप ही विभिन्नता तथा विषमता होनी चाहिए। वैयक्तिकता के कारण ही पात्र विशेष के संवाद बिना नाम जाने ही पहचान लिये जाते हैं। बार बार वक्ता के नाम का उल्लेख करना भी समीचीन नहीं है। इसका अर्थ है कि वार्तालाप स्वतः सजीव वैयक्तिक तथा गतिपूर्ण नहीं है अथवा उपन्यासकार पाठक की योग्यता तथा कल्पना और शक्ति की उपेक्षा कर रहा है। वार्तालाप की सफलता इस तथ्य में निहित है कि बिना नाम जाने ही कथोपकथन के द्वारा पहचान लिया जाए। इसी कारण श्रेष्ठ उपन्यासों में वार्तालाप के प्रसंग में पात्र के नाम का उल्लेख होता है। कालान्तर में कुछ दूर तक बिना नाम के वार्तालाप चित्रित होता है। पाठक पात्रों के मानसिक विचारधाराजन्य विशिष्ट कथोपकथन से उन्हें पहचान लेता है। इसके विपरीत यदि एक पात्र का कथन दूसरे का प्रतीत होता है तो वार्तालाप का प्रयोजन विफल हो जाता है। वैयक्तिकता के कारण ही संवाद सजीव सशक्त तथा सप्राण हो जाते हैं।

लघुता

१४- शिल्प की दृष्टि से वार्तालाप का लघु होना आवश्यक है। संक्षिप्त मार्मिक, व्यंजनात्मक वार्तालाप ही प्रभावशाली होते हैं। सफल उपन्यासकार

लम्बे वार्तालाप की नीरसता के परिहार के लिए पंक्तियों के संवाद के अनन्तर कभी दो-तीन पंक्तियों में समीक्षा भी करते हैं ।

नाटकीयता

४५- संवाद जब पात्र के अनुभव से अनुप्राणित होता है तो वह नाटकीय भी हो जाता है । सफल संवाद नाटकीय होते हैं जिनमें पात्रों की मुद्रा -वेश-भूषा तथा शारीरिक क्रियाओं का भी उल्लेख होता है । नाटकीय वार्तालाप अत्यधिक प्रभावशाली होते हैं तथा उनमें स्वत: प्रवर्तित गति होती है ।

प्रसंगानुकूलता :भावानुकूलता

४६- शिल्प की दृष्टि से प्रसंगानुकूल तथा भावानुकूल वार्तालाप ही सफल होते हैं । वार्तालाप यदि सुन्दर हो, किन्तु वह प्रसंगानुकूल तथा भावानुकूल न हो तो उसका सौन्दर्य समाप्त हो जाता है । उपयुक्त फ्रेम में ही चित्र शोभित होता है उसी प्रकार उपयुक्त प्रसंगानुकूल तथा भावानुकूल संवाद ही उपन्यास में सार्थक प्रतीत होता है ।

दोष

४७- शिल्प की दृष्टि से वह वार्तालाप अवाच्य है जिसमें स्वाभाविकता का अभाव है । यदि वार्तालाप पात्र के धरातल के उपयुक्त न होकर उपन्यासकार के स्वर, सिद्धान्तों तथा निश्चयों का प्रतीक है तो यह उसकी दुर्बलता है । अस्वाभाविक वार्तालाप में जीवन का स्पन्दन नहीं होता । अत: वे नीरस, जीवन-रहित तथा बोझिल हो जाते हैं । आलंकारिक वार्तालाप से लेखक की काव्य-प्रतिभा का परिचय, भले ही प्राप्त हो जाए, परन्तु वे अव्यावहारिक तथा अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं । इसलिए वे नीरस तथा प्रभावहीन होते हैं । इसी प्रकार उपन्यासों में गतिहीन संवाद अत्यधिक आपत्तिजनक होते हैं[1] । इसके अतिरिक्त, वार्तालाप

1- Stilled dialogue is most objectionalble.

-के० हौगराथ : 'दी टैक्नीक आफ नावेल राइटिंग' : १९३४, लंदन, पृ० ११९

की असम्भवता, अव्यावहारिकता, वैयक्तिक विहीनता आदि कथोपकथन शिल्प के दोष हैं।

लम्बे वार्तालाप

४८- वादविवाद मूलक लम्बे वार्तालाप तथा उपदेशात्मक भाषण से उपन्यास की गति में व्याघात होता है। वादविवाद अथवा भाषण के द्वारा किसी भी विषय पर विस्तार से प्रकाश पड़ जाता है। परन्तु इनसे उपन्यास कला पर आघात होता है क्योंकि उपन्यास नीतिशास्त्र अथवा आचारशास्त्र या राजनीति शास्त्र नहीं है। इसके अतिरिक्त, लम्बे कथोपकथन कोपाठक पढ़ता नहीं है। उसका इन्हें न पढ़ना ही इनकी व्यर्थता सिद्ध कर देता है। इसलिए लम्बे भाषणों को सभी प्रकार से बचाना चाहिए[१]।

परिप्रेक्ष्य : Setting :

४९- यथार्थता की प्रतीति के लिए उपन्यास में उपयुक्त परिप्रेक्ष्य अपेक्षित है। यह इस रूप में चित्रित होनी चाहिए कि पाठक उन स्थितियों को समझ सके जिनमें घटनाएं घटित होती हैं तथा जिस वातावरण में पात्र ~~रहते~~ ~~हैं~~, ~~और~~ कार्य करते हैं - उसका पाठक स्वयं अनुभव कर सके। वस्तुत: परिप्रेक्ष्य उन परिस्थितियों को समाहित करता है जो कार्य का वेष्टन करती है तथा उन स्थितियों का निर्माण करती हैं जिनमें पात्र कार्य करें। चित्रकार अभीप्सित चित्र को उभारने के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार उपन्यासकार भी वातावरण देश-काल तथा प्राकृतिक दृश्यों की पृष्ठभूमि में ही अभीप्सित चित्र अंकित करता है जो सहज स्वाभाविक प्रतीत होता है। यह वह धरातल है जिसमें :पात्र : उत्पन्न होते हैं, वह वातावरण है जिसमें वे सांस लेते हैं, वह माध्यम है जो उन्हें जीवित रखता है, उन्हें आच्छादित करता है, उनका पालन तथा नियंत्रण करता है---

१- के० होगराथ :"दी टैकनीक ऑफ नॉवेल राइटिंग" : १९३४, लंदन, प्र०सं० पृ० ११८

है तथा उनके रहने के ढंग का नियोजन करता है[1]। ~~वैयक्तिक~~ निरीक्षणजन्य वैयक्तिक अनुभव के द्वारा ही सर्वोत्तम ढंग से परिप्रेक्ष्य वर्णित हो सकता है।[2] यदि इसमें व्यक्तित्व का पुट नहीं होगा तो इसमें मौलिकता तथा नवीनता का अभाव होगा। यथार्थ में परिप्रेक्ष्य अथवा पृष्ठभूमि उपन्यास की आधारशिला है। शिल्प की दृष्टि से वही परिप्रेक्ष्य महत्वपूर्ण है जो व्यंजनात्मक तथा उपयुक्त है। यदि इसका चित्रण केवल विवरणात्मक शैली में होता है तो उपन्यास नीरस हो जाता है। परिप्रेक्ष्य अथवा पृष्ठभूमि जितनी ही व्यंजनात्मक तथा चित्रात्मक होगी, उतनी ही श्रेष्ठ है। क्षेत्रीय :आंचलिक: उपन्यासों में यह मुख्य होती है कथानक तथा चरित्र चित्रण की विधायिका होती है, ऐतिहासिक उपन्यासों में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु सामाजिक उपन्यासों में विषयानुकूल परिप्रेक्ष्य का महत्व होता भी है और नहीं भी होता। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में परिप्रेक्ष्य नगण्य होता है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि परिप्रेक्ष्य के माध्यम से उपन्यास सजीव तथा सशक्त होते हैं। इसकी अवतारणा के लिए उपन्यासकार देशकाल, वातावरण का चित्रण करता है।

देश - काल - चित्रण

५०- यथार्थ की प्रतीति के लिए उपन्यासों में देश-काल -चित्रण अपेक्षित ~~रहता~~ है। मानव निश्चित काल में कुछ स्थानों में रहता है। इसी प्रकार पात्र भी उपन्यास में निश्चित काल ~~का~~ जीवन व्यतीत करता है, कुछ स्थानों से उसका सम्बन्ध होता है। सफल उपन्यासकार पात्र विशेष के घटनास्थल का सफल वर्णन करते हैं क्योंकि उन्हें ज्ञात होता है कि जीवन में स्थानविशेष का महत्व होता है। स्थान का प्रभाव वहां के निवासियों पर पड़ा ही करता है। कुछ स्थानों को देख कर ही व्यक्ति

It is the soil in which they grow, the atmosphere which they breathe, the medium which sustains, envelops, nourishes and controls them and determines their manner of being.

१- एच०बी०लैपरीप:"दी आर्ट ऑफ दी नावेलिस्ट :"१९२९,लंदन, पृ०सं०पृ० २००

२- बी० हीगराथ :"दी टैकनीक ऑफ नावेल राइटिंग":१९३४,लंदन,पृ०सं०पृ० १२४

का अन्तर्मन उदास हो जाता है तथा कुछ स्थान स्फूर्तिदायक तथा प्रेरणा प्रदान करने वाले होते हैं। देश-वर्णन जितना ही अधिक कलात्मक हो, उतना ही अच्छा है। देश चित्रण के अन्तर्गत स्थान विशेष :नगर,ग्राम,मेला आदि: का चित्रण होता है,साथ ही वहाँ के सांस्कृतिक जीवन :पर्व,उत्सव,धार्मिक विश्वास,त्यौहार आदि: का भी उल्लेख होता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-चित्रण होना अनिवार्य है। देश-चित्रण की भाँति ही उपन्यास में काल-चित्रण भी आवश्यक होता है। काल-चित्रण के अन्तर्गत युग-विशेष की सामाजिक,राजनीतिक,धार्मिक, आर्थिक,साहित्यिक परिस्थितियाँ एवं रीति-रिवाज तथा आचार-विचार का चित्रण होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में काल-चित्रण का अत्यधिक महत्व होता है। यदि उसमें देश -काल सम्बन्धी भूल होती है तो उपन्यास का मूल्य घट जाता है। किन्तु उपन्यासकार के शिल्प की विशेषता इस तथ्य में निहित है कि देश-काल-चित्रण प्रसंगवश हो। यदि आवश्यकता से अधिक उपन्यास में इसका चित्रण होता है तो उपन्यास बृहत् विवरणों का कोश हो जाता है,उसका साहित्यिक मूल्य नगण्य हो जाता है। इसी प्रकार यदि देश-काल की सर्वथा उपेक्षा हो तो उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास न होकर केवल उपन्यास मात्र रह जाता है। देश काल-चित्रण लैंडस्केप का चित्र विस्तृत नहीं होना चाहिए। इससे उपन्यास नीरस तथा अनावश्यक विवरण से मुक्त रहेंगे। कुछ उपन्यासों में स्थान-परिवर्तन भी होता है। विभिन्न स्थानों का चित्रण सजीव तथा सशक्त होना चाहिए। आजकल उपन्यासों में घटना और समय को सीमित करने का प्रयत्न भी हो रहा है। वैसे भी

१- Description of landscape need not be long.

-वे०होगराय : 'दी टैकनीक ऑफ नॉवेल राइटिंग': १९३४,लंदन,पृ०७०

उपन्यास लिखे जा रहे हैं जिनका कार्य-काल २४ घंटे है और एक [illegible] का चित्रण होता है। प्रभावान्विति की दृष्टि से ये उपन्यास सफल होते हैं। परन्तु जिनका कार्यकाल विस्तृत है और क्षेत्र भी, वहां विभिन्न स्थानों तथा कालों का चित्रण होता है। यह उपन्यासकार का शिल्प है कि वह देश-काल -चित्रण इतना सजीव करे कि पाठक को स्थानगत तथा कालगत -परिवर्तन में सौन्दर्य तथा आनन्द की प्राप्ति हो।

वातावरण

५१- प्रत्येक उपन्यास का विशिष्ट वातावरण होता है यद्यपि वह प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत नहीं होता। वातावरण के द्वारा ही कथा में रस, चरित्र-चित्रण में रोचकता तथा सौन्दर्य का संचार होता है। काव्य-क्षेत्र में रस के द्वारा वातावरण की सृष्टि होती है। सम्पूर्ण उपन्यास में यह ध्वनित होता है। उपन्यास में कथा-रस-पात्रों की चरित्रगत विशेषता तथा स्थानीय रंगों के चित्रण के द्वारा वातावरण का निर्माण होता है। उपन्यास में जिस रस अथवा भाव की प्रधानता होती है, उसी के अनुरूप वातावरण स्वयमेव निर्मित हो जाता है। वातावरण के निर्माण के लिए उपन्यासकार प्रकृति का आश्रय भी ग्रहण करता है। उपन्यासों में प्रकृति-चित्रण विविध रूप में प्रस्तुत होता है।

पृष्ठभूमि

५२- उपन्यास में पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति-चित्रण प्रस्तुत होता है। उपन्यासकार जब स्थान विशेष का चित्रण नहीं करना चाहता है तब वह घटनाओं की पृष्ठभूमि के लिए प्रकृति का ही अवलम्ब लेता है। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में इस रूप का चित्रण अत्यधिक हुआ। आज भी उपन्यासों में प्रकृति पात्रों के कार्यों की पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित हो रही है। पृष्ठभूमि के आश्रय से ही पात्र के संघर्ष का परिचय पाठक प्राप्त कर सकता है।

संवेदनात्मक तथा वैषम्यपूर्ण

५३- प्रकृति का चित्रण प्राय: दो रूपों में हुआ है। कहीं प्रकृति अत्यधिक संवेदनशील है। मानव के दु:ख में वह व्यथित है तो कहीं वह सुख में हर्षित भी। वह मानव की सहचरी के रूप में उपस्थित हुई है। इसके विपरीत कुछ स्थानों पर प्रकृति मानव से तटस्थ है। वह अपनी ही गति से क्रियाशील रहती है।

उसे पात्र के दु:ख में अश्रु बहाने का अवकाश नहीं, और वह उनके हर्षों में उल्लसित हो होती है। प्रकृति क्रमश: संवेदनात्मक तथा वैषम्यपूर्ण रूप में उपन्यासकार की प्रवृत्ति के अनुरूप ही उपस्थित हुई है।

यथातथ्य तथा प्रतीकात्मक

५४- वातावरण के निर्माण के लिए प्रकृति का यथातथ्य चित्र भी प्रस्तुत होता है। वह अपने सहज स्वाभाविक रूप में आती है। उसकी सुषमा अथवा विकरालता से पाठक बिना प्रभावित हुए नहीं रहता।

५५- हिन्दी उपन्यासों में प्रतीकात्मक प्रकृति-चित्रण कम हुआ है। प्रकृति का चित्रण कभी-कभी प्रतीक रूप में होता है। वातावरण के निर्माण में प्रतीकात्मक चित्रण का महत्व होता है। इसके अतिरिक्त, कभी-कभी पात्र विशेष के चिंतन के रूप में प्रकृति-चित्रण दृष्टिगत होता है। प्रकृति-चित्रण से उपन्यास के सौंदर्य की वृद्धि होती है किन्तु इसका प्रयोग भी सम्यक् ही होना चाहिए। वहीं तक इसका प्रयोग श्लाघ्य है जहां तक कि इसके द्वारा सम्यक् वातावरण का निर्माण होता है। प्रकृति अपने आप में साध्य नहीं है। यदि प्रकृति-चित्रण कथानक तथा चरित्रचित्रण से प्रमुखतर हो जाएगा तो उपन्यास उपन्यास न रह कर गद्यकाव्य मात्र की संज्ञा का अधिकारी हो जाएगा।

शैली

५६- उपन्यासों के प्रस्तुतीकरण की पद्धति होती है जिसे हम शैली कहते हैं। प्रत्येक उपन्यास की शैली होती है जो उपन्यासकार के व्यक्तित्व की परिचायक है। विषयवस्तु और शैली का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। विषयवस्तु के अनुरूप ही शैली हुआ करती है। आलोचक ने ठीक ही लिखा है कि शैली वस्तुत: वह विधि है जिससे हम वस्तुओं को देखते हैं। वस्तुएं विविध रूप में हमें प्रभावित कर सकती हैं, तथा इन प्रभावों की प्रतिक्रिया ही शैली रूप में परिणत हो सकती है, इसीलिए वह अलंकृत, व्यंग्यात्मक, कटूक्तिपूर्ण, आवेगमय अथवा तिरस्कारात्मक है। इसी कारण व्यक्तित्व की भिन्नता के कारण ही शैली विभिन्न होती

Style is really the way you look at things. Things may vividly impress you and your reaction to these impressions may result in a style that is flamboyant, satirical, sardonic, passionate or vituperative.
— ...: दी टेक्नीक ऑफ नावेल राइटिंग : १९३४, लंदन, पृ०सं० १३६

व्यक्तित्व की विशेषता से अनुप्राणित होने के कारण ही यह व्यक्तिगत होती है । यह हस्तान्तरणीय नहीं हो सकती । शैली के माध्यम से ही चेतन तथा उपचेतन की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है । वस्तुत: यह मानसिक दृष्टिकोण है, उपचेतना जिस पर हमारे नियंत्रण का प्रत्यक्ष साधन नहीं है, उसकी यह अभिव्यक्ति है[1]। विषयवस्तु की समानता होने पर भी शैली की विभिन्नता के कारण रचनाओं में मौलिकता दृष्टिगत होने लगती है । शैली वस्तुत: अभिव्यक्ति है । अभिव्यक्ति जब तक विशिष्ट तथा मौलिक नहीं होती, ~~तब तक मौलिक नहीं होती~~, तब तक वह महत्वहीन है । शैली लेखक के मस्तिष्क का प्रतिबिम्ब होना चाहिए किन्तु चयन व पसन्द: तथा भाषा का आधिपत्य अभ्यासजन्य हुआ करता है । शैली आदि से अन्त तक वर्तमान रहती है । वाक्यों के चयन, पात्रों के कार्यों, प्रत्येक वर्णन में इसे देखा जा सकता है । शैली जहां विषय वस्तु का अंग है, वहां यह उसकी अभिव्यक्ति भी है । लेखक की कल्पनाएं, भावनाएं ही विविध शैलियों में व्यक्त हुआ करती है । शैली-विविधता लेखक के व्यक्तित्व के अनुरूप हुआ करती है । उपन्यास मुख्यत: तीन शैलियों में लिखे जाते हैं --

१- जीवनी शैली

२-आत्मकथात्मक शैली

३- पत्रात्मक शैली

~~४- डायरी शैली~~

इसके अतिरिक्त, कुछ अन्य शैलियां भी हैं जिनका हिन्दी में अधिक प्रचार नहीं हुआ है यथा, (आयरी शैली) पूर्वदीप्ति, चेतना प्रवाह पद्धति तथा समय विपर्यय आदि । प्रत्येक उपन्यासकार उपन्यास के चित्र को सजीव, सशक्त बनाने के लिए विविध प्रकार की शैलियों का आश्रय ग्रहण करता है जिनमें मुख्य हैं -वर्णनात्मक, चित्रात्मक, विश्लेषणात्मक सांकेतिक, अभिनयात्मक आदि । विषयवस्तु के अनुरूप ही उपन्यास में इन शैलियों का प्रयोग कम तथा अधिक मात्रा में होता है ।

---

[1] It is a frame of mind, a manifestation of the sub-conscious over which you have no direct means of control.

-बी०होगराय: 'दी टैकनीक ऑफ नॉवेल राइटिंग' : १९३४, लंदन, प्र०सं०, पृ०१३८

जीवनी शैली में रचित उपन्यास

५८. उपन्यास मुख्यत: दो ही शैलियों में लिखे जाते हैं - जीवनी शैली अथवा आत्मकथात्मक शैली । अन्य पुरुष में विरचित उपन्यास ही जीवनी शैली के उपन्यास होते हैं । उपन्यासकार इसमें नायक की काल्पनिक जीवनी प्रस्तुत करता है । इस प्रकार के उपन्यासों में उस अथवा नायक की कथा विविध बिन्दुओं तथा दृष्टिकोणों से प्रस्तुत नहीं होती, प्रत्युत उसके चरित्र का उद्घाटन भी विभिन्न दृष्टियों से हो सकता है । इसका कारण यह है कि कथा-निर्माण तथा पात्र-चित्रण के क्षेत्र में उपन्यासकार पूर्णत: स्वतंत्र है । आत्मकथात्मक उपन्यासों में 'मैं' के द्वारा कथा विकसित होती है । इसलिए वहां उसका क्षेत्र सीमित हो जाता है । यहां उपन्यासकार सर्वज्ञ है । वह प्रत्येक स्थिति का उद्घाटन कर सकता है । सर्वज्ञता के कारण जहां लाभ है, वहां हानि की भी सम्भावना है । अपनी सामग्री के लिए उपन्यासकार असीम स्वतंत्रता के अधिकार का उपभोग करता है यद्यपि यहां सदैव ही आशंका है कि वह उस बिन्दु तक बलात् प्रवेश न कर जाए कि वह पाठक के भ्रम तथा वृत्तान्त की सजीवता को शक्तिहीन कर दे[1] । यदि उपन्यासकार सर्वज्ञता का अधिक उपयोग स्थान-स्थान पर करता है तो उपन्यास गतिहीन तथा यांत्रिक हो जायेगा । इसके लिए आवश्यक है कि वह कुछ स्वयं पर नियंत्रण रखे । नियम केवल यही है कि अपने पात्रों के दृष्टिकोण में साझीदार होने का निर्णय करने के बाद लेखक को स्वयं अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं करना चाहिए ।[2] वह इसमें अपने दृष्टिकोण को पात्र में केन्द्रित कर सकता है । यह ठीक है कि इसमें नायक स्वत: आत्मचित्रण अथवा आत्मविश्लेषण नहीं कर सकता फलत: उसका चित्रण तथा अनुभव स्वयं नहीं प्राप्त हुआ करते हैं । इसलिए इसमें उस आत्मीयता तथा अनुभूति की सघनता का अभाव होता है । किन्तु इसमें नायक के अतिरिक्त, अन्य पात्रों

१- पी० एडगर : "दी आर्ट ऑफ दी नॉवेल" : १९३४, न्यूयार्क, पु०सं० पृ० २०

२- पर्सी लुब्बाक : "दी क्राफ्ट ऑफ फिक्शन" : १९६०, लंदन, पु०मु० पृ० २६१

कामी चित्रण सम्यक् रूप से हुआ करता है। नायक का चित्रण भी पक्षपातरहित होता है क्योंकि जहां लेखक उसका चित्रण करता है वहां उसके कृत्यों तथा वचनों के द्वारा भी उसकी चारित्रिक विशेषताएं स्पष्ट हो जाती हैं। अन्य पात्रों की दृष्टि से भी उनका उचित मूल्यांकन हो सकता है। यह सत्य है कि उपन्यासकार के संसर्पणशील दृष्टिकोण के कारण जीवन शैली में रचित उपन्यास इतने सशक्त हो जाते हैं कि वह पाठकों को आश्वस्त कर सकें कि वह जो कुछ लिख रहा है वह यथार्थ है। जीवनी उपन्यास के वार्तालाप आत्मकथात्मक उपन्यासों की भांति केवल विगत घटनाओं के द्योतक नहीं होते। वे परिस्थितिजन्य तथा प्रसंगानुकूल होते हैं। इसी प्रकार से देश-काल तथा वातावरण चित्रण के लिए इन उपन्यासों में पर्याप्त अवसर प्राप्त होता है। प्रारंभिक जीवनी-उपन्यासों की शैली कथावाचक की होती थी किन्तु आज मनोवैज्ञानिक, व्याख्यात्मक, अभिनयात्मक तथा चित्रात्मक अन्य शैलियों में ये लिखे जा रहे हैं।

५८ उत्तम पुरुष में प्रस्तुत आत्मकथात्मक उपन्यास जीवनी उपन्यास की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं क्योंकि उपन्यासों में नायक-नायिका अपनी कथा स्वयं सुनाते हैं। फलत: इनमें सहज स्वाभाविक आत्मीयता दृष्टिगत होती है।कथानक का विकास 'मैं' के माध्यम से होता है। अतएव उपन्यास का केन्द्रबिन्दु 'मैं' ही होता है। कथानक में जिन घटनाओं तथा परिस्थितियों का चित्रण होता है, वे मैं से सम्बद्ध होती हैं। इसलिए कथानक में चाहे कलात्मकता का अभाव हो, परन्तु वह सम्बद्ध तथा सुगठित होता है। जहां नायक आत्मव्याख्या तथा अपने कार्यों का औचित्य सिद्ध करना चाहता है अथवा यदि किसी पात्र के विरुद्ध नायक तर्क उपस्थित करना चाहता है या कथानक इतना काल्पनिक हो कि अविश्वसनीय प्रतीत हो वहां यह शैली सर्वथा उपयुक्त है। यदि साधारण व्यक्ति असाधारण परिस्थिति में पड़ गया है तो वह आत्मकथात्मक उपन्यास में अपनी व्याख्या इस रूप में कर सकता है जो विश्वसनीय हो। आत्मकथात्मक उपन्यासों में जहां तक 'मैं' के चिन्तन, मनन, कार्यप्रणाली, आत्मपरीक्षण, आत्मविश्लेषण का प्रश्न है, इसकी समकक्षता अन्य प्रकार के उपन्यास नहीं कर सकते हैं। निश्चय ही उनके संबंध में अपने चिंतनों और निष्कर्षों से वह हमें अवगत करा सकता है। परन्तु वे परोक्ष बातों के सम्बन्ध में तीक्ष्ण अनुमान ही हो सकते हैं। वह विश्लेषणात्मक उपन्यास लेखक के साथ किसी प्रकार की स्पर्धा नहीं कर सकता। वह स्वदृष्टि से ही आत्मचित्रण प्रस्तुत करता है। इसलिए वैयक्तिक अनुभवजन्य उसके निरीक्षण का क्षेत्र सीमित हो जाता है अन्य पुरुष के उपन्यासकार की भांति वह सब देखने वाली आंखें तथा सब जानने वाला सुलझा हुआ मस्तिष्क नहीं रखता है। बहुत-सी रोचक तथा महत्वपूर्ण वस्तु संघटित हो चुकी हैं होती हैं जिनसे वह अपरिचित रहता है। मैं स्वदृष्टि से ही चित्रण कर सकता है परन्तु उसका क्षेत्र सीमित हो जाता है।

His own reflections and surmises concerning them of course he can give us. But they can afford to be but shrewd guesses at hidden things and he can enter into no serious rivalry with the analytic novelist.

-- पी०डी०एडगर: दी आर्ट आफ दी नॉवेल : न्यूयार्क, १९३४, पृ०सं०, पृ०

अन्य पात्रों का उसके प्रति क्या मनोभाव है, यह प्रश्नचिह्न ही रहता है। सीमित दृष्टिकोण होने के कारण मैं उन पात्रों के साथ न्याय नहीं कर पाता है। उन्हें उनकी परिस्थिति में रख कर विश्लेषण नहीं कर सकता है। संभावना यह भी है कि उसका चित्रण पक्षपातपूर्ण न हो जाए। इसके अतिरिक्त, यदि वह निरन्तर मानसिक क्रियाकलाप को प्रकट करेगा तो यह मिथ्या प्रदर्शन की व्यंजना होगी।[1] इन दोषों का परिहार वहां हो जाता है जहां दो तीन पात्र अपनी कथा प्रस्तुत करते हैं। एक पात्र ही स्वयं का आत्मविश्लेषण नहीं करता। अन्य पात्र भी स्वयं का विश्लेषण करते हैं। ऐसे उपन्यासों में चरित्र चित्रण प्रथम प्रकार के उपन्यासों की तुलना में अधिक पूर्ण होता है। इनमें चरित्र-चित्रण की एकांगिता का परिहार हो जाता है। आत्मकथात्मक उपन्यासों की एक अन्य शैली भी होती है। इनमें दूसरे की कथा "मैं" के द्वारा प्रस्तुत होती है। यहां पर उपन्यासकार को दोनों की ही सुविधा प्राप्त है --आत्मकथात्मक तथा विश्लेषक की। यह पद्धति वहीं उपयुक्त है जहां चित्रात्मक वर्णन उपलब्ध है। किन्तु नाटकीय शक्ति लाने के लिए प्रथमपुरुष का प्रयोग होता है। जहां मैं को स्वयं का विशद चित्र प्रस्तुत करना है वहां कहानी का पात्र स्वतः नाटकीय तत्व है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि किसी के द्वारा उसे नाटकीय बनाया जाए।[2] इस प्रकार के उपन्यासों में प्रस्तुत वार्तालाप परिस्थिति-जन्य नहीं होते क्योंकि "मैं" उसका चित्रण करता है जो अतीत है। दृश्य, पात्रों के कार्य तथा वार्तालाप अतीत से सम्बद्ध होते हैं इसलिए वह हमारे निरीक्षण का केन्द्र नहीं बन पाते। देश-काल तथा वातावरण, चित्रण भी आत्मपरक होता है। यूं इनकी शैली वर्णनात्मक, व्याख्यात्मक, चित्रात्मक तथा अभिनयात्मक होती है। आज आत्मकथानक उपन्यास अनेक लिखे जा रहे हैं।

Hexkaxnakxkkaxaikxsaeingxayaxxkhaxaik

1- But it would savour of priggishness if he exposed the operation of his mind too consecutively.

-पी० ल्यूबक: दी आर्ट ऑफ दी नॉवेल : १९३४, न्यूयार्क, पुन:मुद्रित पृ० २२

२- पर्सी लुब्बाक :दी क्राफ्ट ऑफ फिक्शन : १९६०, लंदन, पुन:मुद्रित, पृ० १४०

५९- शिल्प की दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में अनेक सफल तथा विफल प्रयोग हुए हैं जिनमें पत्रात्मक शैली भी एक प्रयोग है । निस्सन्देह यह शैली लोकप्रिय तथा चरित्र-चित्रण पात्रों के माध्यम से हुआ है । ये पत्र अपने निकटतम आत्मीय जनों को लिखे जाते हैं जिनमें पत्र लेखक अपनी आन्तरिक बाह्य परिस्थिति का यथासंभव वर्णन करता है। कभी कभी एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण उपन्यास में पत्र लिखता चला जाता है वह प्राप्त पत्र का उल्लेख अति-संक्षेप में करता है। इसके प्रतिकूल कुछ में अनेक व्यक्ति पत्र लिखते हैं । इन पत्रों से प्रत्येक पात्र के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है, साथ ही इनसे कथावस्तु की संकीर्णता भी कुछ कम होती है । उपन्यास की दृष्टि से यह प्रयोग सफल नहीं हुआ है । पत्रों के माध्यम से कथा का जो विकास होता है, वह स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता । इसका एक कारण यह भी है कि पत्रों में कुछ औपचारिक बातें भी होती हैं जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उपन्यास से नहीं होता है । इसके अतिरिक्त,कथानक का स्वत: विकास नहीं होता । कथानक के विकास में कृत्रिमता तथा यांत्रिकता प्रतीत होती है क्योंकि कथा के बिखरे सूत्रों को पत्रों के द्वारा सम्बद्ध किया जाता है ।इस प्रकार के उपन्यास लघु कथानकों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं ।

६०- चरित्र-शिल्प की दृष्टि से इनमें सूक्ष्म,मनोवैज्ञानिक ,विश्लेषणात्मक अभिनयात्मक चित्रण की संभावना कम है । इसमें चरित्र-चित्रण प्रत्यक्ष रूप में नहीं दृष्टिगत होता है । इसमें पात्रों की झांकियां ही दृष्टिगत होती हैं । इसी प्रकार पत्रात्मक उपन्यासों के वार्तालाप में नाटकीयता तथा अभिनयात्मकता का सर्वथा अभाव होता है । परिप्रेक्ष्य -चित्रण के लिए भी इनमें अल्प संभावना होती है । जो चित्रण होता भी है वह बाह्य वर्णनात्मक तथा स्थूल होता है । शिल्पविधि की दृष्टि से यह शैली आत्मकथात्मक उपन्यास-शैली के निकट है । अन्तर केवल इतना ही है कि आत्मकथात्मक उपन्यासों में व्यक्ति अपनी कथा स्वयं सुनाता है । वहां मैं का चित्रण, चिंतन, विश्लेषणात्मक व्यापक रूप में हो सकता है, जब कि यहां इसकी परिधि संकीर्ण है । पत्रात्मक शैली में रचित उपन्यास लोकप्रिय नहीं हुए हैं और न इस शैली का प्रचार ही हुआ है । इस शैली का मुख्य दोष यह है कि वे कृत्रिम तथा कलाविकर प्रतीत होते हैं । किन्तु अनेक जीवनी-

उपन्यास तथा आत्मकथात्मक उपन्यास में पत्रों का प्रयोग विविध प्रयोजनों की सिद्धि के लिए हो रहा है । होसकता है कि यदि इस शैली में सुन्दर उपन्यास लिखे जाएं, तो यह शैली भी प्रचलित हो जाएँ ।

डायरी शैली

६१- पत्रात्मक शैली की भांति ही दैनन्दिनी-शैली भी है । इसमें कथा का विकास पात्रों की डायरी से होता है । पात्रों के चरित्र पर प्रकाश भी दैन-न्दिनी के द्वारा ही पड़ता है । शिल्पविधि की दृष्टि से यह शैली पत्रात्मक तथा आत्मकथात्मक उपन्यासों के समीप है । स्वाभाविकता की दृष्टि से यह एक प्रशस्त प्रयोग नहीं है । इसका कारण यह है कि डायरी के रूप में उपन्यास का स्वाभाविक विकास होना संभव नहीं है । उपन्यास के विकास में अनेक घटनाओं का योगदान होता है तथा पात्र-विकास भी विविध दृष्टि से हुआ करता है । डायरी-लेखक का क्षेत्र सीमित है । वह कतिपय घटनाओं की ही प्रतिक्रिया अंकित कर सकता है । वह अपने चरित्र की झांकी प्रस्तुत कर सकता है । परन्तु जो उसकी दृष्टि और क्षेत्र से परे है उसके चित्रण के अभाव में उपन्यास यांत्रिक तथा अस्वाभाविक प्रतीत होगा । फलत: ऐसे उपन्यासों में गति तथा स्वत:प्रवर्तित प्रवाह का सर्वथा अभाव होता है । पात्र-चित्रण में भी स्वाभाविकता और सजीवता का अभाव होता है । ~~[illegible]~~ ~~[illegible]~~ । शिल्प की दृष्टि से अपने लिखित लक्षित उपन्यास नहीं अलग होता है

पूर्वदीप्ति शैली : Flash Back :

६२- कुछ अन्य शैलियां हैं जिनका हिन्दी में अधिक प्रचार नहीं हुआ है । मनोवैज्ञानिक उपन्यास पूर्वदीप्ति शैली में लिखे जाते हैं । इनमें स्मृति के माध्यम से पात्र के जीवन की घटनाओं का चित्रण होता है । अत: यहां अतीत वर्णनात्मक रूप में न आकर स्मृति तरंगों के रूप में प्रतिफलित होता है ।[१]

१- `अतीत वर्तमान से होकर वर्तमान के आलोक में पीछे मुड़कर देखा गया है । अतीत को अतीत बनाए रख कर उसके अधिकार को अक्षुण्ण रख कर आगे की ओर नहीं देखा गया है जैसा प्राचीन उपन्यासकार करते आ रहे थे । वास्तव में देखा जाय तो उपन्यास कला की प्रगतिशील मनोवैज्ञानिकता और आत्मनिष्ठता ने घटनाओं को घटनाओं के रूप में रहने नहीं दिया है। वे तो अब पात्र के मनोवैज्ञानिक चित्र के आधार मात्र रह गई हैं--डा०देवराज: `आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान`: १९५६, इलाहाबाद, पृ०सं०पृ० ३१२-३१३

संभावना है कि इस प्रकार के उपन्यास-शिल्प में असन्तुलन तथा असम्बद्धता का समावेश न हो जाए । नरोत्तमप्रसाद नागर (?) कृत "दिन के तारे" (?) आदि इसी शैली में रचित उपन्यास हैं ।

चेतनाप्रवाह पद्धति : Stream of Consciousness :

६३- इस पद्धति में वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ का अन्तर नष्ट हो जाता है । इस पद्धति में समस्त घटनाएं बाह्य संसार से हट कर मानसिक संसार में अवस्थित हो जाती हैं । फलत: उपन्यासों में सूक्ष्मता तथा प्रभावपूर्णता दृष्टिगत होने लगती है । इनमें मानवीय चेतना की विवृत्ति, आन्तरिक भावप्रवणता के आधार पर होती है । जगत् की बाह्य रूपरेखाएं आन्तरिक भावानुभूति में तिरोहित हो जाती हैं । अत: इस पद्धति में कथावस्तु का बंधन नहीं होता । अन्त:करण का स्पन्दन, भाव, कल्पनाओं ने शिल्प में स्थान पाया है । इस शैली की विशेषता है स्वगतोक्तियाँ । भावों के अनुरूप ही इसकी भाषा की अनुभूतियाँ मार्मिक तथा व्यंजनात्मक होती है । वर्जिनिया वुल्फ कृत "जैकब्स रूम" तथा "वेव्स" इसी शैली में लिखे गए उपन्यास हैं । ~~१९५० में प्रकाशित~~ प्रभाकर माचवे का "परन्तु" इसी शैली का उपन्यास है ।

समय विपर्यय शैली : Shift of Time :

६४- समय विपर्यय शैली में उपन्यास की कला का चित्रण क्रमोच्छेदक शैली में प्रस्तुत होता है । इसका प्रारम्भ आदि से नहीं होता । कभी अन्तिम दृश्य या घटना से उपन्यास का श्रीगणेश होता है तो कभी मध्य से । हिन्दी में कुछ उपन्यास इसी शैली में लिखे गए हैं ।

वर्णनात्मक, चित्रात्मक, व्यंग्यात्मक, भावात्मक शैली

६५- जीवनी-उपन्यास आत्मकथात्मक, पत्रात्मक, डायरी, पूर्वदीप्ति, चेतना-प्रवाह, समय-विपर्यय आदि शैलियों का संबंध उपन्यास के रूप से होता है । इन शैलियों में सम्पूर्ण उपन्यास प्रस्तुत होता है । किन्तु कुछ शैलियां ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है । यह आवश्यक नहीं है कि एक उपन्यास में एक ही शैली दृष्टिगत हो । एक उपन्यास में अनेक प्रकार की शैलियां प्रसंगानुसार तथा भावानुसार दृष्टिगत होती हैं ।

६५- उपन्यास के विकास में वर्णनात्मक शैली का योगदान उल्लेखनीय है । इसके द्वारा पात्र-चित्रण ही नहीं होता प्रत्युत कथानक, पृष्ठभूमि ,वातावरण देश-काल,चित्रण भी होता है । उपन्यासकार के द्वारा प्रस्तुत विवरण मात्र वर्णनात्मक शैली का परिचायक नहीं है । इसके द्वारा उपन्यासकार पाठक के मस्तिष्क में अभीप्सित प्रभाव अंकित करता है तथा वह वस्तु ही उसके समक्ष सजीव और और सप्राण हो जाती है । ऐसा अनुभव होता है कि वर्णन के कारण वह वस्तु ही दृश्यमान होकर बोल रही है ।वर्णन की प्रक्रिया मस्तिष्क में जो चित्र उपस्थित करे वही इसकी परिभाषा है[१] । यदि वर्णन वर्णन के लिए उपन्यासकार करता है तो शिल्प की दृष्टि से नगण्य हो जाता है । अंगूठी में जड़ा साधारण पत्थर भी मोती-सा शोभायमान होता है और कीचड़ में पड़ा बहुमूल्य नग भी आभा-हीन हो जाता है। वर्णनात्मक शैली की सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि वर्णन केवल वर्णन के लिए न हो, वह सप्रयोजन तथा प्रासंगिक हों। यह वर्णन,चित्रण, विविध तथा व्यंजनात्मक होना चाहिए,चित्रकला से यह शैली समृद्ध हुई है ।चित्रकला में चित्रकार रंग और ब्रुश के माध्यम से चित्र बनाता है । उपन्यास में उपन्यासकार शब्दों के रंगों से चित्रमय वर्णन प्रस्तुत करता है । उपन्यास में कथानक अथवा चरित्र-चित्रण की अपेक्षा उसमें प्रस्तुत जीवन-चित्र अधिक महत्वपूर्ण होता है । यह चित्रात्मक पद्धति की ही विशेषता है कि वह विस्तृत वस्तु को प्रभावशाली लघु रूप में प्रस्तुत कर दे । चित्रकार विराट् दृश्य को कतिपय रेखाओं और रंगों के माध्यम से चित्र में प्रस्तुत करता है जो दृश्य की तुलना में लघु होता है उसी प्रकार उपन्यासकार शब्द-चित्रों के माध्यम से प्रभावशाली ढंग से संक्षेप में दृश्य,चित्र पाठक के समक्ष उपस्थित करता है । इस पद्धति की एक संभावित दुर्बलता है । उपन्यासकार सर्व-व्यापक होता है, यदि वह अपने चित्रों के में बार-बार प्रकट होने लगे तो यह दुर्बलता ही होगी । उसकी उपस्थिति आनन्द में बाधक होगी १- अथवा इसका

१- पी०एडमर :'दी आर्ट ऑफ दी नॉवेल' : १९३४ , न्यूयार्क , पृ० सं० पृ० २९

सैद्धान्तिक दोष भुलाया जा सकता है यदि उसका चित्र इतना चौंधियानेवाला हो[1]। शिल्प की दृष्टि से चित्रात्मक शैली वही सफल है जिसका चित्र यथार्थ तथा सजीव प्रतीत हो। वर्णनात्मक शैली श्वेत वस्त्र की भाँति है जो भाँति भाँति के रंग में रंगा जा सकता है। कहीं यह चित्रात्मक होती है तो कहीं पर यह व्यंग्यात्मक अथवा भावात्मक या कवित्वमय या व्यंजनात्मक हो जाती है। उपन्यासकार ~~माध्यम~~ विशिष्ट शब्दावली के माध्यम से जब परिस्थिति, वर्ग, भावना, विशिष्ट चरित्र के प्रति व्यंग्य करता है तो वह व्यंग्यात्मक शैली का आश्रय ग्रहण करता है। हिन्दी में कुछ व्यंग्य उपन्यास भी लिखे गये हैं जिनमें आदि से अन्त तक यह शैली दृष्टिगत होती है। व्यंग्यात्मक शैली की शब्दावली वर्णनात्मक नहीं होती और न यह अभिधामूलक होती है। इसमें शब्दों का अर्थ विशिष्ट होता है जो व्यंग्यात्मक होता है। किन्तु जब वर्णनात्मक शैली कोमल भावनाओं, सुकुमार कल्पनाओं से अनुप्राणित होने लगती है तो यह भावात्मक हो जाती है। उपन्यासों में अधिकतर रोमांस अथवा प्रेम प्रसंगों में यह शैली दृष्टिगत होती है। वहाँ यह रंगीन, भावात्मक तथा सरस हो जाती है। इसी प्रकार जब यह (वर्णनात्मक) शैली अभिधामूलक न होकर व्यंजनाप्रधान हो जाती है तो इसकी संज्ञा हो जाती है व्यंजनात्मक। यह शैली सफल उपन्यासों में दृष्टिगत होती है। पवन स्थान-विशेष से प्रभावित होता है, मरुस्थल की प्रचंड धूप में वह उष्ण हो जाता है, नदी तट पर वह ठंडा हो जाता है, उद्यान में वह सुवासित हो जाता है, इसी प्रकार वर्णनात्मक शैली भी भावानुसार कहीं चित्रात्मक कहीं भावात्मक, कहीं व्यंग्यात्मक तथा कहीं व्यंजनात्मक हो जाती है। इसके अतिरिक्त, लेखक की वैयक्तिक रुचि के कारण भी इसके अन्य स्वरूप दृष्टिगत होते हैं। जो उपन्यास यथार्थ से अनुप्राणित होते हैं, उनकी शैली यथार्थवादी होती है। वे यथार्थ वातावरण तथा पृष्ठभूमि की अवतारणा इसी शैली के द्वारा करते हैं। स्वच्छन्दतावादी उपन्यासकार इसे रोमानी रूप प्रदान करते हैं। कुछ विशेष स्थलों पर यह तार्किक तथा हास्यशैली का भी रूप ग्रहण करती है।

---

[1] "or if his ~~pa~~ picture is so dazzling that a theoritic defect in it is forgotten.

-पर्सी लुब्बाक: 'दी क्राफ्ट ऑफ फिक्शन': १९६०, लंदन, पं०मु०, पृ० १२०

विश्लेषणात्मक तथा मनोवैज्ञानिक शैली

६७. उपन्यास के निर्माण में विश्लेषणात्मक शैली का योगदान भी महत्वपूर्ण है। कुछ उपन्यास तो इसी शैली में ही लिखे गए हैं। सामान्यत: इस शब्द का अर्थ है कि उपन्यासकार पात्रों के लक्ष्य चेतन या अचेतन विचार की प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करने का प्रयास करता है जिन्हें वह परीक्षण के उपयुक्त समझता है[1]। चरित्र-चित्रण के लिए ही यह विश्लेषण केवल उपयुक्त नहीं है, प्रत्युत उपन्यास में प्रस्तुत जीवन-चित्र को पूर्णत: हृदयंगम करने के लिए अन्य शैलियों की भांति ही यह भी आवश्यक है। कथा, घटना, परिस्थिति, पात्र, तथा कार्य के मूल में निहित कारणों पर वैज्ञानिक पद्धति से विश्लेषणात्मक शैली के द्वारा प्रकाश पड़ता है। जिस प्रकार प्रदीप-प्रकाश (Search Light) के द्वारा अन्धकार में छिपी हुई वस्तुएं दृश्यमान हो जाती हैं उसी प्रकार विश्लेषणात्मक शैली के प्रदीप-प्रकाश के द्वारा प्रत्येक परिस्थिति, घटना तथा पात्र का कार्य का कारण स्पष्ट हो जाता है। इस शैली के द्वारा उपन्यासकार वैज्ञानिक ढंग से कार्य, परिस्थिति तथा घटना की विवेचना करता है। किन्तु यह शैली जहां मनोविज्ञान से अनुप्राणित होती है वहां मनोवैज्ञानिक हो गयी है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में दोनों प्रकार की शैलियां दृष्टिगत होती हैं। व्यक्ति असामान्य व्यवहार क्यों करता है ? 'सुनीता' (१९३५) का हरिप्रसन्न कैसा है ? उसके कुंठित व्यक्तित्व को उभारने के लिए उपन्यासकार ने समस्त कारणों का विश्लेषण किया है। विश्लेषण गंभीरता के साथ संवाद के मार्ग में प्रवेश नहीं करता है क्योंकि यह स्वयं ही एक प्रकार का आध्यात्मिक स्वगत कथन है, यह संवाद गृह का मध्यवर्ती मार्ग है किन्तु यह कथा की शक्ति को कुंठित कर देता है तथा अपनी उपस्थिति में यह कार्य को निर्जीव कर देता है[2]।

---

[1] We generally mean by the term the novelist's attempt to represent the motives and the conscious or unconscious thought processes of the characters to whom he sees fit to apply the test

-पी०ई०एल्गर: 'दी आर्ट ऑफ दी नॉवेल': १९३४, लंदन, पृ०सं० पृ० ३३

[2] -Analysis does not seriously get in the way of dialogue, for being itself a kind of spritual monologue it serves as a half way house to speech. But it paralyzes narrative vigour, and in its presence action languishes.

यह इस शैली की दुर्बलता अवश्य है । अधिक विश्लेषण से उपन्यास नीरस तथा बोझिल हो जाता है क्योंकि उनमें चित्रात्मकता तथा नाटकीयता का अभाव हो जाता है । किन्तु यह भी सत्य है कि कुछ स्थलों पर इसकी आवश्यकता होती है। विश्लेषण के द्वारा जो स्थिति अथवा पात्र-चित्रण स्पष्ट हो जाता है, वह संवाद अथवा कथा के द्वारा नहीं हो सकता ।

सांकेतिक शैली

६८ सांकेतिक शैली व्याख्या समन्वित वर्णनात्मक शैली के प्रतिकूल होती है । उपन्यासकार दृश्य,घटना, अथवा परिस्थिति का विशद चित्र अंकित नहीं करता। उसे पाठक की कल्पना शक्ति पर विश्वास होता है । वह कतिपय संकेतों के माध्यम से सुन्दर दृश्य तथा चरित्र-चित्रण प्रस्तुत करता है । अन्य शैलियों की अपेक्षा यह शैली कठिन है क्योंकि यदि यह अधिक सांकेतिक होगी तो पाठकों के लिए प्रश्नचिह्न बन जाएगी । साथ ही संकेत,स्पष्ट तथा पूर्ण होने चाहिए ।सिद्धहस्त उपन्यासकार ही इस शैली का प्रयोग कर सकता है। यूं शिल्प की दृष्टि से सांकेतिक शैली वर्णनात्मक की अपेक्षा श्रेष्ठतर है । इसमें कलात्मक सौन्दर्य दृष्टिगत होता है ।

अभिनयात्मक शैली

६९ अभिनयात्मक शैली वर्णनात्मक शैली की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हो सकती है । वर्णनात्मक शैली में लेखक का ही प्राधान्य होता है । उसकी दृष्टि से ही हम वस्तुओं,तथ्यों को समझते हैं ।इसके विपरीत अभिनयात्मक शैली में लेखक स्वत: वर्णन नहीं करता है । वह तथ्यों को इस रूप में रखता है कि पाठक के मन में स्वत: चित्र उपस्थित हो जाए । वह दृश्यों अथवा परिस्थिति की योजना इस रूप में करता है कि पाठक उनका अनुभव स्वत: कर सके,चरित्र-चित्रण भी इस रूप में होता है कि पाठक पात्र के सम्बन्ध में निश्चित धारणा स्वयं बना सके । फलत: यह शैली अन्य शैलियों की अपेक्षा अधिक नाटकीय है ।इस शैली की संभावित दुर्बलता है कि इसके लिए विस्तार अपेक्षित है । यदि किसी उपन्यास का विकास केवल अभिनयात्मक शैली के द्वारा ही हो तो उसमें अनावश्यक विस्तार का समावेश हो जाएगा ।लघु प्रसंगों तथा आवश्यक पात्रों के चित्रण के लिए यह शैली सर्वथा अनुपयुक्त है ।

७०- प्रत्येक शैली में कुछ गुण तथा दोष होते हैं। उपन्यासकार के व्यक्तित्व के अनुरूप ही शैलियां सजीव सशक्त निर्जीव तथा दुर्बल हुआ करती हैं। किसी भी शैली के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इसका कारण है कि लेखक की लेखनी के कारण वर्णनात्मक शैली प्रभावपूर्ण हो सकतीहै और अभिनयात्मक शैली निर्जीव और निष्प्राण भी। इसके अतिरिक्त, प्रसंग तथा भावानुकूल ही शैली का प्रयोग करना उचित है। चित्रकार विविध रंगों का प्रयोग कर सजीव चित्र प्रस्तुत करता है उसी प्रकार उपन्यासकार विविध शैलियों का यथास्थान प्रयोग कर जीवन-चित्र सजीव उपस्थित करता है। यदि उपन्यासकार अभिनयात्मक स्थल पर वर्णनात्मक शैली का प्रयोग करता है तो उपन्यास नीरस हो जायेगा। यदि वर्णनात्मक स्थल पर अभिनयात्मक शैली का प्रयोग करेगा तो वह प्रभावहीन हो जायेगा। शैली व्यक्तित्व से अनुप्राणित होती है। इसके लिए आवश्यक होता है कि इसमें विशिष्टता तथा मौलिकता हो। सफल उपन्यासों की शैली में लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिफलन होना चाहिए। उसमें वह विशिष्टता तथा मौलिकता होनी चाहिए जो उसे अन्य उपन्यासों से भिन्न कर सके। सुन्दर गद्यशैली का प्रभाव इतना अधिक एकमात्र शब्दों के सौंदर्य के द्वारा सुरक्षित नहीं हो सकता ~~जितना कि एक के अनंतर एक शीघ्रगामी कल्पना की चमकीली झांकियों के असम्बद्ध प्रभाव के द्वारा सुरक्षित नहीं हो सकता~~ जितना कि एक के अनन्तर एक शीघ्रगामी कल्पना की चमकीली झांकियों के असम्बद्ध प्रभाव के द्वारा सुरक्षित हो सकता है। यह एक प्रकार का गद्य रचना का प्रभाववादी तकनीक है। यही नहीं, सुझाव दिया जा रहा है कि प्रभाववादी शैली सर्वत्र उपयुक्त होगी।[१]

भाषा शैली

७१- भाषाशैली का उपन्यासों में अत्यधिक महत्त्व है। बिना भाषा के उपन्यास की कल्पना अमूर्त ही रह जाएगी। उपन्यास -आत्मा को भाषा-शरीर

१- The effect of a beautiful prose style may be secured not so much by the charm of individual words as by the abrupt effect of quick flashing images succeeding each other in rapid succession-a sort of impressionistic technique of prose writing.
It is not suggested that that impressionistic style will suit every case.
-के० होगराय ;दी टैकनिक ऑफ नॉवेल राइटिंग :`१९३४,लंदन,पृ० १४८

के द्वारा ही अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। सफल भाषाशैली का व्याकरण-सम्मत होना अनिवार्य है। अशुद्ध भाषा के कारण उपन्यास केवल श्रीहीन ही नहीं होता प्रत्युत भावाभिव्यक्ति दुर्बल हो जाती है। भाषा इतनी सशक्त होनी चाहिए कि वह विचारों अथवा भावों को सफलतापूर्वक वहन कर सके। यदि उसमें भावानुकूल विविधता नहीं होती तो वह नीरस, शक्तिहीन तथा गतिहीन हो जाती है। भाषाशैली के लिए मौलिकता सर्वाधिक आवश्यक है। पिटी पिटाई अभिव्यंजना से रचना के सौंदर्य का ह्रास हो जाता है। इसके अतिरिक्त, यह उपन्यासकार की कल्पना-शक्ति की दुर्बलता का द्योतक है। सहज स्वाभाविक अलंकारों के प्रयोग से भाषा की शक्ति की अभिवृद्धि होती है। वह रम्य तथा सुन्दर हो जाती है। सफल अलंकारों के द्वारा भाव की अनुभूति अपेक्षाकृत सबलतर ढंग से होती है। किन्तु केवल आलंकारिकता तथा शब्द-सौंदर्य से ही भाषा-शैली सुन्दर नहीं होती है। चण्डीप्रसाद हृदयेश : ? : का 'मनोरमा' :१९२४: 'मंगल प्रभात' :१९२६:, राधिकारमण प्रसाद सिंह :१८९०: कृत 'राम रहीम' :१९३६: 'पुरुष और नारी' :१९४०: आदि उपन्यासों की भाषाशैली का सौन्दर्य दर्शनीय है। किन्तु प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: कृत 'गोदान' :१९३६: की तुलना में ये उपन्यास महत्वहीन हैं। अनपेक्षित काव्यात्मकता, रूढ़िगत प्रयोगों तथा पिटी-पिटाई अभिव्यंजना भाषा-शैली को समृद्ध नहीं करते हैं। श्रेष्ठ उपन्यास शैलीगत इन दोषों से मुक्त होते हैं। उनकी भाषा-शैली में नवीनता तथा विशिष्टता होती है जो उनके व्यक्तित्व के अनुरूप होती है। भाषा के लिए यह अत्यधिक आवश्यक है कि वह लेखक की निजी हो। श्रेष्ठ भाषा-शैली के लिए प्रवाह तथा गति आवश्यक है। ~~इसके लिए आवश्यक है~~ कि वह सरल-सुबोध होनी चाहिए, उसमें उपयुक्त तथा सार्थक शब्दों का प्रयोग हुआ हो। उसमें अनावश्यक रूप से शब्दों की तोड़ फोड़ न हो, व्यर्थ ही विशेषण को संज्ञा तथा क्रियाविशेषण को क्रिया न बनायी गयी हो। अच्छी भाषा शैली में उपयुक्त शब्दावली विचारों की स्पष्टता, ध्वनि-सौंदर्य, भावानुकूल विविधता उपलब्ध होती है। यह अभिधामूलक ही नहीं होती, प्रत्युत प्रसंगानुकूल लक्षणामूलक तथा व्यंजनात्मक होती है। मॉर्गन लेखकों को अच्छा समझता है जिनकी भाषाशैली में सादगी है।[1]

१-डी० बे०हौगराथ: 'दी टेकनीक आफ नावेल राइटिंग' :१९३४, लंदन, पृ०सं०पृ०५०

नि:सन्देह भाषाशैली महत्वपूर्ण साधन है परन्तु साध्य नहीं। शिल्प की दृष्टि से वही भाषा श्लाघ्य तथा स्मरणीय होगी जो भाव, विचार तथा अनुभूति का सफल प्रतिनिधित्व करती है।

निष्कर्ष

७२. उपन्यास एक कला है। उसका शिल्प भी निजी है। जीवन और जगत के सत्य से उपन्यासकार प्रेरित होकर उपन्यास का प्रणयन करता है। किन्तु उपन्यास का सत्य और जगत का सत्य सर्वथा भिन्न हुआ करता है। जीवन में ऐसी घटनाएं भी घटित होती हैं जो कल्पना से भी विचित्र प्रतीत होती हैं। मानव-जीवन की कथा-सरिता जन्म से मृत्यु तक निरन्तर गतिशील रहती है। किंतु यदि उपन्यास में इस कथा का चित्रण यथातथ्य हो तो रचना नीरस, बोझिल तथा कलात्मकता से हीन हो जाएगी। उपन्यास में तिथिक्रम यथारूप में प्रस्तुत नहीं हो सकता। यूं उपन्यास के लिए भी कालक्रम-विधान अनिवार्य है। प्रत्येक उपन्यास का एक निश्चित कालक्रम होता है। यदि उपन्यासकार चाहे तो वह एक अनुच्छेद में कुछ वर्षों या अनेक वर्षों अथवा विशिष्ट वर्ष का उल्लेख कर सकता है। अनेक वर्षों के इतिहास को कुछ पंक्तियों में ही प्रस्तुत कर सकता है। अथवा अनेक वर्षों की सीमा का अतिक्रमण कर विशिष्ट वर्ष से परिच्छेद का प्रारम्भ कर सकता है। यह कालक्रम उपन्यास की आवश्यकतानुसार दीर्घ अथवा लघु हो सकता है। शिल्प की दृष्टि से यह आवश्यक है कि यह स्वाभाविक तथा तर्कसम्मत प्रतीत हो। पाठक को समय के व्यवधान की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। जगत के पात्र तथा उपन्यासों के पात्रों में अन्तर होता है। मानव शिशु रूप में आता है, कुछ कार्य कर वृद्धाकार होकर चला जाता है। उपन्यास में पात्रों की बाल-लीला, युवकोचित आचरण आदि का विशद चित्र अंकित नहीं हो सकता है। उपन्यास-शिल्प की सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि वह पात्र के सम्पूर्ण जीवन चरित्र को क्षण विशेष में अन्तर्निहित कर इस रूप में प्रस्तुत करे कि वह सजीव जीवन्त तथा हृदयग्राही प्रतीत हो। उपन्यास की मौलिकता ही उसे सफल नहीं बनाती है जब तक कि उसका शिल्प समुन्नत हो। किसी भी मूर्ति की कल्पना सुन्दर तथा मौलिक हो सकती है। परन्तु वह कल्पना सार्थक तथा सफल तभी

होती है जब कि वह कलाकार के कलात्मक स्पर्श से पूर्ण होती है। इसी प्रकार उपन्यास की रम्य कल्पना शिल्प के द्वारा ही साकार होती है। किन्तु केवल शिल्पगत प्रयोग की दृष्टि से भी कोई उपन्यास जीवित नहीं रह सकता। उपन्यास जीवन का चित्र है तथा हम जीवन से भली भांति परिचित हैं, यह सबसे पहले हमें अनुभव करना है कि तब अपनी रुचि का प्रयोग करना है, हमें निर्णय करना है कि वस्तुत: जीवन की भांति यह सत्य, विविध तथा विश्वसनीय है[१]। शिल्प उपन्यास का अनिवार्य अंग है। उसी के कारण उपन्यास जीवन का चित्र होते हुए भी जीवन से विशिष्ट होता है, उसके पात्र शून्य से निसृत न होकर जीवन्त, सजीव तथा यथार्थ प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार राग-रागनियों में आबद्ध स्वरों की सत्ता स्वतंत्र भी होती है तथा वे उनके अंग भी होते हैं, इसी प्रकार उपन्यास में प्रस्तुत प्रत्येक दृश्य उपन्यास-शिल्प का महत्वपूर्ण ह अंग है।

१- A novel is a picture of life and life is well known to us; let us first of all realise it and then using our taste. let us judge whether it is true, vivid and convincing like the life in fact-
-पर्सी लुब्बाक : 'दी क्राफ्ट आफ फिक्शन' : १९६०, लंदन, पृ०सं० ६

अध्याय ४

कथानक - शिल्प का विकास

१- जिस प्रकार पर्वत की चोटी से मैदान की निचाई दृश्यमान होती है उसी प्रकार मीलस्तम्भ "मैला आंचल" :१९५४: (फणीश्वरनाथ रेणु :१९२१) के शिल्प को देखने से कथानक-शिल्प का विकास ज्ञात होता है। श्रीनिवासदास :१८५१-१८८७: का "परीक्षागुरु" :१८८२:, बालकृष्णभट्ट :१८४४-१९१४: कृत "नूतन ब्रह्मचारी" :१८८६: प्रभृति उपन्यासों के कथानक शिल्पविहीन हैं। भगवतीचरण वर्मा :१९०३: कृत "चित्रलेखा" :१९३४:, प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: कृत "गोदान" :१९३६: इलाचन्द्र जोशी :१९०२: कृत "पर्दे की रानी" :१९४२: "जहाज का पंछी" :१९५५:, हजारीप्रसाद द्विवेदी :१९०७: का "बाणभट्ट की आत्मकथा" :१९४६:, अमृतलाल नागर :१९१६: का "महाकाल" :१९४७:, वृन्दावनलाल वर्मा :१८८९: का "मृगनयनी" :१९५०:, शिवप्रसाद मिश्र रुद्र (?) कृत "बहती गंगा" :१९५२: नागार्जुन :१९१०: का "बाबा बटेसरनाथ" :१९५४: मन्मथनाथ गुप्त :१९०८: का "बहता पानी" :१९५५: आदि उपन्यासों का शिल्प सराहनीय है। अपने शिल्प के कारण ही ये उपन्यास रोचक, स्वाभाविक, हृदयग्राही तथा मनोवैज्ञानिक हैं। पाश्चात्य उपन्यास के प्रचार तथा प्रसार के कारण उपन्यास का विकास हुआ तथा इसके शिल्प का भी। हिन्दी उपन्यासकार जहां उपन्यास के प्रणयन की ओर तीव्रता से अग्रसर हुआ, वहां उसने उपन्यास-शिल्प की ओर भी ध्यान दिया। किन्तु जहां पाश्चात्य उपन्यासकारों ने विविध शिल्पगत मौलिक प्रयोग किए, वहां इन्होंने उपन्यास -शिल्प की सार्थकता इस तथ्य में समझी कि रचना सजीव हो। उन्होंने उपन्यास के विविध अवयवों को पुष्ट किया। उपन्यासकारों के लिए शिल्प साधन है जिसके माध्यम से वे अपने दृष्टिकोण को प्रकाशित करते हैं। फलत: शिल्प की दृष्टि से बहुत कम उपन्यास उल्लेखनीय हैं। उपन्यासकार के दृष्टिकोण के कारण भी उपन्यास-शिल्प का विकास हुआ है। एक प्रकार के उपन्यासों का शिल्प अन्य प्रकार के उपन्यासों के कथानक-शिल्प से भिन्न हुआ करता है -यथा- यथार्थवादी तथा आदर्शवादी एवं मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों का शिल्प। हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में जिस कथानक-शिल्प के निर्माण का प्रयत्न हुआ था आज वह विकसित हो रहा है। आज भी उपन्यासों के तत्व वही हैं, परन्तु शिल्पगत विकास के कारण उनके रूप में अन्तर हो गया है।

आदि

२- आरम्भ में उपन्यासों का प्रारम्भ शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि यह कुतूहलवर्धक, प्रतीकात्मक, तथा कलात्मक नहीं है। श्रीनिवासदास: १८५१-१८८७: कृत 'परीक्षा गुरु' : १८८२: का प्रारम्भ मिस्टर ब्राइस की दूकान से होता है। लाई वेस्टर फील्ड के वाक्य से इस उपन्यास का श्रीगणेश हुआ है।[1] यह इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इसमें लाला मदन मोहन, लाला ब्रजकिशोर, मुन्शी चुन्नीलाल और मास्टर शिम्भूदयाल के व्यक्तित्व का भी परिचय प्राप्त हो जाता है।[2] उपन्यास का प्रारम्भ ही इसे प्राचीन आख्यायिका से पृथक् करता है। इसमें ही सर्व प्रथम यथार्थ की अवतारणा हुई है। इसी प्रकार बालकृष्ण भट्ट :१८४४-१९१४: का "नूतन ब्रह्मचारी" :१८८६: का प्रारम्भ वर्णनात्मक है। पिंडारियों की लूटमार के वर्णन के पश्चात् उपन्यासकार ने डाकुओं की आकृति का वर्णन किया है[3] जो अति साधारण है। यह वर्णन नाटकीय नहीं है। इससे कुतूहल की सृष्टि नहीं होती है। प्राय: समस्त प्रारम्भिक उपन्यासों का श्रीगणेश पाश्चात्य या प्राच्य कवि की पंक्तियों या संस्कृत के श्लोकों या उर्दू की कविताओं की पंक्तियों से हुआ है। इसके अनन्तर लम्बे लम्बे नीरस वर्णन प्राप्त होते[4] हैं इसलिए उपन्यास रोचक प्रतीत नहीं होते हैं। उद्धरणों के बाहुल्य के कारण उपन्यास का सहज स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया है - ये उपन्यास उद्धरण पुस्तक प्रतीत होते हैं। प्रारम्भिक उपन्यासों में 'वरदान' : १९०६:

१- श्रीनिवासदास : 'परीक्षा गुरु' : १९५८, दिल्ली, पृ० ११

२- वही, पृ० ११-१६

३- बालकृष्ण भट्ट : 'नूतन ब्रह्मचारी' : १९११, प्रयाग, द्वि० सं० पृ० १-३

४- वही : 'सौ अजान और एक सुजान' : १९१५, प्रयाग, द्वि० सं० पृ० १

किशोरीलाल गोस्वामी: 'सुखशर्वरी' : १९१६, मथुरा, द्वि०सं०, पृ० १

वही : हीराबाई वा बेहयाई का बोरका : १९१४: मथुरा, पृ० १

का आदि शिल्प की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसमें प्रेमचन्द की उन्नत कला के बीज सन्निहित दिखाई देते हैं। इसमें विंध्याचल पर्वत पर स्थित मन्दिर का सहज स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत हुआ[1] है। यह नीरस विवरण मात्र नहीं है। इस मन्दिर में एक नारी देवी से देशभक्त पुत्र के लिए वरदान मांगती है जो उसे प्राप्त हो जाता है। इसके अनन्तर उपन्यास का प्रारम्भ होता है। यह प्रारम्भ उपन्यास की भूमिका है।

३- सन् १९१८ में 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ।[2] इसका प्रारम्भ पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न है। यह प्रतीकात्मक, कुतूहलवर्धक तथा रोचक है। इसके अतिरिक्त, इससे दहेज की विकट समस्या पर प्रकाश पड़ता है क्योंकि ईमानदार दारोगा कृष्णचन्द्र पुत्री के विवाह के लिए रिश्वत लेने को विवश है। इसका प्रारम्भ विचित्र होने के कारण ही रोचक है क्योंकि दुष्कर्मों पर ग्लानि होना स्वाभाविक है परन्तु ईमानदारी पर ग्लानि होना विचित्र लगता है। 'सेवासदन' :१९१८: के अनन्तर उपन्यासकारों के व्यक्तित्व के अनुरूप ही उपन्यासों का आदि दृष्टिगत होता है। सामान्यतया उपन्यासों का प्रारम्भ किसी समस्या अथवा घटना की प्रतिक्रिया से हुआ है यथा-कर्मभूमि :१९३२: (प्रेमचन्द) 'चित्रलेखा :१९३४: (भगवतीचरण वर्मा) 'पिया' :(१९) उषादेवी मित्रा 'मैला आंचल' :१९५४: (फणीश्वरनाथ रेणु) आदि। कतिपय उपन्यासों के प्रारम्भ में देश-काल अथवा प्रकृति या वातावरण -चित्रण की पृष्ठभूमि में पात्र विशेष के चरित्र अथवा ~~प्रकृति पर नक्सल~~ मनोभाव पर प्रकाश पड़ता है यथा- तितली :१९३४: (जयशंकर प्रसाद) 'गोदान' :१९३६: (प्रेमचन्द) 'वचन का मोल' :१९३६: (उषादेवी मित्रा): 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' :१९४६: तथा

१- 'विन्ध्याचल पर्वत मध्य रात्रि के निविड़ अन्धकार में काले देव की भांति खड़ा था। उस पर उगे हुए छोटे-छोटे वृक्ष इस प्रकार दृष्टिगोचर होते थे, मानों वे उसकी जटाएं हैं। और अष्टभुजी देवी का मन्दिर- जिसके कलश पर श्वेत पताकाएं वायु की मन्द-मन्द तरंगों से लहरा रही थीं, उस देव का मस्तक है। मन्दिर में झिलमिलाता हुआ दीपक था, जिसे देख कर किसी धुंधले तारे का ज्ञान हो जाता था' --प्रेमचन्द :'वरदान' १९५४, बनारस, द्वि०सं० पृ०३

२- प्रेमचन्द :'सेवासदन' : १९१८, बनारस, पृ० सं० ३-११

`मृगनयनी` :१९५०: (वृन्दावनलाल वर्मा) आदि । कुछ उपन्यासों का प्रारम्भ पूर्वदीप्ति शैली में होता है । यथा- `शेखर,एक जीवनी` :१९४०: (अज्ञेय) `संन्यासी` :१९४१: (इलाचन्द्र जोशी) `सुखदा` :१९५२: (जैनेन्द्र) आदि में कुछ विशिष्टता होती है । किन्तु शिल्प की दृष्टि से `सिंह सेनापति` :१९४२: (राहुल सांकृत्यायन) तथा `बाणभट्ट की आत्मकथा` :१९४६: (हजारीप्रसाद द्विवेदी) १९२७: का आदि अभिनव तथा आकर्षक है । `सिंह सेनापति` :१९४२: के प्रारम्भ को देख कर यह भ्रम हो जाता है कि खुदाई में उपन्यासकार को वैशाली प्रजातंत्र के सेनापति सिंह का ग्रंथ प्राप्त हुआ है जिसका वह अनुवाद कर रहा है । विषय प्रवेश के अन्त में उसका वक्तव्य इसका प्रमाण है[1]। इसी शिल्प का सुन्दर विकास `बाणभट्ट की आत्मकथा` :१९४६: में हुआ है । इसके प्रथम उच्छ्वास में यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यवसायी ईसाई महिला मिस कैथराइन का स्नेह लेखक को प्राप्त है । शोण की पैदल यात्रा में उन्हें जो सामग्री प्राप्त हुई है उसका हिन्दी रूपान्तर उन्होंने कर दिया है । इसे वह लेखक को पढ़ने के लिए देती है । शीर्षक के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था- `अथ बाणभट्ट की आत्मकथा लिख्यते ।` पुस्तक देने के अनन्तर वे काशीवास के लिए चली जाती हैं । दो वर्ष के अनन्तर लेखक बाणभट्ट के ग्रन्थों से मिलाकर कथा की प्रामाणिकता की परीक्षा करता है । लेखक समसामयिक पुस्तकों के आश्रय से इसे नव ढंग से सम्पादित करता है । आगे जो कथा दी हुई है वह दीदी का अनुवाद है । और फुटनोट में जो पुस्तकों के हवाले दिए हुए हैं वे मेरे हैं । कथा ही असल में महत्वपूर्ण है, टिप्पणियां तो उसकी प्रामाणिकता के सबूत हैं[2]। मिस कैथराइन की सूफ द्विवेदी जी की मौलिक प्रतिभा की परिचायिका है । फुटनोट के कारण इसमें विश्वसनीयता आ जाती है । इसके पूर्व इस प्रकार का कोई भी उपन्यास नहीं लिखा गया । आदि के अनन्तर उपन्यासों का विकास मध्य में ही होता है । यदि उपन्यास का आदि रोचक है किन्तु मध्य

१- राहुल सांकृत्यायन : `सिंह सेनापति` :१९४९,इलाहाबाद, द्वि०सं० पृ०-६

२- हजारीप्रसाद द्विवेदी: `बाणभट्ट की आत्मकथा` :१९६३,बम्बई,पं०सं०,पृ०६

निर्जीव और निष्प्राण हैं, तो उपन्यास व्यर्थ हो जाता है। यथा- राहुल सांकृत्यायन: १८९३-१९६३: के "सिंह सेनापति": १९४२:, "विस्मृत यात्री": १९५४: मोहनलाल महतो वियोगी : ? : का "उस पार": १९४४: आदि।

षष्ठ : कथानक-विकास-पद्धति

४- शिल्प की दृष्टि से सन् १९१८ से पूर्व कथानक-विकास-पद्धति में औपन्यासिकता तथा स्वाभाविकता का अभाव है। इसका कारण यह है कि उस समय तक कथानक का स्वतः विकास नहीं होता था। एक घटना दूसरी ओर स्वतः अग्रसर नहीं होती थी। उपन्यासकार वर्णन, विवरण अथवा व्याख्या का अवलम्ब लेकर[1] उपन्यास में तारतम्य स्थापित करने की चेष्टा करता था। आज भी उपन्यासों में वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक स्थल दृष्टिगत होते हैं।[2] परन्तु ये कथानक में गुम्फित हैं। ये पृथक् अलग प्रतीत नहीं होते। इनके माध्यम से जटिल प्रसंगों पर

१- श्रीनिवासदास : "परीक्षा गुरु" : १९५८, दिल्ली, प्र०सं० पृ० ५२-६१, ६८-७५, ८१-८२ आदि

लज्जाराम शर्मा: "आदर्श हिन्दू": प्र०भा० १९१४, वाराणसी, प्र०सं० पृ० ४, ५, ६ आदि

बालकृष्ण भट्ट : "नूतन ब्रह्मचारी": १९११, प्रयाग, द्वि०सं०, पृ० २०, २२, २४ आदि

किशोरीलाल गोस्वामी : "माधवी-माधव वा मदनमोहिनी": द्वि०भा० १९१९, मथुरा, द्वि०सं०, पृ० ८८, १०८ आदि।

वही, "कमला वा नव्य समाज चित्र": द्वि०भा०, १९१४, मथुरा, द्वि०सं० पृ० १-६२, ७१, ७२ आदि

२- जयशंकर प्रसाद: "कंकाल": १९५२, इलाहाबाद, स०सं० पृ० ६८, १८७-१८८, २०४ आदि

इलाचंद्र जोशी "संन्यासी" १९५९ : इलाहाबाद : च०सं० पृ० ११३, ११९, १२२-१२३, २५४-२५६ आदि।

अज्ञेय : "शेखर एक जीवनी": प्र०भा० १९६१, वाराणसी, ष०सं० पृ० २६-२७, ३३, ३५, ४० आदि।

वृन्दावनलाल वर्मा : "झांसी की रानी-लक्ष्मीबाई": १९६१, झांसी, न०सं० पृ० ११५, १२६-२७, १५१, ३९८ आदि।

इलाचंद्र जोशी : "जहाज का पंछी": १९५५, बम्बई, प्र०सं०, पृ० १२, २०-२२, ४५२, ४५४ आदि।

आलोक पड़ता है । यह शिल्पगत अन्तर ही है जिसके कारण नदरंग धब्बे बेल-बूटों में परिवर्तित हो गए । वर्णन और विश्लेषण का कथानक से आन्तरिक सम्बन्ध है । इसलिए इनका अस्तित्व खटकता नहीं है । यथा- इलाचंद्र जोशी: १९०२: कृत 'जहाज का पंछी' : १९५५: में का आत्मविश्लेषण-- 'सोचते-सोचते जो पहली बात मेरे मन में जमी वह यह थी कि सभा से घर लौटने पर लीला को मैंने भाषण की तरह जो बातें सुनायीं उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी और वह केवल मेरे अहं का असामयिक विस्फोट था । क्या आवश्यकता थी लीला को यह बताने की कि मेरी रहस्यात्मक चेतना अत्यधिक विकसित रही है और मैं कला और संस्कृति का जन्मजात प्रेमी रहा हूं, पर अब जीवन के कठोर अनुभवों के स्तूप ने मेरी उस प्रवृत्ति को दबा दिया है ? केवल लीला के शान्त अन्तर्मन को झकझोरने, उसे तल से सतह तक मथने, अपने प्रति उसकी श्रद्धा और सहानुभूति जगाने और उसकी अपरिपक्व भाव चेतना को डांवाडोल करके उसे बरगलाने के अतिरिक्त मेरी उस तरह की बातों का और क्या उद्देश्य हो सकता था ?'[१] इस अंश से मैं के लीला के प्रति कथन के मूल में निहित मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ा है । इस व्याख्या के बिना उसकी मनोवृत्ति को समझा नहीं जा सकता । इसलिए विश्लेषणजन्य चिन्तन कथानक का अनिवार्य अंग हो गया है ।

विशेषताएं

५- यदि उपन्यास में शिल्पगत सौंदर्य नहीं होता तो उसका महत्व नगण्य हो जाता है । हिन्दी के उपन्यासों में कतिपय शिल्पगत विशेषताएं प्राप्त होती हैं । इन विशेषताओं का निरन्तर विकास हो रहा है । आज के उपन्यास रोचक, स्वाभाविक तथा हृदयग्राही हैं । किन्तु इनका यह रूप आकस्मिक घटना नहीं है । ये शिल्पगत विकास का परिणाम हैं ।

रोचकता

६- कथानक-शिल्प की दृष्टि से रोचकता उपन्यास के लिए अनिवार्य है । हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में भी यह तत्व वर्तमान है । 'परीक्षागुरु' : १८८२: में

१- इलाचंद्र जोशी: 'जहाज का पंछी' : १९५५, बम्बई, प्र०सं०, पृ० ४५२

क्योंकि इनसे जागरूक पाठक को बौद्धिक तथा मानसिक तृप्ति नहीं प्राप्त होती। इनका जगत् की समस्याओं से सम्बन्ध नहीं होता, फलतः ये अविश्वसनीय तथा अयथार्थ प्रतीत होते हैं । ~~शिल्प की दृष्टि से~~ तिलस्मी उपन्यासों की अपेक्षा जासूसी उपन्यासों का कुतूहल शिल्प अधिक यथार्थ है क्योंकि यह वायवीय नहीं है। वास्तव में अपराधी कौन है- यह प्रश्न ही कुतूहल जाग्रत करता है ।

७- सन् १९१८ में कथानक शिल्प में परिवर्तन हुआ । प्रेमचन्द(१८८०-१९३६) ने कुतूहल की सृष्टि के लिए वैचित्र्य का आश्रय नहीं ग्रहण किया । इन्होंने सर्वप्रथम `सेवासदन`(१९१८) में सहज स्वाभाविक प्रश्नों तथा सामाजिक समस्याओं के द्वारा कुतूहल की सृष्टि की । दहेज की कुप्रथा के कारण अनमेल विवाह की शिकार सुमन की कथा ही पाठक के कुतूहल का केन्द्र है । इसके अतिरिक्त, प्रेमचन्द ने उपन्यास को रोचक बनाने के लिए मुख्य तथा उपकथानक का प्रयोग किया । वे उपन्यास का श्रीगणेश एक कथा से करते हैं जो शीघ्र ही अपने सहज स्वाभाविक विकास के कारण अन्य कथाओं को जन्म देती है । प्रेमचन्द(१८८०-१९३६) तथा वृन्दावनलाल वर्मा(१८८९) कथानक को रोचक बनाने की कला में सिद्धहस्त हैं । वे उपन्यासों में एक कथा को उठाते हैं और जब वह चरमबिन्दु तक पहुंचने वाली होती है वे उसे छोड़ कर अन्य कथासूत्रों को उठाते हैं । इस भांति उपन्यासों में रोचकता बनी रहती है । इसके अतिरिक्त, वर्मा जी प्रेमकथाओं तथा राजनीतिक स्थितियों के द्वारा भी ऐतिहासिक उपन्यास को रोचक तथा हृदयग्राही बनाते हैं । आज सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों में जो रोचकता दृष्टिगत होती है वह शिल्प की दृष्टि से सराहनीय है क्योंकि यह सामाजिक प्रश्नों तथा समस्याओं पर आधारित है । यह रोचकता परी-लोक की मधुर कल्पना मात्र नहीं है । जीवन्त और यथार्थ होने के कारण ही इनके प्रवेश से उपन्यास में गांभीर्य और गरिमा का समावेश होता है । प्रतापनारायण श्रीवास्तव(१९०४)का `विदा`(१९२८), वि०ना०शर्मा कौशिक(१८९१-१९४५)की `भिखारिणी`(१९२९),हजारीप्रसाद द्विवेदी (१९०७)का `बाणभट्ट की आत्मकथा`(१९४६)वृन्दावनलालवर्मा(१८८९) के `झांसी की रानी-लक्ष्मीबाई`(१९४६) तथा `मृगनयनी`(१९५०), चतुरसेन शास्त्री(१८९१-१९६०)का `वैशाली की नगरवधू`(१९४९) इलाचन्द्रजोशी(१९०२) `जहाज का पंछी`(१९५५) आदि के कथानक-शिल्प का कुतूहल सकारण है। वास्तविक होने के कारण यह प्रभावशाली भी है । उदाहरणार्थ- `गढ़कुंडार`(१९२९)में बुंदेला

राजकुमारी हेमवती के सहज मानवीय व्यवहार[1] को संगार राजकुमार नागदेव प्रेम का द्योतक समझता है। उसकी राजकुमारी के प्रति गहरी आसक्ति देख कर पाठक चिन्तित होने लगता[2] है कि ऊंट किस करवट बैठेगा क्योंकि बुंदेला राजकुमारी आत्याभिमानी है। बुंदेलाखंगार से विवाह सम्बन्ध नहीं स्थापित करते हैं। इसके अतिरिक्त, तारा-दिवाकर तथा मानवती-अग्निदत्त आदि की प्रणय-कथाओं के द्वारा उपन्यास में रोचकता का समावेश हुआ है। इसी प्रकार प्रेमचन्द(१८८०-१९३६) का `गोदान` (१९३६) में गोबर-फुनिया, मेहता-मालती की प्रेम-कथा तथा कृषक होरी की संघर्ष कथा आदि के कारण उपन्यास में रोचकता बनी हुई है। गोबर-फुनिया के प्रेम के कारण ही होरी को अस्सी रुपए तथा तीन मन अनाज के ऊपर दण्डस्वरूप देना पड़ा[3]। होरी ने फुनिया को पुत्रवधू के रूप में घर में आश्रय दिया, इससे फुनिया का पिता भोला रुष्ट हो गया। उसने अपनी गाय का मूल्य मांगा। होरी रूपया देने में असमर्थ था। भोला ने उसके दोनों बैल मांगे। धनिया होरी से कहती है कि उसे बैल दे दो। भोला नेसमझ लिया कि इनके पास रूपए नहीं हैं। तब उसने कहा कि वे फुनिया को घर से निकाल दें फिर वह न बैल लेगा और न रुपया ही। किन्तु होरी-धनिया फुनिया के परित्याग को प्रस्तुत नहीं हुए, वह होरी के बैल ले गया[4]। बैलविहीन कृषक की कल्पना ही दुष्कर है। उसका काम कैसे चलेगा? कैसे उसके परिवार का भरण-पोषण होगा? स्वाभाविक विपत्तियों के द्वारा ही उपन्यास में आदि से अन्त तक रोचकता दृष्टिगत होती है।

८- मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कथानक नगण्य होता है, किन्तु वहां भी पात्र का असंगत व्यवहार, चेष्टादि के द्वारा रोचकता का प्रवेश होता है। यथा-`सुनीता` (१९३५) में श्रीकान्त अपनी पत्नी सुनीता का आवश्यकता से अधिक परिचय हरिप्रसन्न को देना चाहता है[5]। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने मित्र से सुनीता के अतिरिक्त कुछ बात ही नहीं कर सकता। वह हरिप्रसन्न और स्वयं के बीच की ग्रंथि उसे बनाना चाहता है तथा हरिप्रसन्न जो नारियों से दूर, और बंधन से दूर है, उसके कुंठित व्यक्तित्व के प्रति ही आकर्षण का जन्म होता है।

१- वृन्दावनलाल वर्मा: `गढ़कुंडार` १९२९, लखनऊ, पृ० ३७,३८ आदि
२- वही, पृ० २२१,२२२।
३- प्रेमचन्द: `गोदान` : १९४९, बनारस, द०सं०, पृ० १७४, २८३,।
४- वही, पृ० २०८
५- जैनेन्द्र : `सुनीता` : १९६२, दिल्ली, द्वि०सं०, पृ० ९, ११, १२, ४१ आदि।

स्वाभाविकता

६- कथानक-विकास-पद्धति वही श्रेष्ठ समझी जाती है जिसमें कथानक का सहज स्वाभाविक विकास हो। कथानक की स्वाभाविकता उपन्यास-शिल्प की अन्यतम विशेषता है। तिलस्मी तथा जासूसी उपन्यासों के अतिरिक्त हिंदी के प्रारम्भिक उपन्यासों में यत्र-तत्र व्यवहारिक यथार्थ दृष्टिगत होता है यद्यपि समस्याओं के चित्रण में सूक्ष्मता, गहराई तथा कलात्मकता का अभाव दृष्टिगत होता है। यह चित्रण बाह्य धरातल पर हुआ है। 'भाग्यवती' :१८७७: जो[1] प्राचीन पद्धति का उपन्यास है, उसमें पुलिस की कार्यपद्धति, काले कारनामे, काशी के ठगों का कार्य-चातुर्य[2] आदि का जो चित्रण हुआ है वह इस दृष्टि से सराहनीय है कि इसमें सर्वप्रथम यथार्थ-चित्रण की ओर किंचित प्रयास किया गया। कालान्तर में प्रेमचंद के उपन्यासों में पुलिस के कुकृत्यों पर विस्तार के साथ आलोक पड़ा। इसी प्रकार 'परीक्षा गुरु' :१८८२: में[3] चाटुकार, स्वार्थी व्यक्तियों से आवृत[4], अपव्ययशील धनी सेठ मदनमोहन की दुरवस्था, तथाकथित मित्रों की तोताचश्मी, 'सुशीला विधवा' :१९०७: में विधवा की दुरवस्था[5] 'सती सुखदेई' :१९०८: में[6] धन-वैभव से सम्पन्न ससुराल में निर्धन जमाता का अपमानित होना, पति के अपमान से क्षुब्ध होकर सुखदेई का ससुराल आना, बलराम चौबे के भय के कारण कष्ट पीड़ित सुखदेई को किसी की सहायता न मिलना,[7] 'माधवी माधव वा मदन मोहिनी' (१९०८) में[8] धनाढ्य परिवार के व्यभिचार का चित्र, सपत्नियों की ईर्ष्या-द्वेष, जमींदार के

१- श्रद्धाराम फिल्लौरी : 'भाग्यवती' : (सन् १९६०) : वाराणसी : (प्र०सं० : पृ० १८-१९, १२६, १२८ आदि।

२- वही, पृ० १९-२३, २४-२६।

३- श्रीनिवासदास : 'परीक्षा गुरु' : (सन् १९५८ : दिल्ली) : प्र०सं० : पृ० ११८-११९, २४५-२४६, २५१, २७७-२७८, २७९-२८० आदि।

४- वही पृ० २३८-२४०, २४२, २४३, २५८ आदि।

५- लज्जाराम शर्मा : 'सुशीला विधवा' : (१९०७ : बम्बई) : प्र०सं० : पृ० ६१-६३, ६७-७० आदि।

६- अमृतलाल चक्रवर्ती : 'सती सुखदेई' : (१९०८ : कलकत्ता), प्र०सं०, पृ० २-३।

७- अमृतलाल चक्रवर्ती : 'सती सुखदेई' : (१९०८ : मा०प्र०से० : कलकत्ता, प्र०सं०, पृ० २१,

८- ---शेष

अत्याचार, "विमाता" (१६१५) में विमाता का सौतेले पुत्र के प्रति अत्याचार[९] आदि का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। यूं इनका शिल्प अप्रौढ़ तथा अपरिपक्व है। शिल्प की दृष्टि से इन उपन्यासों का इतना ही महत्व है कि इनके द्वारा वह भूमि प्रस्तुत हुई जिस पर कालान्तर में स्वाभाविकता का बीज अंकुरित हो सका।

१०- प्रेमचन्द (१८८०-१६३६) जागरूक उपन्यासकार हैं। उन्होंने उपन्यासों में विविध सामाजिक समस्याओं, राजनीतिक तथा आर्थिक प्रश्नों का सहज स्वाभाविक चित्रण किया है। उनके उपन्यासों के कथानक का उद्भव तथा विकास स्वाभाविक घटनाओं एवं परिस्थितियों द्वारा हुआ है। इंजन के चलते ही ट्रेन अनायास ही चलने लगती है उसी प्रकार प्रारंभिक समस्या रूपी इंजन के बढ़ते ही अन्य समस्याएं रूपी ट्रेन भी गतिशील होती है यथा "सेवासदन" (१६१८) का प्रारंभ दहेज की समस्या से होता है। सुमन के विवाह के लिए दहेज अपेक्षित है फलत: रिश्वत का प्रश्न आता है। रिश्वत के कारण पिता दारोगा को कारावास का दण्ड प्राप्त होता है तथा सुमन अनमेल विवाह की शिकार हो जाती है। अनमेल विवाह की परिणति वैश्यावृत्ति में होती है। समस्याओं, की प्रक्रिया में स्वाभाविकता है - यही "सेवासदन" (१६१८) की शिल्पगत विशेषता है जो इसके पूर्व नहीं दृष्टिगत होती। ये विविध समस्याएं पुष्प की विविध पंखुरियों सी शोभा--यमान हो रही हैं। एक समस्या के अन्तराल से ही दूसरी समस्या का जन्म हुआ है। प्रेमचन्द तथा समवयस्क उपन्यासकारों के द्वारा ही कथानक का स्वाभाविक विकास हुआ। दहेज, अनमेल विवाह, विधवा-दुर्गति, कुपथगामी का सुधार, सामाजिक आर्थिक शोषण आदि विविध प्रश्नों को सहज स्वाभाविक ढंग से उठाया गया है। "सेवासदन" (१६१८) "निर्मला" (१६२८) "गबन" (१६३०) "कर्मभूमि" (१६३२) आदि उपन्यासों में अनमेल विवाह के दुष्परिणाम का चित्रण स्वाभाविक रूप में हुआ

शेषांक —

८- किशोरीलाल गोस्वामी "माधवी माधव वा मदनमोहिनी", ५.भा. (१६१६ मथुरा) द्वि० सं०, पृ० २३, २४ आदि।

९- जयनारायण "विमाता" :(१६१५ : दरभंगा) प्र० सं०, पृ० ३१, ७० आदि।

है जिनमें से शिल्प की दृष्टि से "विदा" (१९२८) तथा "कर्मभूमि" (१९३२) उल्लेखनीय हैं। अनमेल विवाह केवल उम्र की ही दृष्टि से नहीं होता प्रत्युत संस्कार, विचार तथा दृष्टिकोण की दृष्टि से भी होता है। "विदा" का कथानक शिल्प "कर्मभूमि" की अपेक्षा अधिक यथार्थपूर्ण तथा विश्वसनीय, भावप्रवण तथा नाटकीय प्रतीत होता है। कुमुदनी सास से असन्तुष्ट होकर मायके चली जाती है। मायके में उसकी भाभी उसे निरन्तर कर्तव्य के प्रति सजग करती रहती है। वह पिता के इच्छानुसार पुनर्विवाह करने को प्रस्तुत नहीं है।[1] इसका कारण यह है कि वह निर्मल से प्रेम करती है। इसलिए जैसे ही उसे सास तथा सखी के द्वारा सूचना प्राप्त होती है कि उसके पति के हृदय पर दूसरे का अधिकार हो जाएगा उसका उद्विग्न होकर पति के समीप जाना नितान्त स्वाभाविक है। "कर्मभूमि" (१९३२) के पूर्वार्द्ध में स्वाभाविकता है। विभिन्न संस्कारों के पति-पत्नी अमर-सुखदा सच्चाई से प्रयत्न करते हैं कि उनके जीवन में विरोध उत्पन्न न हो परन्तु उनके समस्त प्रयत्न के बावजूद दृष्टिकोण के अन्तर के कारण से प्रेमपूर्वक जीवन व्यतीत करने में असमर्थ होते हैं।[2] पत्नी सुखदा से क्षुब्ध होकर सकीना की ओर आकृष्ट होना तथा पति की अनुपस्थिति में सुखदा का देश सेवा में संलग्न होना नितान्त स्वाभाविक घटना है। इसी प्रकार संयुक्त परिवार की दुर्बलताओं का चित्रण "प्रेमाश्रम" (१९१८-१९१९) "रंगभूमि" (१९२५-१९२७) "गबन" (१९३०) "तितली" (१९३४) आदि उपन्यासों में हुआ है। इनमें से "तितली" (जयशंकर प्रसाद) का शिल्प मौलिक अत्यधिक विश्वसनीय तथा स्वाभाविक है। इसमें जयशंकर प्रसाद (१८८९-१९३७) ने इन्द्रदेव के द्वारा गबन (१९३०) की रतन की भाँति, संयुक्त

१- प्रतापनारायण श्रीवास्तव : "विदा" (१९५७) लखनऊ : नवमावृत्ति पृ० ८४, ११७, ३१८-१९, ३५७, ३६८।

२- प्रेमचन्द : "कर्मभूमि" (१९६२) इलाहाबाद : न० सं० पृ० ११७, १२३, १२७ आदि।

परिवार पद्धति के विरुद्ध घोषणा नहीं कराई है। उनका शिल्प कलात्मक है।
इन्द्रदेव की डायरी में पारिवारिक विग्रह तथा परिवार के सदस्यों के षड्यंत्र
का उल्लेख हुआ है जिसे इन्द्रदेव की अनुपस्थिति में शैला पढ़ लेती है। इसके द्वारा
स्पष्ट हो जाता है कि उसकी निरीह बहन उसकी प्रतिद्वन्द्वी बन रही है।[2]

११- सन् १६२६ में कथानक के क्षेत्र में परिवर्तन हुआ। जैनेन्द्रकुमार
(१६०५) ने 'परख' (१६२६) लिखकर मनोविज्ञान के आधार पर मनोवैज्ञानिक
उपन्यासों का श्रीगणेश किया जिनमें कथानक सूक्ष्मतम हो गया। वृन्दावन लाल
वर्मा (१८८६) ने ऐतिहासिक उपन्यास 'गढ़कुंडार' (१६२६) की रचना कर
उपन्यास की परिधि को इतिहास से सम्बद्ध कर विस्तृत किया। इसमें वीर बुन्देलों
तथा खंगारों का पारस्परिक द्वेष-भावना का स्वाभाविक तथा विश्वसनीय चित्र
प्रस्तुत हुआ है। इतिहास की पृष्ठभूमि में शक्ति सम्पन्न खंगारों के सर्वनाश की
कथा राजनीतिक कूटनीतिक बुद्धि की परिचायक है। 'बहती रेता' (१६५१)
'वैशाली की नगरवधू' (१६४६) तथा 'आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य' (१६५४) आदि
में कूटनीतिज्ञ योजनाओं की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। 'वैशाली
की नगरवधू' (१६४६) में विलक्षण घटनाएं घटित होती हैं, कुछ के रहस्य का
उद्घाटन हो जाता है, इसलिए वे स्वाभाविक प्रतीत होती हैं यथा नापित गुरु
प्रभंजन वैशाली में चाण्डाल मुनि के रूप में रहता है। वह भिक्षा मांगता है,

---

१- जयशंकर प्रसाद: 'तितली' (१६५१) प्रयाग, छठवां सं० पृ० १०६,११०,१११-११३

२- " माधुरी कितनी स्नेहमयी थी। मुझे उसकी दशा का जब स्मरण होता है मन में वेदना होती है। मेरी बहन! उसे कितना दुख है। किन्तु जब देखता हूं कि वह मुझसे स्नेह और सान्त्वना की आशा करने वाली निरीह प्राणी नहीं रह गई है वह तो अपने लिए एक दृढ़ भूमिका चाहती है, और चाहती है मेरा पतन, मुझसे विरोध, मेरी प्रतिद्वन्द्विता! तब तो हृदय व्यथित हो जाता है। यह सब क्यों? आर्थिक सुविधा के लिए।"

— वही पृ० सं० १०६-११० ।

३- वृन्दावनलाल वर्मा 'गढ़कुंडार' (१६२६): लखनऊ पृ०सं० ४१७-४२६ ।

४- गुरुदत्त 'बहती रेता' (१६५१): नई देहली: प्र०सं०, पृ० १०८-१०६,११२,२३८आदि।

५- चतुरसेन शास्त्री 'वैशाली की नगरवधू' (पूर्वार्द्ध, १६४६) नई देहली, प्र०सं०, पृ० १६८-२०६, २३६ आदि।

६- चतुरसेन शास्त्री: 'वैशाली की नगरवधू' (उत्तरार्द्ध: १६५५) लखनऊ, पृ०सं० ६०,

भिक्षा न मिलने पर तिरस्कृत होता है, ब्राह्मण उस पर प्रहार करते हैं। वह बिना प्रतिरोध के शान्त रहता है। नन्दन साहु और उसकी पत्नी उनसे क्षमा याचना करने को कहते हैं। ब्राह्मण ऐसा नहीं करते। किन्तु जब वे भोजन करते हैं तो सब प्रमत्त हो जाते हैं। यह एक विस्मयजनक घटना प्रतीत होती है, किन्तु कालान्तर में इसका रहस्योद्घाटन हो जाता है।[६ १] ऐतिहासिक उपन्यासों का कथानक-शिल्प इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इनमें तिलस्मी उपन्यासों की भांति विलक्षण घटनाओं का चित्रण होता है परन्तु ये सकारण होती हैं। लोगों के प्रमत्त होने का कारण है कि भोजन विष मिश्रित था। इसी प्रकार 'आचार्य चाणक्य' (१९ ५४) में राजगृह के प्राचीर के समीप गीदड़ों की आवाज़ सुनाई पड़ना, रीछ की आकृति के बहुत से जीवों का घूमना, जिनके मुख से आग की लपटें निकल रही थीं, उनका कैकय निवासियों से कथन कि वे सबको कच्चा चबा जायेंगे क्योंकि उन्होंने नगर-देवता को रुष्ट कर दिया है,[२] शिवलिंग के सम्मुख खड़े नंदी के उदर से रक्त का प्रवाहित होना तथा मन्दिर की वेदी पर सर्वत्र रक्त ही रक्त का दृष्टिगत होना[३] अस्वाभा--विक प्रतीत होता है। किन्तु इसमें अस्वाभाविकता नहीं है क्योंकि यह चाणक्य के सहायक पक्ष का कार्य है। जनता को उत्तेजित कर वह स्वपक्ष में करना चाहता है। उत्तेजित जनता को वह आश्वस्त करना चाहता है कि देवता यवनों के रक्त की मांग कर रहे हैं। इस प्रकार के अनेक स्वाभाविक प्रसंगों की उद्भावना ऐतिहासिक रोमांस तथा उपन्यासों में हुई है।

शेषांक—

६- सत्यकेतु विद्यालंकार 'आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य' (१९५७) मसूरी: तृ०सं०, पृ० २०९,२१०,२११,२३१,२३२, २७९-२८०, २८१ आदि।

१- चतुरसेन शास्त्री 'वैशाली की नगरवधू' (उत्तरार्ध; १९५५) लखनऊ पृ०सं०१०८-९।

२- सत्यकेतु विद्यालंकार 'आचार्य विष्णुगुप्त:चाणक्य (१९५७) मसूरी तृ० सं० पृ० २०९।

३- वही पृ० २१०।

१२- इसके अतिरिक्त, प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) ने भारत की गतिशील यथार्थता को सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति प्रदान की है। जहाँ तक वर्गसंघर्ष, दरिद्रता, शोषण का प्रश्न है, प्रेमचंद के उपन्यासों में इसका जो स्वाभाविक चित्रण हुआ है वह अद्वितीय है। उनके उपन्यासों में भारत की दैन्यावस्था का चित्र प्राप्त होता है। इसका उन्होंने 'कर्मभूमि' (१९३२) में व्यंजनात्मक चित्र प्रस्तुत किया है जब कि अमर को देख कर सकीना दिया बुझा देती है क्योंकि वह अपने वस्त्र सुखा रही है[1]। इस प्रकार के व्यंजनात्मक तथा शिल्पगत सौन्दर्य से पूर्ण स्थल कम मिलते हैं। 'मनुष्य के रूप' (१९४९) (यशपाल :१९०३) में कुछ परिवर्तन के साथ विधवा की दयनीय स्थिति का चित्र अंकित किया गया है। किन्तु इस पर प्रेमचंद के व्यंजनात्मक स्वाभाविक चित्र की छाप है। सामाजिक तथा आर्थिक शोषण का जीवन्त चित्र 'गोदान' (१९३६) में दृष्टिगत होता है। भारतीय कृषक-जीवन की कितनी बड़ी विडंबना है कि फसल विक्रय करके भी उसे कुछ नहीं प्राप्त होता है। उसकी धनराशि महाजन के पेट में चली जाती है। होरी रुपये लेकर जब खाली पहुँचता है तब धनिया की फटकार में करुणा का आर्तनाद है एवं कष्ट के क्षण में भी हृदय का उल्लास दृष्टिगत होता है[2]। इसके शिल्प की एक अन्य विशेषता दृष्टिगत होती है कि प्रत्यक्ष रूप से कोई भी होरी को नहीं

१- प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' : इलाहाबाद : १९६७ : इला०, ब०सं०, ~~पृ०सं०~~, पृ०सं० ८८

२- धनिया ने बहू-बेटियों की ओर देखकर कहा- तुम सब-की-सब क्यों घेरे खड़ी हो- जाकर अपना अपना काम देखो। वह और हैं जो हाट बाजार से आते हैं, तो बाल-बच्चों के लिए दो-चार पैसे की कोई चीज लिए आते हैं। यहाँ तो यह लोभ, लग रहा होगा कि रुपए छुड़ाएँ कैसे? एक कम न हो जाएगा। इसी से इनकी कमाई में बरकत नहीं होती। जो खरच करते हैं, उन्हें मिलता है। जो न खा सकें, न पहन सकें, उन्हें रुपए मिले ही क्यों? जमीन में गाड़ने के लिए?
होरी ने खिलखिलाकर पूछा -कहाँ है वह गाड़ी हुई थाती?
—— प्रेमचन्द : 'गोदान' १९४९ : बनारस, [illegible] सं०, पृ० २५२।

लूटता, सभी उसका सम्मान करते हैं किन्तु रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, जमींदारी, महाजनी-प्रथा के कारण प्रतिदिन वह निर्धन होता जाता है। "गोदान" (१९३६) में प्रेमचंद के उपन्यास-शिल्प में परिवर्तन दृष्टिगत होता है। इसके पूर्व प्रेमचंद (१८८०-१९३६) के उपन्यासों के पूर्वार्द्ध में यथार्थता दृष्टिगत होती है किन्तु उत्तरार्द्ध में आदर्श के प्राधान्य के कारण स्वाभाविकता का अभाव हो जाता है, क्योंकि उनके अधिकतर उपन्यासों का अन्त आश्रम या सदनों में हुआ है। ये आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास हैं। किन्तु "गोदान" (१९३६) में सर्वप्रथम प्रेमचंद (१८८०-१९३६) ने आदि से अन्त तक यथार्थ का निर्वाह किया है। यद्यपि आदर्श चरित्र होने के कारण आदर्श का समावेश भी कथानक में हुआ है किन्तु १९३६ से उपन्यासों के कथानक में शिल्प की दृष्टि से परिवर्तन हुआ है। आदर्शवादी उपन्यासों की परम्परा क्षीण होने लगी। इनके स्थान पर यथार्थ का प्राधान्य होने लगा। शोषित पात्रों की कथा यथार्थ रूप में उपन्यासों में व्यक्त होने लगी। नारी के शोषण के विरुद्ध प्रेमचंद (१८८०-१९३६) ने अपनी सशक्त आवाज़ बुलन्द की थी, उसकी समस्याओं का यथार्थ चित्रण हुआ है यथा "निर्मला" (१९२३) में सहज स्वाभाविक प्रसंगों के माध्यम से यह प्रदर्शित हुआ है कि विमाता की संज्ञा के कारण निर्मला कितनी विवश तथा अधिकारविहीन है। यदि वह पुत्र के अनुचित कार्य के लिए निषेध करती है, तब भी वह दोष की भागी है और यदि नहीं करती तब भी[1]। समाज की आलोचनात्मक एवं शाब्दिक सहानुभूति के कारण[2] ही स्नेही माँ ममत्वहीन विमाता हो जाती है। किन्तु सन् १९३६ के अनन्तर नारी श्रमिक तथा कृषक का चित्रण अत्यधिक यथार्थ रूप में होने लगा जैसा पूर्ववर्ती उपन्यासों में नहीं होता था। यशपाल (१९०३) कृत "दिव्या" तथा मनुष्य के रूप (१९४९): (१९४५) उषा देवी मित्रा की "पिया" (?) नागार्जुन (१९१०) कृत "रतिनाथ की चाची" (१९४८) ~~"मनुष्य के रूप"~~ (१९४९) "बलचनमा" (१९५२)

१- प्रेमचन्द: "निर्मला" (१९५२, बनारस) प्र०सं०, पृ० ३९, ४० आदि।

२- प्रेमचन्द "निर्मला" (१९२३, बनारस) प्र०सं०, पृ० १३०, १६३ आदि।

'बटेसरनाथ' (१९५४) आदि में शोषित पात्रों की स्थिति का जो चित्रण हुआ है वह पहले की अपेक्षा अधिक यथार्थ है । 'गोदान' (१९३६) में शोषण के मूल में है धर्मभीरुता और रूढ़ियों की दासता । गोबर एक रुपया सैकड़ा पर ब्याज देने को प्रस्तुत है । पं० दातादीन ब्राह्मणत्व के नाम पर अपील करते हुए होरी से कहते हैं कि ब्राह्मण का रुपया हजम कर तुम सुखी नहीं होगे ।[1] यह सुनते ही धर्मभीरु होरी एक आना रुपया सूद देने को विकल हो जाता है । शोषण का वास्तविक ज्वलंत चित्र नागार्जुन (१९९०) ने ही प्रस्तुत किया है । सैकल जमींदार और नील साहब के अत्याचार का शिकार 'बलचनमा' (१९५२) की कथा में सहज स्वाभाविकता है । शोषण के विरुद्ध जिस परम्परा का श्रीगणेश प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) ने किया था, उसका कलात्मक विकास नागार्जुन के उपन्यासों में हुआ । उन्होंने शोषण के नग्नरूप पर इस प्रकार प्रकाश डाला है कि पाठक तिलमिला जाता है । बेगार लेना जमींदार अपना अधिकार समझता है किन्तु उसका अत्याचार कितना भीषण तथा विकट होता है, इसका ज्वलंत चित्र 'बाबा बटेसरनाथ' (१९५४) में प्रस्तुत हुआ है- शत्रुमर्दनराय के पिता ने तीस रुपए सूद पर लिए थे, राजबहादुर के बुलवाने पर वह रुपयों के स्थान पर धरती देने को प्रस्तुत हैं, परन्तु उसके प्रति जमींदार बर्बर व्यवहार करता है । उसके हाथ माथे पर बांध दिए जाते हैं । बिलबिलाते लाल चीटों वाला आम के अधसूखे पत्तों का वह घोंसला रायजी के माथे पर टिकाया, ऊपर होरी पकड़े रहा -----

'चीटें हजारों की तादाद में शत्रुमर्दनराय की देह पर फैल गए ।

'माथा हिलाकर बेचारे ने बंधे हाथों को ऊपर ऊपर फटकने की कोशिश की कि पीठ पर कोड़े पड़े- सपाक् -सपाक् ! बार बार !

'खबरदार'! जमादार गरज पड़ा -'अपनी खैर चाहते हो तो वैसे के वैसे खड़े रहो, वरना ----

---

१- प्रेमचंद: 'गोदान' (१९५६; बनारस) दसवां संस्करण, पृ० २९७-२९८ ।

`आंख, नाक, कान, मुंह, होंठ, गर्दन, कपार- और बाकी समूचे बदन से चिपक गए लालचींटे[1] । शोषण का इतना नग्न तथा वास्तविक चित्रण `दिव्या` (१९४५) `अंधेरे के जुगनू` (१९५३) में भी नहीं हो सका है । शिल्प की दृष्टि से बाबा बटेसरनाथ के शोषण का यह चित्र चित्रोपम है ।

१३- शोषण के अतिरिक्त, अन्य समस्याओं का भी चित्रण १९३६ के पूर्व के उपन्यासों की अपेक्षा अधिक यथार्थ रूप में हुआ है । `सेवासदन` (प्रेमचन्द) की सुमन कोठे में पहुंच जाती है, परन्तु उसकी उदात्तता की प्रभा वहां भी दृष्टिगत होती है । `मनुष्य के रूप` (१९४९ यशपाल) की पहाड़ी विधवा सोमा की कथा में आदर्श का अभाव है । यथार्थ की पृष्ठभूमि में ही उसकी कथा प्रस्तुत हुई है । ड्राइवर धनसिंह के साथ उसका भागना, उसकी अनुपस्थिति में बैरिस्टर जगदीश सहाय की प्रेमपात्री बनना, वहां से निष्कासित होने पर ड्राइवर बरकत का आश्रय ग्रहण करना- आदि नारी-जीवन की परिस्थितिजन्य दुर्बलता की कहानी है, जो स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत हुई है । इसी प्रकार `महाकाल` (१९४७) में दुर्भिक्ष के वातावरण में मृत्यु की विभीषिका का जो चित्र प्रस्तुत हुआ है उसके शिल्प में यथार्थवाद का विकास ही दृष्टिगत होता है । मनुष्य का अन्न के लिए कुत्ते की भांति लपकना[2] तथा वस्त्रहीन स्त्रियों का गृह त्यागकर बाहर जाना, लोगों का गृह के वस्त्र तथा टूटे-फूटे बर्तन देकर चावल लेना,[3] अन्न की दूकान पर आक्रमण करना, जमींदार तथा व्यापारियों का परस्पर गठबंधन, पति द्वारा पत्नी का विक्रय तथा कम मूल्य प्राप्ति पर अपशब्दों[4] का प्रयोग करना आदि उस परिस्थिति की स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसका चित्रण उपन्यास में हुआ है । शिल्प की दृष्टि से रांगेय राघव का `हुजूर` (१९५२), उपेन्द्र नाथ अश्क (१९१०) का `बड़ी-बड़ी आंखें` (१९५४) तथा फणीश्वरनाथ रेणु (१९२१) का `मैला आंचल` (१९५४) का कथानक द्रष्टव्य है । `हुजूर` के

१- नागार्जुन: `बाबा बटेसरनाथ`: (१९५४; दिल्ली) प्र०सं०, पृ० ४२-४३ ।

२- अमृतलाल नागर; `महाकाल` (१९४७, इलाहाबाद) प्र०सं०; पृ० १११, ११२ ।

३- वही पृ० १७

४- वही पृ० २४

कथानक में प्रतीकात्मक यथार्थता है। स्थान-स्थान पर आश्रय की खोज में विलायती कुत्ते की कथा के माध्यम से अंग्रेजी शासन का अत्याचार तथा शोषण,[1] पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों के प्रति अत्याचार तथा अन्याय,[2] विदेशी तथा भारतीय परिवारों का अनाचार,[3] राष्ट्र में व्याप्त बेईमानी का प्राधान्य आदि का जो खण्डचित्र प्रस्तुत हुआ है, वह लघु अवश्य है, किन्तु इसकी यथार्थता असंदिग्ध है। 'बड़ी बड़ी आंखें' :१९५४: में आश्रम के [illegible] जीवन का पर्दाफाश अकृत्रिम रूप में हुआ है। देवनगर जो धरा का अपवर्ग प्रतीत होता है वास्तव में वह अन्य नगरों से भिन्न नहीं है। निर्धन गुलामनबी को प्रैक्टिकल स्कूल में न रखने के लिए हीन भावना का देवाजी का तर्क निस्सार प्रतीत होता है।[5] परन्तु इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह स्कूल धनी व्यक्तियों के लिए है। वहां रामथापा का बच्चा जो पढ़ता है, वह केवल प्रदर्शन तथा प्रचार के लिए।[6] जहां तक समस्याओं की विविधता का प्रश्न है प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। उन्होंने ग्रामीण तथा नागरिक जीवन की विविध समस्याओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति पर आलोक डाला है। किन्तु प्रेमचंद की दृष्टि वैज्ञानिक नहीं थी, प्रत्युत आदर्शवादी थी। इसके विपरीत, फणीश्वरनाथ रेणु :१९२१: की दृष्टि वैज्ञानिक तथा आदर्शवादी है। आपने वैज्ञानिक दृष्टि से ग्राम जीवन का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत किया है। इसी कारण ग्रामवासियों की मूढ़ावस्था[7] तथा अन्धविश्वास[8] का चित्र अंकित हुआ है। राष्ट्रीय जागृति की महान लहर के छींटे भी पूर्णिया [जिले के मेरीगंज] ग्राम में पड़ती हैं। फलतः गांधीवाद के पुजारी बालदेव के नेतृत्व में कांग्रेस आन्दोलन तथा

१- रांगेय राघव : 'हुजूर' : १९५२; आगरा; प्र०सं० : पृ०, २५, २६

२- वही : पृ० ३८

३- वही : पृ० ३०, ४६-४८, ५०, ५१, ५२, ५३, ६३-६४,

४- वही : पृ० ५७-५८, ६२

५- उपेन्द्रनाथ अश्क : 'बड़ी बड़ी आंखें' : ? : इलाहाबाद; पृ० ११८

६- वही : पृ० ११५

७- फणीश्वरनाथ रेणु : 'मैला आंचल' : १९६१; नई दिल्ली; पा०बु०ए० द्वि०सं० : पृ० ११, २१, २६४, २७५ आदि।

८- वही : पृ० ५२, १२२, १२३ आदि।

कालीचरन के नेतृत्व में सौशलिस्ट आन्दोलन का चित्रण हुआ है जो नेताओं के अधकचरे विवेक का परिणाम है । इसमें लेखक ने तटस्थ दृष्टि से स्थिति का चित्रण किया है । बालदेव अज्ञान के कारण अहिंसा के नाम पर अत्याचार का समर्थन करते हैं[1] इसलिए यह आन्दोलन हास्यास्पद प्रतीत होने लगता है । सौशलिस्ट आन्दोलन भी सच्चे,परन्तु अशिक्षित नेता कालीचरण के अज्ञान के कारण किस प्रकार विफल होता है इसका चित्रण करना भी लेखक नहीं भूला है । कालीचरण अपने साथियों के कारण डकैती में गिरफ्तार हो जाता है । वह सैक्रेटरी साहब को वस्तुस्थिति से परिचित कराना चाहता है । इसी कारण वह जेल से भागकर सैक्रेटरी साहब से मिलने जाता है । वे उस व्यक्ति की सर्वथा उपेक्षा करते हैं[2],जिसने सौशलिस्ट आन्दोलन को कांग्रेस की अपेक्षा सबलतर बनाया। पार्टी सदैव धनियों की होती है। कालीचरण जैसे निःस्वार्थ व्यक्तियों की इसमें सर्वथा उपेक्षा होती है । सहज स्वाभाविक प्रसंगों के आश्रय से जीवन के अनेक ऐसे कटु सत्यों को 'मैला आंचल' :१९५४: में अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है । इसमें संथालों तथा गैर-संथालों का संघर्ष विभिन्न जातियों के परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, डाक्टर प्रशान्त तथा हिस्टीरियाग्रस्त कमला का प्रेम संबंध,अखाड़े के महन्तों की प्रेमसम्बन्धी कथा, पूंजीपतियों एवं पुलिस की सांठ-गांठ तथा हथकंडे,स्वतंत्रता के उपरान्त कांग्रेस की अधोगति आदि का चित्रण जो प्रस्तुत हुआ है उसमें प्रकाश - चित्रीय यथार्थता है । यथा- दुलारचन्द कापरा-जुआ कम्पनीवाला,पाकिटमार तथा मोरांगिया लड़कियों का व्यापारी,दास गांजा का कार्यवाहक कटहा थाना

१- फणीश्वरनाथ रेणु 'मैला आंचल' :१९६१:नई दिल्ली:पा०बु०ए०द्वि०सं०पृ०१९६, २४६,२६१,२६७,२६१

२-'तुम्हारे कलेजे पर गोली दागी जानी चाहिए । डकैत बदमाश !'
" सैक्रेटरी साहब ! इसीलिए तो ----इसीलिए तो ----आपके--पास आए हैं । सुन लीजिए ।--मां कसम,गुरु कसम,देवता किरिया ।जिस रात--उस रात को हम--यहीं,जिला पार्टी आफिस में थे।'
'राजबल्लीजी ! आपको क्या हो गया है ? किवाड़ बन्द कीजिए,हटाइए इसे। ---बाबू मिहरबानीकरो,चले जाओ । नहीं तो --- ।
'आ --आ--आ--प हल्ला करते हैं ।आ--आ--प अन्दर जाइए ।'

कांग्रेस का सिक्रेटरी है। कापरा सप्लाई इंसपेक्टर तथा दारोगा में सांठगांठ हो गई। कापरा की गाड़ियों में कपड़ा, सिमेन्ट और चीनी लदी हुई है, बावन उन्हें रोकने का प्रयत्न करता हुआ कहता है --

"आइए सामने। पास कराइए गाड़ी। आप भी कांग्रेस के मेम्बर हैं और हम भी खाता खुला हुआ है, आना अपना किताब किताब लिखाइए।--- आज के इस पवित्र दिन को हम कलंक नहीं लगने देंगे।"

कापरा जानता है, इससे माथा-पच्ची करना बेकार है। वह हवलदार के कान में कुछ कहता है। फिर पुकारता है, " इसपिरिंग खां! कहां ----"

यह इसपिरिंग खां कापरा का अपना आदमी है। --- नाम फर्जी है। --- एक गाड़ी पर से उतरता है, फिर चुपचाप अगली गाड़ी पर जाकर बैठ जाता है।

बावनदास --- मान जाओ।"

" ----------"

" हांको जी गाड़ी इसपिरिंग खां!"

+ + बावनदास बीच लीक पर खड़ा है और गाड़ियां ऊपर बार-पार कर रही हैं। बैल भड़के जरूर -- मगर ----"[१]

आदर्श की रक्षा के लिए कथानक में स्वाभाविकता की बलि नहीं दी गयी है। जीवन का यथातथ्य चित्र इसमें प्रस्तुत हुआ है। इसीलिए कथानक में सफलता है।

शेष-

राजबल्ली भी मौन भंग करते हैं।

कालीचरन पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ा है।"

-फणीश्वरनाथ रेणु : "मैला आंचल": १९६१, दिल्ली; पा०बु०प्र०; द्वि०सं०, पृ० ३५१

१- वही : पृ० ३७३-३७४

मनोवैज्ञानिकता

१४- उपन्यास के क्षेत्र में मनोविज्ञान का प्रवेश कथानक-शिल्प के विकास का परिणाम है। सन् १९१८ से मनोवैज्ञानिक घटनाओं अथवा प्रसंगों के आश्रय से कथानक का निर्माण होने लगा। इन उपन्यासों में मनोविज्ञान की नींव गहरी नहीं है। यह क्रियाओं का द्वन्द्व है। पात्र विशेष के कथन अथवा आचरण या लेखक के वर्णन द्वारा व्यावहारिक मनोविज्ञान पर प्रकाश पड़ा है[1]। प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: 'सेवासदन' :१९१८: के पूर्वार्द्ध में सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक प्रसंगों की उद्भावना हुई है। सुमन वेश्या क्यों बनी ? सुमन को विवाह से मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं होती। उसका पति गजाधर उसकी मनोभावना तथा शारीरिक स्थिति को समझने में असमर्थ है। वह शंकालु व्यक्ति भी है। सुभद्रा के यहां जलसे के कारण वह रात्रि में जब विलम्ब से पहुंचती है, गजाधर उसे गृह से निष्कासित कर देता है। निरुपाय होकर वह पं० पद्मसिंह शर्मा का आश्रय ग्रहण करती है। गजाधर उन्हें बदनाम करता है। लोकनिन्दा के भय के कारण वहां से भी वह निष्कासित की जाती है। ऐसी स्थिति में विवश होकर उसका भोलीबाई के यहां आश्रय ग्रहण करना स्वाभाविक ही है। केवल इस बाह्य कारणों से प्रेरित होकर उसने भोलीबाई का आश्रय ग्रहण किया हो- यह बात नहीं है। प्रेमचन्द १८८०-१९३६: ने ही सर्वप्रथम परिस्थिति एवं प्रवृत्ति के संयोग से मनोविज्ञान की

१- प्रेमचंद : 'सेवासदन' : बनारस: पृ० ३०, ३४-३५, ४१, ४४ आदि
,, : 'गबन': इलाहाबाद: प्र० सं०: पृ० ६३, ६८ आदि
,, : 'कर्मभूमि' :१९६२: इलाहाबाद: च० सं०: पृ० २६६
भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' : १९५५: इलाहाबाद: आ० सं०: पृ० ३२, ३३, ८७-८८
पहाड़ी : 'सराय' : १९४४: इलाहाबाद: प्र० सं०: पृ० २०६
रजनी पनिकर : 'मोम के मोती' : १९५४: देहली: प्र० सं०: पृ० १३०, १६४ आदि
वृन्दावनलाल वर्मा : 'अचल मेरा कोई' : १९४८: झांसी: प्र० सं०: पृ० २२०-२२२, २६१, २६३ आदि।
,, 'मृगनयनी': १९६२: झांसी: ११ वां सं०: पृ० २०४, २०७, २१५ आदि
रजनी पनिकर : 'पानी की दीवार': १९५५: देहली: प्र० सं०: पृ० १४९-५० आदि
देवराज : 'पथ की खोज': 'विश्वास और निराशा': १९५१: उ० प्र० प्र० सं०: पृ० ३४ ४७, २२१ आदि
,, 'बाहर भीतर': १९५४: बम्बई: प्र० सं०: पृ० १३२

प्रतिष्ठा कीहै । उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि वैश्या का सम्मान पंडित तथा सम्मिलित क्यों करता है[1]। सुमन स्वयं देख चुकी है कि उद्यान का माली उसी बैंच पर नहीं बैठने देता, जब कि भोली बाई के बैठने पर वह उसकी सेवा करता है। वैश्या का सम्मान देख कर सुमन के हृदय में उसके प्रति घृणा का भाव न्यून हो जाता है। उपरोक्त इन्हीं कारणों से कुलवधू वैश्या के यहां आश्रय ग्रहण कर सकी। इसी प्रकार के व्यावहारिक मनोविज्ञान का चित्रण 'चित्रलेखा': १६३४: में हुआ है। प्रेम-विटप उपेक्षा-जल से सिंचित होकर प्राय: पुष्पित तथा पल्लवित होता है। संसार सेविरक्त योगी कुमारगिरि की चित्रलेखा के प्रति अवहेलना तथा उपेक्षा ही उसे उनके प्रति आकृष्ट करती है। इसी आकर्षण के वशीभूत होकर वह उनसे दीक्षा लेने जाती है। परन्तु कुमारगिरि जब उससे प्रभावित होकर निराकार का पूजन त्यागकर साकार का पूजन प्रारम्भ करते हैं, तब वह उसका उपहास करती है[2]। इसके मूल में है नारी स्वभाव कि वह उससे प्रेम करना चाहती है, जो उससे विरक्त है। इसके अतिरिक्त, योगी का प्रणय-निवेदन सुनते ही उसके हृदय में बीजगुप्त के प्रति प्रगाढ़ प्रेम हिलोरें लेन लगा। वह उसे सच्चे हृदय से प्रेम करती है। कुमारगिरि ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे मिथ्या सूचना दी है कि वह यशोधरा के साथ वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रहा है। इस सूचना मात्र से क्रोधावेश में उसका योगी से सम्बन्ध स्थापित करना[3] नितान्त मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि उसका व्यक्तित्व तेजस्वी है। वह अपनी अवमानना सहन नहीं कर सकती है।

१- प्रेमचंद :'सेवासदन' : ? : बनारस, प्र०सं०, पृ० ३०,३४-३५,४१,४४ आदि

२-"चित्रलेखा हंस पड़ी, मैं जानती हूं कि तुम मुझसे प्रेम करते हो, पर मैं तो तुमसे प्रेम नहीं करती। एक क्षण के लिए मेरी इच्छा तुम पर आधिपत्य जमाने की हुई थी, और मैंने उसका प्रयत्न किया। मैं सफल भी हुई, पर उससे क्या ? --------+ + स्त्री अपने से निर्बल मनुष्य से प्रेम नहीं कर सकती, जिस मनुष्य पर उसने आधिपत्य जमा लिया वहमनुष्य उसके प्रेम का अधिकारी हो ही नहीं सकता।"

--भगवतीचरण वर्मा :'चित्रलेखा': १९५५:इलाहाबाद:आ०सं०:पृ० १५७

३- वही : पृ० १७१-१७२

१५- सन १९२९ से कुछ मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे जाने लगे । पाश्चात्य मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों से हिन्दी पाठक परिचित हो गया । लेखकों ने भी फ्रायड एडलर और जुंग का अध्ययन किया । फलत: मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों तथा अन्य प्रकार के उपन्यासों के कथानक का निर्माण होने लगा । उपन्यासों में युद्ध अथवा जीवन की आशंका के समय रोमांस का प्रदर्शन हुआ । इसका कारण है कि ऐसे क्षणों में व्यक्ति की जीवन के प्रति कामना प्रबलतर हो जाती है । संकट की स्थिति में रोमांस की इच्छा उत्पन्न होना मनोवैज्ञानिक सत्य[1] है । यशपाल:१९०३: कृत 'दादा कामरेड':१९४१: में क्रान्तिकारी हरीश शैला को निरावरण देखने का आग्रह करता है और इच्छापूर्ति पर सन्तोष का अनुभव करता है[2] तथा वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई':१९४६: में युद्ध के समय मधुर रोमांस की छटा दृष्टिगत होती है[3]। इसी प्रकार यशपाल के 'देशद्रोही':१९४३: में बद्रीबाबू और राजा का विवाह उस समय होता है जब कि सत्याग्रह आन्दोलन चरम सीमापर है । बद्रीबाबू कुमारी कन्या से विवाह न कर विधवा से करते हैं, इसका भी मनोवैज्ञानिक आधार है । देशद्रोही :१९४३: के बद्रीबाबू 'सुनीता':१९३५: के श्रीकान्त जैसे व्यक्ति हैं जिनकी प्रणयानुभूति के लिए अन्य व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जिससे वे स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर सकें । अज्ञेय :१९११: कृत 'शेखर एक जीवनी':१९४० :, इलाचन्द्र जोशी :१९०२: के 'संन्यासी':१९४१: तथा 'जहाज का पंछी':१९५५: आदि के कथानक-शिल्प में आदि से अन्त तक मनोवैज्ञानिकता है । 'शेखर :एक जीवनी':१९४०: के प्रथम भाग को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें बाल-मनोविज्ञान ने औपन्यासिक अभिव्यक्ति प्राप्त की है । इसमें बालक शेखर की ईश्वर, जीवन-मृत्यु, के प्रति जिज्ञासा, भय तथा अहं भावनादि का चित्रण मनोविश्लेषणात्मक तथा व्याख्यात्मक शैली में प्रस्तुत हुआ है, जिसकी मनोवैज्ञानिकता

१-'कारण यही है कि मृत्यु के सम्मुख खड़े होकर मनुष्य में जीवन की कामना, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर अपनी अमरताको स्थापित करने की इच्छा उसमें बलवती हो उठती है । यह बलवती इच्छा उसमें स्त्री के प्रति तत्परत्व उत्पन्न करती है।
--डा०देवराज :'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' १९५६, इलाहाबाद, प्र०सं० पृ० २८७

२-यशपाल :'दादा कामरेड':१९४८;लखनऊ;तृ०सं०:पृ० १४०

३-वृन्दावनलाल वर्मा:'झाँसी की रानी-लक्ष्मीबाई':१९४९;झाँसी;न०सं०पृ०३८८-९०, ४०४,४८३ आदि

असंदिग्ध है । शेखर की नास्तिक होने की प्रक्रिया भी मनोवैज्ञानिक है यदि सर्वशक्तिमान तथा समस्त गतिविधि का नियामक है तो अन्याय, अत्याचार[1] मंहगाई आदि के लिए भी वही उत्तरदायी हुआ । इसी प्रकार उसे जीवन के प्रति जिज्ञासा है कि बच्चा कहां से आता है । उसे बताया जाता है कि ईश्वर बारिश के साथ उसे बरसा देता है । किन्तु अपने सूक्ष्म निरीक्षण के बल पर उसे ज्ञात हो जाता है कि यह मिथ्या है[2]। इलाचन्द्र जोशी :१६०२: के समस्त उपन्यासों के कथानकों में जटिल मनोविज्ञान दृष्टिगत होता है ।'पर्दे की रानी':१६४२:'प्रेत और छाया':१६४४:'निर्वासित':१६४६:'मुक्तिपथ':१६४८:'सुबह के भूले':१६५१:'जिप्सी'

१- थोड़ी देर बाद शेखर ने फिर पूछा-'जान आती कहां से है ?

'ईश्वर से'

'जाती कहां है ?'

'ईश्वर के पास'

'ईश्वर ले लेता है ?'

'हां'

शेखर ने सन्देह के स्वर में कहा-' हूं ।'

थोड़ी देर बाद उसने फिर पूछा-'इतनी सब जानें ईश्वर के पास गयी होंगी ?'

' हां'

'जर्मनों की भी ?'

'हां'

'सब शरीर भी ईश्वर बनाता है ?'

'हां'

'सब कुछ ईश्वर करता है ?'

'हां'

'तब लड़ाई भी ईश्वर ने कराई होगी ?'

'हां'

'तब...' कहकर शेखर रुक गया । उसे याद आया,उसने अखबार में ही पढ़ा था कि जर्मन लोग बड़े क्रूर होते हैं केदियों को पीटते हैं,भूखा मारते हैं ।औरतों को कोड़े लगाते हैं, सड़कों पर घसीटते हैं,इत्यादि।क्या यह सब भी ईश्वर के करने से ही होता है ?' --अज्ञेय-'शेखर'एक जीवनी':प्र०भा०,१६६१ सं०सं० पृ० ८३-८४

२- वही : पृ० १३१.

:१९५२: 'जहाज का पंछी' :१९५५: आदि के कथानक का निर्माण अभिनव मनोवैज्ञानिक समस्याओं से हुआ है । 'संन्यासी' :१९४१: में आदि से अन्त तक जटिल मनोवैज्ञानिक स्थलों का ही बाहुल्य[1] है जो कथोपकथन तथा विश्लेषण के रूप में उपन्यास में प्रस्तुत हुए हैं । कथानक में मनोवैज्ञानिक शिल्प के प्राधान्य का ही यह परिणाम है कि 'मनुष्य के रूप' :१९४९: में बरकत और सोमा का परस्पर व्यवहार मनोवैज्ञानिक प्रसंग का उत्कृष्ट उदाहरण है । आश्रित सोमा का गृहस्वामिनी जैसा आचरण देख कर एक दिन कार का द्वार खोल कर बरकत का सोमा से कथन कि- सरकार, ज़रा ग़रीबों का भी ख़्याल रखिये । ' उसके इस उत्तर से वह शान्त रह जाता है । किन्तु परिस्थितिवश जब सोमा बरकत की शरण ग्रहण करती है, बरकत उसके साथ दुर्व्यवहार ही नहीं करता, प्रत्युत वह उसे वेश्या बनाना चाहता है[2] । इसका मनोवैज्ञानिक कारण है कि बरकत के हृदय में लाहौर की सोमा की झिड़की जीवित है । उस स्मृति-दंश से वह पीड़ित है और प्रतिकार लेने के लिए सन्नद्ध है । सोमा भी बरकत से घृणा करती है । चेतन रूप में दोनों निकट आ गए थे परन्तु दोनों के अचेतन मस्तिष्क परस्पर घृणा करते हैं । इस व्यवहार का एक मनोवैज्ञानिक कारण है कि जब प्रणयसम्बन्धी अनेक अस्वीकृतियाँ, निराशाओं, तथा अवमाननाओं के बाद होता है तब अचेतन मस्तिष्क अपमानजन्य पूर्व स्मृतियों के दंश से पीड़ित रहता है, फलत: जीवन सुखी नहीं रहता । 'जहाज का पंछी' :१९५५: इलाचंद्र जोशी :१९०२: की महानतम् उपलब्धि है । इसमें प्रत्येक कार्य, कथोपकथन चेष्टादि के मूल में सन्निहित मनोविज्ञान का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है[3] । उदाहरण के लिए, हरिपद लैमी के साथ दुर्व्यवहार करना चाहता है, इसके मूल में है उसका पिता फटिक जो जमींदार था, जिसने उसकी छोटी बहन का अपहरण किया था[4] ।

१- इलाचंद्र जोशी : 'संन्यासी' :१९५९: इलाहाबाद: क०सं०: पृ० ११३, २३५, २३७, २३८-९ ३८२-३आदि

२-यशपाल: मनुष्य के रूप: १९५२: लखनऊ: द्वि०सं० पृ० २६३, २६७-२७०आदि।

३- इलाचन्द्र जोशी : 'जहाज का पंछी' :१९५५: बम्बई: प्र०सं०: पृ० १२, १४, १५, ६७, १८२-४, ३३२-५, ४१०, ४१२, ५०९-५११, ५१३, ५१६, ५१९, ५२०, ५२१

४- वही,: पृ० १८२-१८३

१५- विश्लेषण के अतिरिक्त, उपन्यास के क्षेत्र में मनोविज्ञान का प्रवेश अन्य रूपों में भी हुआ है । प्रारम्भ के उपन्यासों में प्रत्यक्ष वस्तुओं का ही चित्रण हुआ करता था, किन्तु कालान्तर में इनमें निराधार प्रत्यक्षीकरण(हैल्यूसिनेशन) ने भी अभिव्यक्ति प्राप्त की[१], जो कथानक शिल्प की दृष्टि से नवीन प्रयोग है । इसके द्वारा कथानक में पूर्ण मनोवैज्ञानिकता तथा विश्वसनीयता का समावेश हुआ है । व्यक्ति का चेतन मस्तिष्क जब चिन्ताग्रस्त तथा उद्वेलित होता है,उसी क्षण निराधार प्रत्यक्षीकरण की क्रिया हुआ करती है । यह कथानक-शिल्प का विकास ही है कि इसने अपनी विस्तृत परिधि में मानसिक जगत् को भी अन्तर्निहित कर लिया ।मानसिक जगत् के सन्निवेश के कारण ही यथार्थ जगत् की अनुभूति में सघनता का प्रवेश हुआ ।

१६- स्वप्नों केमाध्यम से भी कथानक का विकास हुआ है । प्रेमचन्द(१८८०-१९३६) कृत`रंगभूमि`(१९२६-७)में सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक स्वप्न दृष्टिगत होता है । रानी जाह्नवी विनय और सोफिया के प्रेम में बाधक है क्योंकि उनकी हार्दिक इच्छा है कि उनका पुत्र देशसेवक बने । वे दोनों जब परस्पर प्रेम कर रहे हैं, सोफिया के अचेतन मस्तिष्क में रानी का भय वर्तमान है । स्वप्न में रानी की क्रुद्ध मुद्रा देखना तथा उनका कथन सुनना कि वे दोनों का वध कर[२] देंगी- सोफिया के हृदय में भय-भावना जन्य मनोभाव है । किन्तु इस स्वप्न का शिल्प अत्यधिक सरल है,इसमें कहीं भी जटिलतानहीं है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के स्वप्न[३] जटिल हैं,उनके मूल में है मनोविज्ञान के सिद्धान्त । इसलिए ये स्वप्न अर्थहीन तथा विचित्र प्रतीत होते हैं ।`जहाज के पंछी`(१९५५) में 'मैं'का स्वप्न ऐसा ही है[४] । मैं स्वप्न देख कर उठता है जिसे वह भूल

१- जैनेन्द्र :`सुनीता`;१९६२;दिल्ली;पा०बु०ह०: द्वि०सं०`. पृ० २०९
,, `कल्याणी`;१९६२;दिल्ली, पृ०:८१,८२-८४।
इलाचंद्र जोशी:`प्रेत और छाया`; पृ०:१८१,२६३

२- प्रेमचंद :`रंगभूमि`, ? , इलाहाबाद, पृ०:४३९

३- अज्ञेय :`शेखर :एक जीवनी`,प्र०भा०१९६१;बनारस;सं०सं०पृ०१३९-४०,१८९
,, ,, द्वि०भा०१९४७;बनारस; द्वि०सं०,पृ० २७
इलाचंद्र जोशी:`संन्यासी`;१९५९;इलाहाबाद;ह०सं०; पृ० ८६
अज्ञेय :नदीके द्वीप`;१९५१, दिल्ली;प्र०सं०. पृ० ४१४-४१५
इलाचंद्र जोशी:`जहाज का पंछी`,१९५५;बम्बई,प्र०सं०;पृ०४५०-४५१

४-` बचपन में जिस घर में, जिस पड़ोस में, जिस युग में और जिस वातावरण में मैं रहता था, उसी से सम्बन्धित एक ऊटपटांग और अर्थहीन-सा स्वप्न था वह । स्वप्न के अधिकांश पात्र न जाने कब मर चुके थे । अधिकांश बातें वे अपने हीयुग

गया है । अन्त में उसे स्वप्न की अस्पष्ट झांकी याद आती है । इस स्वप्न के मूल में अचेतन की गतिशील गुत्थियां हैं । इसमें दर्शनीय यह है कि 'मैं' लीला से प्रभावित हो चुका है । इसलिए लीला के प्रवेश से ही विगत जीवन के कुछ चित्र धुंधले पड़ जाते हैं । यहां 'मैं' अपनी भावनाओं का आरोपण लीला में कर देता है । इसी कारण वह देखता है कि लीला घबराई हुई-सी भाग रही है जब कि वह ही वहां से भागना चाहता है । इस प्रकार के स्वप्नों के द्वारा कथानक में गंभीर मनोविज्ञान का प्रवेश हुआ परन्तु इनका शिल्प कलात्मक है ।

शेष-

की कर रहे थे पर बीच-बीच में एक-आध अस्पष्ट बात मेरे वर्तमान वातावरण से सम्बन्धित भी कर बैठते थे । पर वे क्या कहते थे और क्या करते थे, यह मैं किसी तरह भी ठीक से याद नहीं कर पाता था । कभी लगता था जैसे बचपन के युग के किसी मेले के जुलूस में हम लोग जा रहे हों । उस मेले के राग-रंग और हुल्लड़ में कभी सभी पुराने लोग सम्मिलित दिखाई देते थे, कभी इस युग के लोग । पर मेरे साथ उनमें से कोई भी बात नहीं करता था- जैसे मैं उनके बीच में होने पर भी नहीं था । लीला न जाने कहां से उसमें शरीक हो गई थी । मैं बार-बार उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करता, पर वह जैसे मुझे पहचान ही नहीं रही थी- या मुझ तक उसकी दृष्टि पहुंच ही नहीं पाती थी । वह प्रसन्न दिखायी देती थी और मेले के हुल्लड़ के बीच में अपना भी उल्लसित स्वर मिला रही थी । अन्त में एक बार बड़ी मुश्किल से उसने मेरा स्वर पहचाना और फिर मुझे देख कर घबराई हुई-सी मेरी ओर दौड़ आई । आते ही बोली- चलो यहां से भागो । इस मेले में निश्चय ही कोई बहुत बड़ा उपद्रव होने वाला है ।' और बिना मेरे चलने की प्रतीक्षा किए ही वह जुलूस से उल्टी दिशा की ओर तेजी से भागने लगी । उसी लिए चिन्तित होकर मैं भी उसके पीछे दौड़ा । इस बीच सचमुच दंगा शुरू हो गया । मैं उसके लिए बुरी तरह घबराया हुआ उसे इधर-उधर खोजने लगा, पर उसका कहीं पता ही न लगा । अन्त में एक स्थान पर उसे देख कर मैं उसका साथ देने के लिए दौड़ ही रहा था कि सहसा मेरी नींद उचट गई ।' --इलाचंद्र जोशी: 'जहाज का पंछी', १९५५; बम्बई, पृ०सं०; पृ०४५०-४५१

१७- प्रारम्भिक उपन्यासों का कथानक-शिल्प दुर्बल है क्योंकि उसमें सुगठन तथा सम्बद्धता का अभाव है। किन्तु प्रेमचन्द(१८८०-१९३६)कृत `सेवासदन`(१९१८) से इस दोष का परिहार होने लगा। उपन्यास के कथानक का स्वत: विकास होना प्रारंभ हो गया। सफल उपन्यासों में आदि से अंत तक तारतम्य रहने लगा। एक घटना ही अन्य घटनाओं की जन्मदात्री होती है। उपन्यास में वर्णित घटनाओं में शृंखला आदि से अन्त तक दृष्टिगत होती है। उदाहरण के लिए-`गोदान`(१९३६) में हम देखते हैं कि गऊ पालने की बलवती इच्छा होरी के मन में है। इसी के वशीभूत होकर वह भोला को सगाई ठीक करने का मिथ्या आश्वासन देकर गऊ लेता है। गऊ लेने उसका पुत्र गोबर जाता है, जिसका प्रेम भोला की लड़की झुनिया से हो जाता है। झुनिया की गर्भावस्था के कारण ही गोबर ग्राम का परित्याग कर नगर में चला जाता है। गऊ की मृत्यु और झुनिया को संरक्षण प्रदान करने के कारण होरी के सामाजिक, आर्थिक संघर्ष की कथा प्रारम्भ हो जाती है। इसके कथानक को देख कर ऐसा नहीं प्रतीत होता कि इसमें स्वत: सम्बद्धता नहीं है तथा लेखक ने इसे सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है। सम्बद्धता का यह तात्पर्य नहीं है कि इसमें उपकथानक या प्रासंगिक कथाओं का अभाव होता है। ये मुख्य कथानक का अंग बन कर उपन्यासों में प्रस्तुत होती हैं यथा- प्रतापनारायण श्रीवास्तव (१९०४) का `विदा`(१९२८) भगवतीचरण वर्मा (१९०३)कृत `चित्रलेखा`(१९३४) प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) का `गोदान`(१९३६), वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९)का `झांसी की रानी-लक्ष्मीबाई`(१९४६), यशपाल (१९०३) का `मनुष्य के रूप`(१९४९), मन्मथनाथ गुप्त(1908) का `दुश्चरित्र`(१९४९) आदि में। कुछ उपन्यासों में पात्र विशेष के माध्यम से भी सम्बद्धता स्थापित की जाती है यथा- राहुल सांकृत्यायन (१८९३-१९६३) का `सिंह सेनापति`(१९४२), अज्ञेय (१९११)का `शेखर-एक जीवनी`(१९४०-४४) आदि में।

१८- गठन की दृष्टि से उपन्यास दो प्रकार के दृष्टिगत होते हैं। कुछ उपन्यास ऐसे होते हैं जिनमें उपकथानक का अभाव है। फलत: इनके कथानक में असम्बद्धता के लिए कम स्थान होता है। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक तथा अन्य उपन्यासों में उपकथानक का अभाव है। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक (१८९१-१९४५) कृत `भिखारिणी`(१९२९) जैनेन्द्रकुमार(१९०५) के `त्यागपत्र`(१९३७),कल्याणी(?)

`सुखदा` (१९५२), `विवर्त` (१९५३), इलाचन्द्र जोशी (१९०२) के `लज्जा` (?) `पर्दे की रानी` (१९४२) अज्ञेय (१९११) कृत `शेखर-एक जीवनी` (१९४०) तथा `नदी के द्वीप` (१९५१) आदि उपन्यास इसी प्रकार के हैं। इनमें एक कथानक होने के कारण प्रवाह तथा गति अक्षुण्ण रहती है। उसे उपकथाओं की चट्टानों से टकराना नहीं पड़ता है। `वचन का मोल` (१९३६) में कजरी और विनय की ही कथा प्रस्तुत हुई है। विनय के विवाह के उपरान्त उपकथानक का स्वतंत्र विकास हो सकता था, परन्तु उपन्यासकार ने ऐसा नहीं किया है। उसने संक्षिप्त परन्तु प्रभावशाली चित्र के द्वारा विनय के चार वर्षों की मानसिक स्थिति का चित्र अंकित किया है। उसके लड़के की पत्नी के समय वह विनय के बच्चे को प्यार करती है, विनय उसे विस्फारित दृष्टि से देख रहा है। वह उससे प्रश्न करता है कि उसने उसे अस्वीकार क्यों कर दिया ? वह अपनी आत्मव्यथा को प्रकट कर उपकथानक के विस्तार का परिहार कर देता है।[1] इसके पूर्व उसके असन्तुष्ट वैवाहिक जीवन का चित्र उपलब्ध होता है।[2] इससे उपकथानक के उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कथानक के अभाव के कारण प्रासंगिक कथा भी नहीं होती। इस कारण मुख्य कथानक विश्रृंखलताविहीन होता है। उदाहरणार्थ -`कल्याणी` (?) के कथानक में केवल कल्याणी की ही अन्तर्वेदना तथा जटिल चरित्र का उद्घाटन हुआ है।[3]

१९- उपन्यासों में उपकथानक की योजना विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हुई है। इसके द्वारा उपन्यासों में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होता है। उपन्यासकार जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन उपकथानक के आश्रय से करता है। `प्रेमचन्द (१८८०-१९३६), वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९), चतुरसेन शास्त्री (१८९१-१९६०), यशपाल (१९०३) प्रभृति के उपन्यासों में उपकथानकों की योजना हुई है। ग्राम्य के महाजनी

१- उषादेवी मित्रा: `वचन का मोल` : १९४६; बनारस; पं०सं० : पृ० ८८-९०

२- वही, पृ०: ७५-७६

३- जैनेन्द्रकुमार: `कल्याणी`; ?; दिल्ली; पृ० सं०: २७, ५०, ७९-८० आदि।

शोषण[1] तथा नगर के पूंजीवादियों के शोषण[2] के प्रदर्शन के हेतु ही `गोदान`(१६३६) में क्रमशः ग्रामीण तथा नागरिक जीवन का चित्र प्रस्तुत हुआ है । वृन्दावनलाल वर्मा के `कचनार`(१६४८) में मानसिंह तथा महन्त अचलपुरी की कथा , तथा `मृगनयनी` (१६५०) में मृगनयनी तथा लाखारानी की कथाएं कभी साथ-साथ चलती हैं और कभी परस्पर गुम्फित अथवा कभी दूर दूर हो जाती हैं ।`मृगनयनी`(१६५२) के उपकथानक के द्वारा राई ग्राम्य तथा विभिन्न राज्यों के शासक तथा उनकी शासन-व्यवस्था ,राज्य की राजनीतिक,सामाजिक ,आर्थिक स्थिति का उद्घाटन हुआ है[3] । ग्वालियर का कर्तव्यपरायण राजा मानसिंह ,मालवा का विलासी महमूद खिलजी , गुजरात का पेटू सुल्तान बघेरा आदि की कथाओं के विकास के लिए इसमें उपकथाओं की योजना हुई है । इससे उपन्यास में रोचकता की सृष्टि हुई है ।कुछ स्थलों के अतिरिक्त, इनमें उपकथानकों की योजना सहज स्वाभाविक रूप में हुई है और शिल्प की दृष्टि से असम्बद्ध नहीं है । जिस प्रकार वट का विकास स्वतः सहज स्वाभाविक रूप में होता है उसी प्रकार उपन्यासों में उपकथानक का विकास होता है । पात्रों अथवा किसी उद्देश्य के द्वारा यह सुरक्षित होता है । यथा-`कर्मभूमि` (१६३२) में अमरकांत पिता से क्रुद्ध होकर ग्राम में जाता है । फलतः उपन्यास में ग्रामीण कथानक का समावेश हो जाता है । इसी प्रकार `आचार्य चाणक्य`(१६५४) में यवन आक्रमण और उससे मुक्ति के प्रसंग में विविध राज्यों की स्थिति और नीति पर प्रकाश पड़ा है । एक उद्देश्य अथवा पात्रों के परस्पर सम्बन्ध के कारण कुछ स्थलों पर कथानक और उपकथानक परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं और प्रसंगवश वे समानान्तर रेखावत् प्रतीत होते हैं । शिल्प की दृष्टि से इनका अन्त महत्वपूर्ण होता है । उपकथानक यदि कथानक में तिरोहित न हो तो उपन्यास विफल हो जाता है ।`गोदान`(१६३६) में गोबर के नगर से वापिस चले आने के कारण[4]

१- प्रेमचन्द :`गोदान`,१६४६,बनारस;द०सं०,पृ० १५२,१७१,२४६ आदि ।

२- वही , पृ० २३३-५ , ३८२, ३८३ आदि।

३- वृन्दावनलाल वर्मा:`मृगनयनी`,१६६२,झांसी ',न्या०सं०,पृ०४६,७०-२,७६,१६१, २६२-३ आदि

४- प्रेमचन्द :`गोदान`१६४६,बनारस,द०सं०,पृ० ४०६

नागरिक कथानक ग्रामीण कथानक में समाहित हो जाता है और उपन्यास का अन्त पूर्ण प्रतीत होता है । इसी प्रकार 'आचार्य चाणक्य' (१९५४) में यवन पराजित हो जाते हैं,[1] चाणक्य के प्रयत्न से गृहविद्रोह पूर्णतः ही शांत हो जाता है । राष्ट्र-कल्याण के लिए कार्निका का चाणक्य के साथ जाती है और चन्द्रगुप्त तथा हेलेन का विवाह निश्चित हो जाता है[2] । इसी कारण उपकथानक के कारण कथानक विशृंखल नहीं हुआ है ।

२०- शिल्प की दृष्टि से सफल उपन्यासों में कथानक के विकास में प्रासंगिक कथा स्वत: अन्तर्निहित हो जाती है । इनसे कथानक सशक्त तथा सप्राण होता है । जिन उपन्यासों में उपकथानक का अभाव होता है वहां भी प्रासंगिक कथाएं दृष्टिगत होती हैं । इनसे विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति होती है । कभी इनसे मुख्य कथानक सबल होता है, किसी विशिष्ट स्थिति के उद्घाटन में इनसे सहायता मिलती है, वातावरण के निर्माण में ये सहायक होती हैं और विभिन्न प्रकार के पात्रों के चरित्र का उद्घाटन भी इन्हीं के माध्यम से होता है । 'गोदान' (१९३६) के नोहरी-भोला प्रसंग से वृद्धावस्था में युवती से विवाह का दुष्परिणाम प्रदर्शित हुआ है[3] । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) में सुचरिता की कथा से तत्कालीन धार्मिक वातावरण की उद्भावना हुई है[4] । महामाया की कथा से उनके चरित्र तथा तत्कालीन राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति का उद्घोष प्राप्त होता है[5] । 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' (१९४६) में ~~मम~~ झलकारी कोरिन के प्रसंग से रानी की लोकप्रियता का परिचय प्राप्त होता है[6] । उपन्यास की आवश्यकतानुरूप ही प्रासंगिक कथाओं का समावेश उपन्यास में होता है । शिल्प की दृष्टि से प्रासंगिक कथाओं की सफलता इसी तथ्य में है कि वे स्वतंत्र न प्रतीत हों, मुख्य कथानक में गुम्फित हों ।

१- सत्यकेतु विद्यालंकार: 'आचार्य चाणक्य' (१९५७: मसूरी) तृ०सं०; पृ०सं०- ३०७
२- वही पृ० सं०- ३२४, ३३१ ।
३- प्रेमचन्द: 'गोदान' (१९५९: बनारस) च०सं०; पृ०सं० -४०२ ।
४- हजारी प्रसाद द्विवेदी: 'बाण भट्ट की आत्मकथा' (१९६३: बम्बई) प०सं०; पृ०सं० २२०-२२२, २२५-२२६ ।
५- वही : पृ० सं०- २९३-३०० ।
६- वृन्दावनलाल वर्मा: 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' (१९६१) झाँसी; न०सं०

२१- शिल्प की दृष्टि से यही आवश्यक नहीं है कि उपन्यास के कथानक का स्वत: विकास हो वरन् उसमें कुछ ऐसी विशिष्टता अनिवार्य है जो पाठक का ध्यान आकृष्ट कर सके। कथानक शिल्प ऐसा होना चाहिए कि उसमें अकृत्रिम रूप से भावात्मक तथा मर्मस्पर्शी स्थलों का समावेश हो सके। जब तक ये प्रसंग उपन्यासों में सहज स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत नहीं होते तब तक इनका शिल्प की दृष्टि से महत्त्व नहीं होता यथा--'मनोरमा' (१९२४) तथा 'मंगलप्रभात' (१९२७)। उषा देवी मित्रा (१८९७) के उपन्यासों का स्थान महत्वपूर्ण है, क्योंकि इनकी रचना में हृदय के आवेग, स्पन्दन तथा भावना का योगदान हुआ है। इसके अतिरिक्त, इनमें समस्या की गुरुता भी वर्तमान है। 'वचन का मोल' (१९३६) में मृत्युशैय्या पर आसीन सरोज का कजरी से बलपूर्वक वचन लेना कि वह विवाह नहीं करेगी,[1] फलत: कजरी का हृदय पर पत्थर रख कर अपने प्रेमी विनय से विवाह न कर परिस्थितिवश उसके तथा उसके परिवार द्वारा तिरस्कृत होना[2] तथा अन्त में कजरी की प्रतिज्ञा के रहस्य से अवगत होकर उसे सहधर्मिणी बनाने के लिए प्रस्तुत होना तथा कजरी का उत्तर[3] उसकी उदात्त भावनाओं का प्रतीक है। इसके कथानक में आदि से अन्त तक भावात्मकता का ही प्राधान्य है। मनोविज्ञान की कसौटी पर यह कंचन-सा खरा उतरता[4] है। इसी प्रकार भावुकता से परिपूर्ण, भावात्मक तथा मर्मस्पर्शी स्थल 'गोदान' (१९३६) 'नारी'[5] (१९३७),

---

१- उषादेवी मित्रा-'वचन का मोल':(१९४६)बनारस; पं०सं०; पृ०- ९९।
२- वही : पृ० ;९०-९१।
३- 'जो नारी वचन का मोल नहीं दे सकती है, जो स्त्री किसी मरन-सेज की सौगंध को अपने सुख-आराम के आगे बलि दे सकती है, क्या वह भी सहधर्मिणी कहलाने की स्पर्द्धा रख सकती है? या तुम्हीं उसे किसी भी दिन पत्नी के रूप में और संतान की माँ के रूप में स्वीकार ही कर सकते हो।'

'मैं, सब कुछ कर सकता हूँ कजरी, तुम मेरा जीवन हो।'

इस बार कजरी ने पूर्ण दृष्टि से विनय की ओर देखा।

'झूठ, बिल्कुल झूठ। वैसी स्त्री को न तो तुम ही क्षमा कर सकते हो और न मैं ही। जब कि मैं दुनिया की दृष्टि से और अपनी दृष्टि से इतने नीचे गिर जाऊंगी। उस वक्त क्या मैं ही अपनी भक्ति-प्रेम, आदर की पूजा तुम्हारे चरणों तक पहुँचा सकूँगी?'

--- उषादेवी मित्रा :'वचन का मोल':(१९४६)बनारस:पं०सं०; पृ०:११०-१११।

"जीवन की मुस्कान"[1] (१६३६) "मनुष्य के रूप"[2] (१६४६) "बाणभट्ट की आत्म कथा"[3] "झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई"[4] (१६४६) "मृगनयनी"[5] (१६५०) "त्रिवेणी"[6] (१६५०) "बाबा बटेसरनाथ"[7] (१६५४) "कठपुतली"[8] (9)आदि में प्राप्त होते हैं। इनमें से शिल्प की दृष्टि से "गोदान" (१६३६) "झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई" (१६४६) तथा "बाणभट्ट की आत्मकथा" (१६४६) के कुछ भावात्मक स्थल दर्शनीय हैं। "गोदान" में पूस की ठंडक में फटे-पुराने कम्बल में होरी के जड़ाने का करुण चित्र अंकित हुआ है।[9] इसके शिल्प की मुख्य विशेषता है कि इसमें गंभीर समस्या भी मर्मस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत हुई है। उदाहरणार्थ- होली के समय के स्वांग में शोषण का जीवन्त चित्र प्रस्तुत की गया है कि महाजन किस प्रकार

शेषांक —

४ ३- प्रेमचंद: "गोदान" (१६४६) बनारस; द०सं०; पृ० १५२-१५३, १६२-१६३, २६४-२६५

५- सियारामशरण गुप्त: "नारी" (१६५५), चिरगाँव; अ० आवृत्ति; पृ०- २११, २१२, २१३, २१४ आदि।

१- उषादेवी मित्रा: "जीवन की मुस्कान" (१६३६), बनारस; प्र०सं० पृ० ४०, ४१, ४४, १८८, २१६, २१८ आदि।

२- यशपाल: "मनुष्य के रूप" (१६५२), लखनऊ; द्वि०सं०; पृ० २६, ३० आदि।

३- हजारीप्रसाद द्विवेदी: "बाणभट्ट की आत्मकथा" (१६६३) बम्बई, पंचम सं० पृ०- ७४-७५, ३०६।

४- वृन्दावनलाल वर्मा: "झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई" (१६६१) झाँसी, नवम सं० पृ०- ६८-१०१, ३४६-३४८, ४११-४१२, ४२४-४२७ आदि।

५- वृन्दावनलाल वर्मा: "मृगनयनी" (१६६२) झाँसी, ग्यारहवाँ सं०; पृ०- ४५८, ४६४-४६५।

६- कंचनलता सब्बरवाल: "त्रिवेणी" (१६५०) देहरादून; प्र०सं०, पृ०- ३३, ११२ आदि

७- नागार्जुन: "बाबा बटेसरनाथ" (१६५४), नई दिल्ली, प्र० सं० पृ०-७-८, २१ 128 आदि

८- देवेन्द्र सत्यार्थी: "कठपुतली" (१६५४), नई दिल्ली: पृ० ३२१-३२२, ३३४-६ आदि

९- प्रेमचंद: "गोदान" (१६५६) बनारस, दसवाँ सं०; पृ०-सं०- १५८।

दस का रुक्का लिखाकर पांच रुपया प्रदान करता है।[1] यह इसी उपन्यास की विशेषता है कि इसमें शोषण का चित्र इतने भावात्मक तथा रोचक रूप में प्रस्तुत हुआ है कि वह मर्मस्पर्शी बन गया है। १९४६ में 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' (वृन्दावनलाल वर्मा) में युद्ध और रोमांस की छटा भावात्मकता से परिपूर्ण है। लेखक ने अनेक अविस्मरणीय दृश्यों की योजना प्रस्तुत की है।[2] उपन्यासों में केवल प्रेम-प्रसंगों के द्वारा ही भावात्मक अथवा मर्मस्पर्शी स्थलों की अवतारणा ही नहीं हुई प्रत्युत शोषण, दरिद्रता, पात्र-विशेष की कर्तव्य-परायणता। शौर्य आदि के द्वारा इस प्रकार के स्थलों की सृष्टि हुई है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) में प्रेम-प्रसंग के द्वारा जिस भावात्मक स्थल की उद्भावना हुई है वह शिल्प की दृष्टि से अद्वितीय है। निपुणिका बाणभट्ट से प्रेम करती है, परन्तु भट्टिनी के कारण वह इसे प्रकट नहीं होने देती। निपुणिका स्वयं वासवदत्ता की भूमिका में उतरती है। प्रसंगवश वह भट्ट से कह भी देती है कि

१- 'यह तो पांच ही है मालिक।'
'पांच नहीं दस हैं। घर जाकर गिनना।'
'नहीं सरकार! पांच हैं।'
'एक रुपया नजराने का हुआ कि नहीं।'
'हां सरकार!'
'एक तहरीर का!'
'हां, सरकार!'
'एक कागद का?'
'हां, सरकार।'
'एक दस्तूरी का!'
'हां सरकार।'
'एक सूद का?'
'हां सरकार!'
'पांच नगद, दस हुए कि नहीं'
—प्रेमचंद: 'गोदान' (१९४९), बनारस, दसवां संस्करण, पृ०- २१४-२१५।

२- वृन्दावनलाल वर्मा: 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' (१९६१), झांसी, नवम सं०
पृ० ३८८-३९०, ४०४, ४११, ४२६-४२७, ४८८-४८९।

वासवदत्ता ने किस प्रकार दो विरोधी दिशाओं में जाने वाले प्रेम को एक सूत्र कर दिया है। प्रेम एक और अविभाज्य है। किन्तु बाण ने उसके आशय को तब नहीं समझा। वासवदत्ता की भूमिका में उसका अभिनय सफलतम हो रहा था। जब वह रत्नावली का भाव बाण को देने लगी, वह विचलित हो गई। वह सिहर गई। भरतवाक्य समाप्त होते-होते वह धरती पर लोट गई। जब उसके अभिनय की सर्वत्र प्रशंसा हो रही थी, वह पर्दे के पीछे दम तोड़ रही थी। "भट्टिनी ने दौड़कर उसका सिर अपनी गोद में ले लिया और कुररी की भाँति कातर चीत्कार के साथ चिल्ला उठी- "हाय, भट्ट, अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया।"[1] उसने प्रेम की दो दिशाओं को एकसूत्र कर दिया। शेक्सपियर के ओथेलो की भाँति ही निपुणिका का अभिनय वास्तविक है। कथानक-शिल्प में निरन्तर विकास हुआ है। आरम्भ में भावात्मक स्थल प्रेमजन्य थे, कालान्तर में सामाजिक समस्याओं के द्वारा इसमें गरिमा का समावेश हुआ। अब ये केवल प्रेमी के उन्मत्त प्रलापमात्र नहीं हैं। प्रेमी के प्रेम का चित्रण भी गांभीर्य के साथ हुआ है तथा इसके शिल्प में भी मौलिकता है। निपुणिका अपने प्रेम को प्रकट कर सस्ती रोमांस-भावना की सृष्टि नहीं करती है। परिस्थितिवश उसके प्रेम का प्रकटीकरण होता है जो नितान्त मनोवैज्ञानिक है। अभिनय की पृष्ठभूमि में उसके बलिदान के द्वारा जिस मर्मस्पर्शी दृश्य की सृष्टि हुई है वह कथानक के शिल्पगत विकास का ही परिचायक

प्रतीकात्मक स्थल

२२- कथानक का विकास केवल मधु रेखाओं से ही नहीं हुआ करता है। प्रतीकों के आश्रय से कथानक प्रभावशाली होता है। "विमाता" (१९१५) में सर्व-प्रथम विमाता के अत्याचार से ग्रस्त रघुनन्दन की व्यथा प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त हुई है। पंडुक जब बच्चे को दाना खिलाती है तो उस दृश्य को देखकर मातृहीन

१- हजारीप्रसाद द्विवेदी: "बाणभट्ट की आत्मकथा" (१९६३), बम्बई, पंचम सं० पृ०- २०६।

रघुनन्दन विकल होकर सोचता है कि मादा पक्षी के हृदय में इतना स्नेह है परंतु मानव अपने बच्चे की चिन्ता नहीं करता।[1] यह प्रतीक अत्यन्त सरल है तथा बालक की कल्पना के उपयुक्त ही है। कालान्तर में सुन्दर प्रतीकात्मक स्थलों की उद्भावना हुई है जो सांकेतिक हैं यथा "प्रेमाश्रम" (१९१८-१९१९) में जीर्ण-शीर्ण हवेली का चित्र[2] जीर्ण-शीर्ण जमींदारी प्रथा का प्रतीक है। "रंगभूमि" (१९२५-७) में सूर की मूर्ति के नीचे राजा महेन्द्र सिंह का मरना इसका प्रतीक है कि मानवी शक्ति के समक्ष दानवी शक्ति निरन्तर पराजित होती है। सामन्तवाद के नाश का यह सजीव तथा ज्वलंत चित्र है।[3] इस प्रतीक-योजना में कलात्मकता है। इसी प्रकार "रात की दुलहन" में अमूर्त का मानवीकरण हुआ है, जो सुन्दर तथा कलात्मक है।[4] मोह की आसक्ति का चित्र अत्यधिक सशक्त तथा प्रतीकात्मक है। मल मूत्र और कफ के सड़े गड्ढे में मरणासन्न व्यक्ति सन्तुष्ट तथा प्रसन्न पड़ा हुआ है।

१- अवध नारायण : "विमाता" (१९२५) दरभंगा, प्र०सं०, पृ० सं०- ५४।

२- प्रेमचन्द : "प्रेमाश्रम" (१९५२), बनारस; पृ०सं०- ७-८।

३- "तड़ाक की आवाज़ सुनायी दी और मूर्ति धमाके के साथ भूमि पर आ गिरी; और उसी मनुष्य पर जिसने उसे तोड़ा था। वह कदाचित् दूसरा आघात करनेवाला था, इतने में मूर्ति गिर पड़ी। भाग न सका, मूर्ति के नीचे दब गया। प्रातःकाल लोगों ने देखा, तो राजा महेन्द्रसिंह थे। सारे नगर में खबर फैल गयी कि राजा साहब ने सूरदास की मूर्ति तोड़ डाली और खुद उसी के नीचे दब गए। जब तक जिए, सूरदास के साथ बैर-भाव रखा, मरने के बाद भी द्वेष करना न छोड़ा। ऐसे ईर्ष्यालु मनुष्य भी होते हैं। ईश्वर ने उसका फल भी तत्काल ही दे दिया। जब तक जिए, सूरदास से नीचे देखा; मरे भी तो उसीके नीचे दबकर। —"
— प्रेमचन्द "रंगभूमि" : इलाहाबाद; पृ०सं०- ५८७।

४- रघुवीरशरण मित्र "रात की दुलहन" (?) मेरठ, पृ०सं०- ८, १०, ३१, ३७ आदि।

वह निकलना नहीं चाहता- वह मौत का प्रतीक है[1]। इस उपन्यास के पूर्व प्रद्युम्न
क्रियात्मक प्रतीक प्राप्त होते थे। किन्तु इसमें, सूक्ष्म भावनाओं का प्रतीकात्मक
चित्र प्रस्तुत हुआ है। 'भिखारिणी' (१९२९) में कौशिक जी (१८९१-१९४५)
ने भिखारिणी शब्द का प्रतीकात्मक प्रयोग कर सौंदर्य की सृष्टि की है[2]।
रांगेय राघव (१९२३-१९६२) ने प्रतीकात्मकता को नवीन दिशा प्रदान की।
आपने प्रतीकात्मक व्यंग्यों का प्रयोग कर कलात्मक-शिल्प-सौंदर्य की अभिवृद्धि
की[3]। यथा— विलायती कुत्ता अपने अनुभवों की कथा प्रस्तुत कर रहा है —
'सुनाये स्वर्गीय पूर्वज लार्ड क्लाइव के पाँवों को कुतरा है ज़्यादा सुंघा और
कूं-कूं की, और इसकी पूंछ हिलाई कि लार्ड क्लाइव ने झुककर उनके जिस्म
पर उगे घने बालों से थपथपाना पड़ा। बड़ा दिल का काला था वह क्लाइव,
मगर उसने सचमुच प्यार किया था तो हमारे ही पूर्वज से। हमारे पूर्वज सोचते
कम थे। ज़रा क्लाइव का इशारा हुआ, दौड़ पड़े[4]।' यहाँ कुत्ता के माध्यम से
अंग्रेजों के कृपाकांक्षी भारतीयों का चित्रण हुआ है। कुत्ता एक वफादार पशु
होता है। वह शक्ति सम्पन्न भी है। परन्तु वह विवेक से एक सीमा तक ही
कार्य लेता है। इसी प्रकार से अंग्रेजों के कृपाकांक्षी शक्ति सम्पन्न भारतीय थे
जो उनके तलवे चाटकर स्नेह प्राप्त करना चाहते थे। इसी प्रकार 'पानी की
दीवार' (१९५४) में नीना राय को जो पत्र लिखती है[5] वह प्रतीकात्मक तथा
मनोवैज्ञानिक है। दिलीप को लेकर नीना के मन में जो आंधी आई है वह राय
के पत्र में एक लड़की की कहानी के रूप में प्रकट हुई है। शिल्प की दृष्टि से उन्हीं
प्रतीकात्मक स्थलों का महत्त्व है जिनमें कुछ नवीनता तथा मौलिकता है।

रघुवीर शरण मित्र: राव की दुलहन: मेरठ:
१- [illegible], पृ० सं०- ३७ ।
२- वि०न०शर्मा 'कौशिक' 'भिखारिणी' (१९५२), आगरा, द्वि०सं०, पृ०सं०- ६०, १०६-७, २३५ आदि ।
३- रांगेय राघव 'हुजूर' (१९५२), आगरा; प्र०सं०, पृ०सं०- २-३, १० आदि ।
४- वही, पृ० सं०- २-३ ।
५- रजनी पनिकर 'पानी की दीवार' (१९५४), दिल्ली; प्र०सं०, पृ०सं०- १४६, १५० ।

"मनुष्य और देवता" (१९५४) में पुरातन प्रतीक का आश्रय लिया गया है, इसलिए शिल्प की दृष्टि से इसका महत्व नगण्य है।[1]

२३- प्रतीकात्मक स्थलों के अतिरिक्त, प्रतीकात्मक स्वप्नों की योजना "निर्मला" (१९२३) तथा "गबन" (१९३०) में हुई थी जिनका कलात्मक विकास मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में हुआ है।

मौलिकता

२४- उपन्यास साहित्य में कथानक-शिल्प की मौलिकता वांछनीय है। "सेवासदन" (१९१८) का महत्व इसलिए है कि इसमें सर्वप्रथम मौलिक कथानक तथा शिल्प-विधान दृष्टिगत होता है। इसके अनन्तर उपन्यास-क्षेत्र में नवीन प्रयोग होने लगे। "सेवासदन" के अनन्तर आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कथानक की परम्परा १९३२ तक प्रमुख रूप से चलती रही। किन्तु जयशंकर प्रसाद (१८८९-१९३७) ने यथार्थवादी उपन्यास "कंकाल" (१९२९) की सृष्टि कर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया। "कंकाल" (१९२९) का कथानक सम्पूर्ण समाज के प्रति एक तीखा व्यंग्य है। इसमें अभिजात्य भावना, धर्म-भावना, विवाह-संस्था, न्याय-पद्धति आदि पर व्यंग्य किए गए हैं। इसमें वर्णसंकर पात्रों की कथा प्रस्तुत हुई है। जिन्हें हम नीचे समझते हैं वे कितने महान् हैं[2] और जो महान् हैं वे कितने दुर्बल हैं[3]—इसका चित्रण हुआ है। इसके शिल्प में भी मौलिकता है। प्रसाद ने ज्वलंत समस्याओं एवं अप्रत्याशित संयोगों के आश्रय से ही कथानक का विकास किया है। जिन समस्याओं और प्रश्नों को लेखक ने उठाया है, उनमें इतनी गंभीरता है कि उनके कारण उपन्यास में यांत्रिकता का अनुभव नहीं होता। १९२९ ही में कुछ अन्य उपन्यासकारों ने प्रकृतवादी उपन्यासों की सृष्टि की। प्रकृतवादी लेखकों

१- भगवती प्रसाद वाजपेयी: "मनुष्य और देवता", (१९५४), देहरादून; प्र०सं०, पृ०सं०- ६।

२- जयशंकर प्रसाद: "कंकाल", (१९५२), इलाहाबाद; सप्तम् संस्करण, पृ०सं० २९० ।

३- वही, पृ० सं०- ५४, १५४, १०० आदि।

ने समाज में व्याप्त अनाचार, व्यभिचार का पर्दाफाश करना चाहा परन्तु इनके कथानक में शिल्पगत विशिष्टता तथा मौलिकता का अभाव था । फलत: ऋषभचरण जैन (१९१२) कृत "वैश्यापुत्र" (१९२९), "दुराचार के अड्डे" (१९३६) आदि, बेचन शर्मा उग्र (१९००) कृत "सरकार तुम्हारी आँखों में" (१९३७), "शराबी" (१९५४) आदि, सर्वदानन्द वर्मा रचित "नरमेघ" (१९४१), "अनागत" (१९५१) आदि, द्वारिका प्रसाद कृत "घेरे के बाहर" (१९४७) आदि में अश्लील प्रसंगों तथा गर्हित दृश्यों का चित्रण अत्यधिक रस लेकर किया गया है । इनके शिल्प में वह उदात्तता नहीं है जो इनमें जीवन अनुप्राणित कर सकती । सन् १९२९ से कुछ ऐसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी लिखे जाने लगे । इनमें तथाकथित कथानक की विशेषता स्वाभाविकता तथा सुगठन का अभाव है क्योंकि इनमें सहज स्वाभाविक साधारण जीवन का सम्बद्ध चित्र प्रस्तुत नहीं हुआ है । पात्रगत गुत्थी अथवा कुंठा पर, प्रकाश डालने के लिए इसका अल्पतम प्रयोग होना है यथा "शेखर : एक जीवनी" प्र.द्.भा. क्रमश: (१९४०-४४) "त्याग पत्र" (१९३७), "सुखदा" (१९५२) आदि । मौलिक प्रयोग की दृष्टि से "गोदान" (१९३६) एक उल्लेखनीय कृति है । अपनी मौलिकता के कारण ही यह रचना तत्कालीन आलोचकों की आदर्शात्मक रुचि को सन्तुष्ट न कर सकी । किन्तु "कंकाल" (१९२९) तथा, "गोदान" (१९३६) के शिल्प में मौलिक अन्तर है । "गोदान" में आदर्श समाज का चित्र अंकित नहीं हुआ है । इसमें ग्राम-जीवन अपने समग्र परिवेश के साथ प्रस्तुत हुआ है । इसमें "कंकाल" की भाँति नग्न यथार्थता तथा व्यंग्य नहीं है । प्रसंगानुकूल स्वाभाविक दृश्यों के द्वारा ही कृषक तथा श्रमिक जीवन की सामाजिक, पारिवारिक तथा आर्थिक झाँकी प्रस्तुत हुई है, जो अद्वितीय है । "बाण भट्ट की आत्मकथा" (१९४६) सफल मौलिक ऐतिहासिक रोमांस है । "कंकाल" (१९२९) की भाँति इसके कथानक का विकास अप्रत्याशित संयोग के द्वारा हुआ है । परन्तु इसके शिल्प की विशेषता अभिनव दृश्य-योजना में निहित है जो अन्य उपन्यासों में नहीं दृष्टिगत होती । उपन्यासों में भविष्याभास स्वप्नों के द्वारा होता है या लेखक के कतिपय संकेतों के द्वारा । इसके विपरीत, इसमें वाममार्गी कौलाचार्य अपनी सिद्धि के बलपर बाण भट्ट को भविष्य-दर्शन कराते हैं[2] तथा उनके रहस्यात्मक कथन में जीवन का सार है और भविष्य के लिए आदेश भी ।

इसके कथानक-शिल्प की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इसमें एक दृश्य की झलक दिखाई पड़ती है, परन्तु उसका महत्व कालान्तर में दृष्टिगत होता है। यथा कौलाचार्य बाण भट्ट से कहलवा लेते हैं कि महावराह की अपेक्षा वह भट्टिनी की प्राण-रक्षा करेगा[1]। वे उससे कहते हैं कि "किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।" उनके इन कथनों की उपयुक्तता उस स्थल पर दृष्टिगत होती है जबकि महावराह के कारण भट्टिनी डूब रही है, अवधूत की मुद्रा और आदेश के कारण ही वह भट्टिनी के जीवन की रक्षा करता है और महावराह की मूर्ति को जल में विसर्जित कर देता है[2]। इसी प्रकार अशांत विरतिवज्र कौलाचार्य के निकट जाते हैं। वे उन्हें सौगत तन्त्र का अधिकारी न मानकर कौल-मार्ग के उपयुक्त समझते हैं[3]। विरतिवज्र और कौलाचार्य का कथोपकथन असम्बद्ध तथा अनावश्यक प्रतीत होता है। इस दृश्य का महत्व कालान्तर में स्पष्ट होता है जबकि बौद्ध संन्यासी वैष्णव होकर सुचरिता के साथ गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रहा है। भदन्त वसुभूति का शिष्य धनदत्त मिथ्या दोषारोपण कर उन्हें सपत्नीक बन्दी बनवाता है तब सुचरिता अपने जीवन की विगत गाथा सुनाती है जिससे स्पष्ट होता है कि बौद्ध सन्यासी माँ के आदेश से प्रभावित होकर गुरु से अनुमति लेकर गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट हुए तथा उन्होंने अपनी पत्नी को गुरु की अनुमति से ग्रहण किया जिसका परित्याग वे बाल्या-
-वस्था में कर चुके थे[4]। सास की मृत्यु हो जाने के कारण कोई इस सत्य का साक्षी न रहा था। विरतिवज्र और कौलाचार्य के वार्तालाप के समय उसकी

हजारीप्रसाद द्विवेदी: बाणभट्ट की आत्मकथा (1963) बम्बई

१- [illegible] पृ०सं०- ७५ ।

२- हजारी प्रसाद द्विवेदी; "बाणभट्ट की आत्मकथा", (१९६३) बम्बई; पंचम सं०, पृ० सं०- १३२-३ ।

३- वही, पृ० सं०- ७८ ।

४- हजारी प्रसाद द्विवेदी; "बाणभट्ट की आत्मकथा"; (१९६३) बम्बई, पंचम सं०, पृ० सं०- २२०-२२३ ।

(बाणभट्ट) की उपस्थिति ही इसकी साक्षी है[१]। इस मौलिक शिल्प के कारण कथानक में अद्भुत, सौन्दर्य तथा रमणीयता आ सकी है। सन् १९५० के अनन्तर उपन्यास में कथानक के विषय तथा शिल्प की दृष्टि से अभिनव प्रयोग हुए हैं। जिनमें से उल्लेखनीय हैं 'हुजूर' (१९५२), 'बाबा बटेसरनाथ' (१९५४) 'भारती का सपूत' (१९५४) 'देवकी का बेटा' (१९५४) 'लोई का ताना' (१९५४) 'यशोधरा जीत गई' (१९५४), 'मैला आंचल' (१९५४) 'नवाबी मसनंद (?), आदि।
'हुजूर' (१९५२) के कथानक-शिल्प में मौलिकता है। कुत्ते की आत्मकथा के रूप में भारत के बारह वर्षों की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का चित्रण इसमें हुआ है। अंग्रेजों के चले जाने के अनन्तर कुत्ते को स्थान-स्थान पर जाना पड़ता है, इस रूप में वह देशी रजवाड़ों, लेखक, मिनिस्टर, पादरी, रिक्शेवाले की स्थिति का यथार्थ चित्रण करता है। बाबा बटेसर नाथ के कथानक-शिल्प में लोक साहित्य का प्रभाव है। इसमें बट मानव रूप में एक व्यक्ति को अपनी कथा सुनाता है। यह कथा केवल वैयक्तिक पात्र की नहीं है प्रत्युत इसमें रूपउली ग्राम-जीवन की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थिति, अंधविश्वास का यथार्थ चित्र प्रस्तुत हुआ है। इनके अतिरिक्त, इस काल में अनेक औपन्यासिक जीवनियां प्रस्तुत हुई हैं, जिनका शिल्प भिन्न है। 'रत्ना की बात' (१९५४) में तुलसीदास, (१९५४) 'भारती का सपूत' (१९५४) में भारतेन्दु, 'लोई का ताना' (१९५४) में कबीरदास की जीवनी प्रस्तुत हुई है। हिन्दी में सर्व प्रथम विख्यात महापुरुषों का जीवन वृत्त मनोवैज्ञानिक कारणों सहित औपन्यासिक शैली में प्रस्तुत हुआ है। व्यक्ति को पारिवारिक, राजनीतिक, सामाजिक परिवेश में रखकर उसका सही मूल्यांकन करना ही इसके कथानक की विशेषता है। यथा— भारतेन्दु को ऋण लेने की आदत कैसे पड़ी ? अध्यापक रत्नदास जो लड़कों को भारतेन्दु की जीवनी सुना रहे हैं,

---

१- वही - पृ० सं०- २२४।

इस आदत पड़ने के कारण को भी स्पष्ट करते हैं।[1] इसके अतिरिक्त, वे दानी थे। पर दु:खकातर इतने थे कि वे गुप्त दान किया करते थे।[2] इस दान को विमाता ने रोकने का यत्न किया। फलत: उन्हें अन्य व्यक्तियों से ऋण लेना पड़ता था।[3] इसी प्रकार 'रत्ना की बात' (१९५४) में तुलसी का रत्ना के प्रति असीम प्रेम, रत्ना की उस प्रेम के प्रति रत्ना की उपेक्षा का मनोवैज्ञानिक कारण प्रस्तुत किया गया है।[4] प्रेमाकांक्षी तुलसी का रत्ना को अतिशय प्रेम करना मनोवैज्ञानिक है[5] क्योंकि बाल्यावस्था से वह प्रेम के लिए विकल है। परिवार और समाज से प्राप्त है उसे तिरस्कार। इन कवियों की कविताएं भी कथानक में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत हुई हैं।[6] कहीं-कहीं कवि स्वत: काव्य-गायन कर रहा है तथा कहीं-कहीं

१- "मैं आपसे यही कहना चाहता हूं कि आपने देखा! परिस्थिति इंसान को किस तरह बांधती है। हरिश्चन्द्र को कर्ज लेने की आदत क्यों कर बढ़ती गई। उन्हें अपने परिवार की इज्जत का ख्याल था। और वे अपने को लड़कपन में ही अपने पिता के स्थान पर पा रहे थे। रईसों के पीछे खुशामदी रहते थे और वे इसी तरह उन लोगों से तारीफें कर करके पैसे लिया करते थे।

—— रांगेय राघव; 'भारती का सपूत', (१९५४); आगरा, प्र०सं०, पृ०-६६।

२- वही; पृ० सं०- ८२, ८८, ९५ आदि।

३- रांगेय राघव; 'रत्ना की बात', (१९५४)आगरा, प्र०सं०, पृ०सं०-८७,९०,९१आदि

४- वही- पृ० सं०- ९०, ९२, १०४ आदि।

५- "हीनत्व की वह कचोट, अपनेपन का वह तिरस्कार जो संसार ने मुझे दिया था, वह मैं कैसे भूल सकता था रत्ना। किन्तु तू आई, तूने मुझे एक नवीन ज्योति दी। तेरे स्पर्श से मैं पर्वत के समान लहलहा उठा हूं रत्ने! तू मेरी है। तू मेरी है!"

— वही- पृ०सं०- ८७।

६- रांगेय राघव; 'रत्ना की बात', (१९५४); आगरा, प्र०सं०; पृ०सं० १४५, १४६, १४७ आदि।

वही; 'लोई का ताना', (१९५४); आगरा; प्र०सं० पृ०सं०-४१, १०५, १०६, १०७ आदि।

अन्य व्यक्ति कवि के गीत गा रहे हैं[१]। वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९) ने 'अहिल्याबाई' (१९५५) में जो औपन्यासिक जीवनी लिखने का प्रयत्न किया वह[२] शिल्प की दृष्टि से विफल रहा। तथ्यों की अधिकता, विवरणात्मकता के प्राधान्य के कारण यह जीवनी मात्र प्रतीत होती है किन्तु 'एरियल' 'लस्टफार लाइफ' आदि पाश्चात्य जीवनियों में जो औपन्यासिक सौंदर्य है उसका अभाव हिन्दी में दृष्टिगत होता है। शिल्प की दृष्टि से इनमें जीवनीतत्व अधिक है उपन्यासत्व कम। मौलिकता की दृष्टि से 'मैला आंचल' (१९५५) एक मीलस्तम्भ है। यथार्थवाद की परम्परा का यह स्वस्थ विकास है। सर्वप्रथम इसीमें ध्वनि को वाणी प्राप्त हुई है[३]। इसमें लोकगीत[४] और लोककला[५] का सार्थक प्रयोग हुआ है। इसके पूर्व भी उपन्यासों में कहीं-कहीं लोकगीतों का प्रयोग हुआ है परन्तु इतनी बहुलता से नहीं कि उनमें लोक संस्कृति का प्रतिनिधित्व हो सके। इसके शिल्प की विशेषता है कि इसमें पूर्णिया जिले के मेरीगंज नामक ग्राम की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक चेतना का सफल प्रतिनिधित्व हो सका है क्योंकि इसमें व्यक्ति विशेष की कथा प्रस्तुत न होकर ग्राम की कथा प्रस्तुत हुई है। इसका शिल्प भी छायाचित्रीय है। स्वराज्य का अर्थ समझना ग्रामवासियों के लिए कठिन है। उनकी कल्पना में स्वराज्य एक जुलूस का प्रतीक है जो डोली में

१- रांगेय राघव, 'भारती का सपूत', (१९५४), आगरा; प्र०सं० पृ०-१४९, १५१आदि
वही, 'लोई का ताना', (१९५४), आगरा, प्र०सं०, पृ०-४२, ६७, ९९ आदि।

२- वृन्दावनलाल वर्मा, 'अहिल्याबाई', (१९५५), झांसी, प्र०सं०, पृ०-१९, २३ २५-७, ६२-४, १०७ आदि।

३- फणीश्वरनाथ रेणु, 'मैला आंचल', (१९६१), दिल्ली; पा०बु०ह० द्वि०सं०, पृ०सं०- ८६-७, ९६-७, २३१, २३४, ३८६ आदि।

४- वही- पृ०- ५६, १५८, १५९, १६० आदि।

५- वही- पृ०- ९७-१०१, १०३-१०६ आदि।

बैठकर आया है[1]। ग्रामवासियों की अज्ञता का परिचय स्वराज्य के माध्यम से लेखक ने कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। राष्ट्रीय चेतना सम्पन्न नगर जब इन तथ्यों से परिचित है तो बालदेव जी झंडा लेकर हाथी के आगे नाच रहे हैं मानों वे झंडारूपी तलवार को नचा रहे हैं।[2] इसी प्रकार उन्होंने ग्रामवासियों के आमोद-प्रमोद पर भी प्रकाश डाला है। नाट्य की स्वस्थ परम्परा के अभाव में लोकगीत, लोकनृत्य समन्वित वार्तालाप के द्वारा वे अपना मनोरंजन[3] करते हैं जो अत्यधिक सरल है। इसका शिल्प भी पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न है। इसमें वार्तालाप, भाषण, चिंतन के अतिरिक्त खंडचित्रों के द्वारा कथानक का विकास हुआ है। डा० प्रशांत अपने कार्य के अनुरूप ही कैसहिस्ट्री लिखता है। इसके द्वारा समस्या पर प्रकाश की क्षीण रेखा भी पड़ी है।[4]

१- हाथी चढ़ल आवे मारथमाता

डोली में बैठल सुराज। चलु सखि देखन को।

घोड़ा चढ़िये आए वीर जमाहिर

पैदल गंधी महाराज। चलु सखी देखन को।

--फणीश्वरनाथ रेणु : 'मैला आंचल', १९६१, पा०बु०सं०, द्वि०सं०, दिल्ली, पृ० २८२

२- वही : पृ० सं० २८५

३-" मुंह पर कालिख-चूना पोत कर, फटा पुराना पाजामा पहन कर लोकायदास बिकटा बन गया है। वह जन्मजात बिकटा है। भगवान् ने उसे बिकटा ही बना के भेजा है। ऊपर का ओठ त्रिभुजाकार कटा है। सामने के दांत हमेशा निकले रहते हैं और शीतलामाई ने एक आंख ले ली है। बात गढ़ने में उस्ताद है।

'जी, होय! होय! हो नायक जी!'

'क्या है?

'जी, यह फतंग फतंग क्या बज रहे हैं?'

'जी, मृदंग बज रहा है। यह करताल है। यह झाल है।'

'सो तो समझा। यह धड़िंग धड़िंग गनपतगंगा क्या बजाते हैं?'

'नाच होगा नाच। विद्यापति नाच।'

'जी, हम समझे कि लीलामी का ढोल बोल रहा है।'

--धिन ताक धिन्ना, धिन ताक धिन्ना।

'आहे! उतरहि राज से आयेल है नटुआ कि आहे भैया" -वही : पृ०

वही : पृ० सं० १२४

२५- कथानक-विकास-शिल्प में डायरी,पत्र,यात्रा आदि का योगदान उल्लेखनीय है । डायरी रूप में[1] कथानक की प्रगति होती है यथा -`तितली`(१९३४) `मैला आंचल`(१९५५)आदि में। पत्र के द्वारा भी कथानक का विकास होता है, यथा -`कंकाल`(१९२९)`कर्मभूमि`(१९३२)`मैला आंचल`(१९५५)[2] आदि में । प्रारंभिक कथानकों में डायरी रूप का अभाव था । किन्तु (कालान्तर के उपन्यासों में) इसके द्वारा समस्या की गुरुता तथा डायरी लेखक की दृष्टि पर प्रकाश पड़ता है ।पत्रों के शिल्प में भी विकास हुआ है । ये पत्र केवल पत्र मात्र नहीं हैं इसके द्वारा विशेष घटना,पात्र विशेष की मनोभावना पर प्रकाश पड़ता है ।इसी प्रकार यात्रा के आश्रय से भी कथानक का विकास हुआ है । किन्तु ये यात्राएं निष्प्रयोजन नहीं होतीं और न इनमें किसी स्थान विशेष का वर्णन केवल वर्णन के लिए होता है जैसा कि प्रारम्भिक उपन्यासों में होता था । इसके विपरीत, ये यात्राएं सप्रयोजन होती हैं । इनके आश्रय से कथानक-क्षेत्र का विस्तार होता है । यात्राएं,कथानक के अभिन्न अंग के रूप में प्रस्तुत होती हैं, जैसे `चित्रलेखा`(१९३४)`गोदान`(१९३६)`बाणभट्ट की आत्मकथा`(१९४६)आदि में । बाणभट्ट भट्टिनी की रक्षा के लिए मगध जाता है, प्रसंगवश वह स्थाणीश्वर जाता है । इसके अतिरिक्त, कथानक का विकास व्याख्यात्मक विश्लेषणात्मक तथा वर्णनात्मक ढंग से भी लेखक प्रस्तुत करता है । परन्तु ये प्रारम्भिक उपन्यासों की भांति असस्त नहीं प्रतीत होते ।

१- जयशंकर प्रसाद: तितली: १९५१,इलाहाबाद,छ०सं०,पृ० १०९-११२
फणीश्वरनाथ रेणु: `मैलाआंचल`:१९६१,दिल्ली,पा०बु०प्र०द्वि०सं०,पृ०१२३-४

२- जयशंकरप्रसाद :कंकाल:१९५२, पृ० २८८-२९२
प्रेमचन्द: `कर्मभूमि`:१९६२,इलाहाबाद,न०सं०,पृ०१५९-१६१ , 222 आदि
फणीश्वरनाथ रेणु: `मैला आंचल`:१९६१,दिल्ली,पा०बु०प्र०, द्वि०सं०,
पृ० ६६,१३२,१९२

२६- शिल्प की दृष्टि से कथानक का विकास महत्वपूर्ण है। उपन्यासकार कथानक को मनोनीत दिशा की ओर अग्रसर करना चाहता है। इसके लिए वह विविध विधियों का उपयोग करता है। अप्रत्याशित संयोग, मृत्यु, वियोग आदि के द्वारा कथा की गति परिवर्तित की जाती है। प्रारम्भिक उपन्यासों में विधियों के अभाव में उपन्यासकार स्वतः कथा की गति परिवर्तित करता था। इसलिए उसमें अस्वाभाविकता तथा कृत्रिमता का समावेश हो जाता है।[1] प्रेमचन्द ने कृत सेवासदन (१९१८) में अप्रत्याशित संयोग के द्वारा कथानक को मनोनीति दिशा की ओर अग्रसर किया है।[2] सुमन जब गंगा में डूबने जाती है तभी साधुवेषधारी गजाधर आकर उससे क्षमायाचना करता है।[3] इससे उपन्यास के प्रवाह की गति परिवर्तित हो गई। सुमन आत्महत्या न कर सेवाश्रम में व्यस्त हो जाती है। किन्तु इनके आधिक्य से उपन्यासों का विकास कृत्रिम प्रतीत होने लगता है। 'कंकाल' (१९२९), 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) आदि के विकास में अप्रत्याशित संयोग का महत्वपूर्ण स्थान है।[4] जब उपन्यास में कुछ कथाएं स्वतंत्र विकास करने लगती हैं और उपन्यासकार उस प्रसंग को समाप्त करना चाहता है, तब वह कथानक की दिशा परिवर्तित करने के लिए प्रायः दो उपायों का अवलम्बन ग्रहण करता है- प्रथम मृत्यु और द्वितीय प्रस्थान। उदाहरणार्थ- 'प्रेमाश्रम' (१९१८-९) में पद्मशंकर और तेजशंकर सिद्धिप्राप्ति

१- श्रीनिवासदास : 'परीक्षा गुरु' : १९५८, दिल्ली, पृ० २८१-२, २८६-७ आदि।

बालकृष्ण भट्ट : 'सौ अजान एक सुजान' : १९१५, प्रयाग, द्वि० सं० : पृ० ३९, ६३ आदि

कि०ला०गो० स्वामी : 'याकूती' तरुण वा यमज सहोदरा : मथुरा, पृ० ४८-९, ६६

२- प्रेमचन्द : 'सेवासदन' : १९१८, बनारस, पृ० १४१, १८८, २५७ आदि

३- वही : पृ० २५७

४- जयशंकर प्रसाद : 'कंकाल' : १९५२, इलाहाबाद, छ० सं०, पृ० १९-२०, १३८, १९९, २३६

हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' : १९६३, बम्बई, पं० सं०, पृ० ७, ४१

१३१ आदि।

के लिए प्रयत्नशील हैं। उपन्यासकार ने इस प्रसंग की समाप्ति दोनों के विफल प्रयोग के द्वारा की है। तेजशंकर मंत्र पढ़कर पद्मशंकर को जीवित करने का प्रयत्न करता है और विफल होने पर आत्महत्या कर लेता है।[१] जब प्रेमके क्षेत्र में त्रिकोण की सृष्टि हो जाती है तो उपन्यासकार किसी पात्र के त्याग अथवा उसकी मृत्यु के द्वारा[२] कथानक को मनोनीत दिशा की ओर अग्रसर करता है। चित्रलेखा योगी कुमारगिरि की वासना की शिकार हो चुकी है। बीजगुप्त और यशोधरा का विवाह होगा-ऐसा अनुमान होने लगता है। कथानक के प्रवाह को दिशान्तरित करने का उपन्यासकार का शिल्प अभिनव है। कुमारगिरि का शिष्य विशालदेव अपने गुरुभाई श्वेतांक से मिलने जाता है। लौटकर वह सूचना देता है कि श्वेतांक यशोधरा से प्रेम करता है और उससे विवाह करना चाहता है। बीजगुप्त यशोधरा की ओर आकृष्ट अवश्य है परन्तु उसका विश्वास है कि वह यशोधरा से विवाह न करेगा। इससे चित्रलेखा को ज्ञात हो जाता है कि बीजगुप्त और यशोधरा का विवाह नहीं हुआ। फलत: वह कुमारगिरि की भर्त्सना करती है क्योंकि उसने झूठी सूचना दी कि बीजगुप्त और यशोधरा का विवाह हो गया। उसका परित्याग कर देती है।[३] बीजगुप्त से श्वेतांक कहदेता है कि वह यशोधरा से विवाह करना चाहता है।[४] फलत: बीजगुप्त आत्मविश्लेषण कर यही उचित समझता है कि यशोधरा और श्वेतांक का ही विवाह उचित है। अतएव वह अपनी समस्त सम्पत्ति का त्याग श्वेतांक के लिए करता है। इस प्रकार अन्त में उपन्यासकार ने दोनों (बीजगुप्त और चित्रलेखा) का मिलन कराया है जो आकस्मिक घटना नहीं प्रतीत होती। इसके अतिरिक्त, विभिन्न उपन्यासों में विभिन्न विधियों का प्रयोग हुआ है। 'रंगभूमि' (१९२६-७) में कारावास से विनय मुक्त नहीं हो सकता था। उपन्यासकार कथानक की गति में नवीन मोड़ उपस्थित करना चाहता था। फलत:

१- प्रेमचन्द: 'प्रेमाश्रम' १९५२, बनारस, पृ०४८४-७

२- उषादेवी मित्रा: 'वचन का मोल' १९४६, बनारस, पं०सं०, पृ०११०-१११
,, 'जीवन की मुस्कान' १९३९, बनारस, पृ०२१६-९
,, 'पिया' १९४६, बनारस, पं०सं०, पृ०१५५-६, १७१
हजारीप्रसाद द्विवेदी: 'बाणभट्ट की आत्मकथा' १९६३, बम्बई, पं०सं०, पृ०३०

३- भगवतीचरण वर्मा: 'चित्रलेखा' १९५५, बा०सं०, पृ०१७५-६

४- ,, 'पृ० १७६

उसने पंडित रूप में नायकराम को दारोगा से मिला दिया । नायकराम दारोगा के लड़के के विवाह के लिए संदेश लेकर पहुंचते हैं और कारावास में विनय से मिलकर मां की रुग्णता का संदेश देता है । नायकराम की सम्मति से दीवाल फांदकर वे कारावास से मुक्त होते हैं ।[1] `मृगनयनी` (१९५०)में नट लाखी को मांडू के सुल्तान की बेगम बनाने की योजना को लगभग कार्यान्वित कर ही चुके थे । पिल्ली लाखी को स्वप्न में सुल्तान के वैभव की ओर आकृष्ट करती है।[2] पिल्ली लाखी के शब्दों पर आश्वस्त होकर नरवर के किले से रस्सी के सहारे नीचे उतरती है, लाखी की जैसे ही बारी आती है, वह रस्सी को काट देती है ।[3] यदि पिल्ली उससे सुल्तान की बात न बताती तो संभवत: वह सब रस्सी के आश्रय से उतरती तो मांडू सुल्तान बलपूर्वक उसे बेगम बना लेता तथा उसके पति अटल की मृत्यु हो जाती । उपन्यासकारों ने सहज स्वाभाविक ढंग से कथानक की गति में परिवर्तन किया है । शिल्प की दृष्टि से इस प्रकार की विधियां वही उपयुक्त हैं जिनके द्वारा कथानक का विकास स्वाभाविक प्रतीत हो । `चित्रलेखा` (१९३४) ,`मृगनयनी` (१९५०) में उपन्यासकार मनोनीत दिशा की ओर मोड़ देने की विधि में जो स्वाभाविकता और कलात्मकता है उसका अभाव प्रारम्भिक उपन्यासों में दृष्टिगत होता है । प्रारम्भिक उपन्यासों में उपन्यासत्व का अभाव था ।

१- प्रेमचन्द : `रंगभूमि` : ( ) इलाहाबाद , पृ० ३०६

२- वृन्दावन लाल वर्मा : `मृगनयनी` १९६१, फांसी , ग्या० संस्करण ,
पृ० सं० , पृ० २४० , २८१, २८२

३- वही : पृ० २८७

कथानक-शिल्प की दुर्बलता

२७-उपन्यासकारों की असावधानी के कारण अथवा विशिष्ट उद्देश्य की स्थापना के हेतु सफल उपन्यासों में कुछ स्थानों पर शिल्पगत सौन्दर्य का अभाव दृष्टिगत होता है। फलत: उपन्यास में चित्रित जीवन विश्वसनीय तथा प्रभावशाली नहीं प्रतीत होता है।

कथानक-शिल्प में अस्वाभाविकता

२८- शिल्प की दृष्टि से उपन्यासों के कथानक में कहीं-कहीं अस्वाभाविकता दृष्टिगत होती है। आज के उपन्यासों की अपेक्षा प्रारंभिक कथानकों में स्वाभाविकता का अभाव अपेक्षाकृत अधिक है। इसका एक कारण यह भी है कि उनमें सच्चे अर्थों में कथानक का अभाव है। इनमें कथा का स्वाभाविक विकास नहीं होता, जहां लेखक जो चाहता है उसे प्रदर्शित कर देता है। उपन्यास में जिस समस्या को उठाया जाता है उसमें गांभीर्य तथा पूर्णता नहीं होती। इनमें समस्या का समाधान तात्कालिक सरलता से होता है[1]। आदर्शवाद के कारण भी उपन्यासों में अस्वाभाविकता का प्रवेश हो गया है। सामान्य नारी में इतना आत्मबल नहीं होता कि वह कामी पुरुष के अत्याचार से आत्मरक्षा कर सके। परन्तु इनमें नारी जिस प्रकार से आत्म रक्षा करती है वह हास्यास्पद ही है[2]। आदर्शवाद के कारण भी कथानक में अस्वाभाविकता दृष्टिगत होती है। 'वरदान' (१९०६) में विरजन प्रताप परस्पर प्रेम करते हैं। विरजन विवाह के अनन्तर पतिव्रता हो जाती है। कमलाचरण के नाम उसने जो पत्र भेजे हैं उनमें वह सती नारी है। विवाह से प्रेम-बंधन शिथिल नहीं हो जाता है - इस सत्य की उपेक्षा उपन्यास में हुई है। इसी प्रकार विरजन के विधवा हो जाने पर प्रतापचंद्र वासना से अभिभूत होकर चोर की तरह उसके यहां प्रवेश करता है परन्तु दरार से उसके तेजस्वी रूप को देखकर उसकी वासना समाप्त हो जाती है[3]। वासनाग्नि तेजस्वी जल से शांत

१- श्रद्धाराम फिल्लौरी: 'भाग्यवती' (१९६०) वाराणसी, न०सं०, पृ० ७५, ८७-८८, ११९-१२० आदि।
बालकृष्ण भट्ट: 'नूतन ब्रह्मचारी' (१९११) प्रयाग, द्वि०सं०, पृ०- २९-३०।
प्रेमचंद: 'प्रतिज्ञा' (१९६२) इलाहाबाद, प्र०सं०, पृ०- ११९, १३२, १३३ आदि।
वही- 'वरदान' (१९४५) बनारस, द्वि०सं०, पृ०- १२५-१२६।

२- किशोरीलाल गोस्वामी: 'तारा वा क्षत्र कुल कमलिनी', प०भा० मथुरा, (१९२४) पृ०सं०- १९, २१ आदि।
वही- 'चपला वा नव्य समाज चित्र', द्वि०भा० (१९१५) मथुरा, द्वि०सं०, पृ०- ३९-४० आदि।
प्रेमचंद: 'प्रतिज्ञा' (१९६२), इलाहाबाद, प्र०सं०, पृ०- ११९।
लज्जाराम शर्मा: 'सुशीला विधवा' (१९०७) बम्बई, प्र०सं०, पृ०-८, १०, १३४ आदि

नहीं होती । आदर्शवाद के कारण कम भी उपन्यासों में अनेक अस्वाभाविक प्रसंग तथा दृश्य प्राप्त होते हैं । हिन्दू तथा हिन्दू इतर जातियों का विवाह-सम्बन्ध समाजानुमोदित नहीं है । गुरुदत्त ने उपन्यासों में हिन्दू मुसलमानों का विवाह इतनी सरलता से करवा दिया है[1] कि उनकी स्वाभाविकता पर प्रश्नचिन्ह अंकित हो गया है । अवैध संतान को समाज में मान्यता नहीं प्राप्त होती है । 'सन्यासी' (१९४०) में अवैध संतान लल्लन को आर्य समाज के आश्रम में जो अत्यधिक स्नेह मिलता दिखाया गया[2] है वह अस्वाभाविक है ६ तथा इसके मूल में आदर्शवादी मान्यता है कि मन का बंधन ही विवाह है ।

२९- कुछ उपन्यासों में विशिष्ट उद्देश्य के कारण भी अस्वाभाविकता देखी जाती है । प्रेमचंद (१८८०-१९३६) भारतीयों के सुप्त तेज को जागृत करना चाहते थे । इसी ध्येय से प्रेरित होकर उन्होंने अपने उपन्यासों में कतिपय ऐसे प्रसंगों की उद्भावना की जो अस्वाभाविक हैं । 'कायाकल्प' (१९२६) में राजा विशालसिंह द्वारा पिट करके जिन का चक्रधर को कारावास से मुक्त कराकर अस्पताल में भिजवाना[3] तथा 'कर्मभूमि' (१९३२) में गोरों को पीटकर सलीम और डाक्टर आदि का बच जाना[4] अंग्रेजों के दमन चक्र के प्रतिकूल है । अपराधी व्यक्ति पर प्रहार कर भारतीय दंडित होता था । इस प्रकार के चित्रण से कथानक-शिल्प में अस्वाभाविकता जन्य दुर्बलता दृष्टिगत होती है ।

३०- कतिपय अन्य कारणों से भी कथानक में शिल्प सम्बन्धी दुर्बलता दृष्टिगत होती है । तिलस्मी उपन्यासों जैसी रोचकता की सृष्टि के लिए कुछ

१- गुरुदत्त: 'पथिक' (१९४५), नई दिल्ली, द्०सं०, पृ०- ४५३ ।
वही- 'स्वराज्य दान' (?), नई दिल्ली, पृ०- २९ ।

२- इलाचंद्र जोशी: 'सन्यासी' (१९५९), इलाहाबाद, छठा सं०, पृ०- ४१८, ४२०, ४२१, ४३० आदि ।

३- प्रेमचंद: 'कायाकल्प' (१९५१), बनारस, न०सं०, पृ०- १५६ ।

४- प्रेमचंद: 'कर्मभूमि' (१९६२), इलाहाबाद, न०सं०, पृ०- २८, २९, ३०

अलौकिक दृश्यों की उद्भावना हुई है जो अस्वाभाविक तथा अविश्वसनीय है। यथा:— 'प्रेमाश्रम' (१९१८-१९१९) में योग की सिद्धि के लिए राय कमलानन्द का विष को पचा जाना,[1] 'कायाकल्प' (१९२९) में जन्मान्तर तक चलने वाला विफल प्रणय व्यापार,[2] 'वैशाली की नगरवधू' (१९४९) में समुद्र द्वारा प्राप्त बड़वाश्व की कल्पना,[3] तथा 'मृगनयनी' (१९५०) में बघेरा-प्रसंग[4] आदि रोमांस प्रवृत्ति के सूचक हैं। इनके अतिरिक्त, शिल्प सम्बन्धी असावधानी के कारण भी उपन्यासों में अस्वाभाविक दृश्यों, घटनाओं तथा प्रसंगों का समावेश हो गया है।[5] इसके अतिरिक्त, उपन्यासों में शिल्प सम्बन्धी सावधानी के बावजूद भी कुछ स्थलों पर असंगति दृष्टिगत होती है। अहिंसा व्रत-धारियों का पिस्तौल रखना[6]

१- प्रेमचंद-, 'प्रेमाश्रम', (१९५२), बनारस: पृ०- ३५६, ३५७, ३५९ ।

२- वही-, 'कायाकल्प', (१९५३); बनारस: नवां सं०, पृ०-५८-५९, ६७-७०, २५४-२५५, ३५६-३५८ आदि ।

३- चतुरसेन शास्त्री ; 'वैशाली की नगरवधू', (उत्तरार्द्ध, १९५५), लखनऊ: प्र०सं० पृ०- ६७-६८, १३६, १३७ आदि ।

४- वृन्दावनलाल वर्मा ; 'मृगनयनी', (१९६२) झांसी: ग्यारहवां सं०, पृ०- ७५-८०, ४३७ आदि ।

५- प्रतापनारायण श्रीवास्तव ; 'विदा' ; (१९५७), लखनऊ: नवमावृत्ति, पृ०- ४००-४०१, ४१४-४१५ आदि ।

प्रेमचंद ; 'कायाकल्प' ; (१९५३); बनारस: नवां सं०; पृ०- १५६-१५७, १६१, २३६ आदि

राधिकारमण प्रसाद सिंह ; 'राम रहीम'; इलाहाबाद : प्र०सं०; पृ०- ३६८-९, ४७८, ५०३, ५०४ आदि ।

गुरुदत्त ; 'उन्मुक्त प्रेम'. नई दिल्ली : प्र०सं०, पृ०- ३८५-८, ३९० आदि ।

देवराज उपाध्याय ; 'पथ की खोज'; स्वप्न और जागरण' ; (१९५१) उ०प्र० ; प्र०सं०; पृ०- ४१० ।

इलाचंद्र जोशी ; 'जहाज का पंछी' ; (१९५५); बम्बई; प्र०सं०; पृ०- ३२१, ३५५ आदि ।

६- प्रेमचंद 'रंगभूमि' ; इलाहाबाद, पृ०- ५०२, ५१० ।

असंगत प्रतीत होता है। इस प्रकार की असंगति[1] अनेक उपन्यास में दृष्टिगत होती है जिनका कोई तर्कसम्मत कारण नहीं है। इससे कथानक सौष्ठव पर आघात हुआ है। स्मृति सम्बन्धी असावधानी के कारण भी उपन्यासों में अन्तर्विरोध अन्य असंगति[2] दृष्टिगत होती है। यथा—'सुनीता' (१९३५) में श्रीकान्त तथा सुनीता हरीप्रसन्न के लिए पूरी बनाने का निश्चय कर लेते हैं[3] किन्तु जब हरिप्रसन्न[4] को भोजन कराया जाता है तब वह तवा चढ़ा कर रोटी सेंकने लगती है। जैनेन्द्र पूरी और रोटी का अन्तर इस स्थल पर भूल गए।

असम्बद्धता तथा असंतुलन

३१- सन् १९१८ के पूर्व कथानक शिल्प के अभाव के कारण प्रारंभिक उपन्यासों में असम्बद्धता दृष्टिगत होती है। किन्तु कालान्तर में भी कुछ उपन्यासों के कुछ स्थलों में असम्बद्धता तथा असन्तुलन दृष्टिगत होता है। इसका एक कारण यह है भी है कि उपन्यासकार विशद चित्र प्रस्तुत करना चाहता है। फलत: उपकथाओं के प्राधान्य के कारण मुख्य संवेदना बिखर जाती है तथा अवांछनीय प्रसंग अनावश्यक महत्व प्राप्त कर लेते हैं। उपकथानक, कथानक तथा प्रासंगिक कथाओं में दृढ़ सम्बन्ध सूत्र का अभाव हो जाता है। इस प्रकार की असम्बद्धता 'रामरहीम' (१९३७) 'वैशाली की नगरवधू' (१९४९) 'त्रिवेणी' (१९५०) 'आचार्य चाणक्य' (१९५४) 'मनुष्य और देवता' (१९५४) आदि में

१- प्रेमचंद; 'गबन'; इलाहाबाद: पृ०सं०- ४८, १२६ आदि।
यशपाल; 'देशद्रोही', (१९४३) लखनऊ: प्र०सं०, पृ०- २५४, २५९, २६० आदि
नागार्जुन; 'रतिनाथ की चाची', (१९४८) इलाहाबाद: प्र०सं०, पृ०-१०१, १६७।
वृन्दावनलाल वर्मा; 'कचनार' (१९४८) इलाहाबाद: स०सं०, पृ०- २०, १५७।
चतुरसेन शास्त्री; 'वैशाली की नगरवधू' (१९४९) पूर्वार्द्ध: दिल्ली, पृ०- ४७१।
वही- वही उत्तरार्द्ध: लखनऊ: पृ०-२९०, २९६।
रांगेय राघव; 'अंधेरे के जुगनू' (१९५३) इलाहाबाद: प्र०सं०, पृ०- १३०-१३३।
२- प्रेमचन्द; 'कर्मभूमि'; (१९६२) इलाहाबाद: च०सं०, पृ०- ३८, ४१।
वही; 'गोदान'; (१९५९) बनारस: नवां सं०, पृ०- ७७, ८८, २५४, ३६४, ३६५।
३- जैनेन्द्र; 'सुनीता' (१९६३), दिल्ली: पा०बु०डि०सं०, पृ०- ३९
४- वही पृ०- ३५, ४३।

प्राप्त होती है । 'राम रहीम' (१९३७) में बिजली और बेला की दोनों कथाएं स्वतंत्र प्रतीत होती हैं, उनमें दृढ़ सम्बन्ध सूत्र का अभाव है । इसी प्रकार 'वैशाली की नगरवधू' (१९४९) में अम्बपाली की कथा दब जाती है तथा अनेक उपकथाओं एवं प्रासंगिक कथाओं के कारण उपन्यास में विशृंखलताजन्य असम्बद्धता आ गयी है । यूं 'गोदान' (१९३६) तथा 'मृगनयनी' (१९५०) में ऐसे कुछ दृश्यों की अवतारणा की गयी है जो कथानक में गुम्फित नहीं है यथा मार्ग में वर्णित नारी-पुरुष विग्रह[1] तथा डाकुओं की कचहरी[2] मिर्जा खुर्शेद प्रसंग[3] आदि । 'मृगनयनी' (१९५०) में गयासुद्दीन की कथा का मुख्य कथानक से सम्बन्ध कठिनता से जोड़ा जा सकता है क्योंकि वह मृगनयनी को प्राप्त करना चाहता है । किन्तु उसका पुत्र नसीरुद्दीन की कथा का सम्बन्ध मुख्य कथानक से रंचमात्र भी नहीं है । इसी प्रकार लखैरा प्रसंग है । लखैरा की कथा के द्वारा मनोरंजन अवश्य होता है । परन्तु ये स्थल अनावश्यक हैं सम्बद्धता की दृष्टि से ।

३२- कुछ ऐसे स्थलों की उद्भावना उपन्यासों में की जाती है जो कथानक-शिल्प की दृष्टि से अनगढ़ हैं । प्रारंभिक उपन्यासकार विषय संकोच से सर्वथा अपरिचित हैं । जिन विषयों की चर्चा उपन्यासों में नहीं होनी चाहिए- उनका विस्तृत उल्लेख होता था । उपन्यासों में उपन्यासत्व[4] का अभाव था । उपन्यासों में लम्बी-लम्बी कविताओं, दोहे, श्लोक, शेरादि का चित्रण होता था जो

१- प्रेमचंद: 'गोदान' (१९४६), बनारस: दसवां सं०, पृ०- १८२-६ ।

२- वही , पृ०- १९०-१, १९३, १९५-६ आदि ।

३- वही , पृ०- ८२, १२४-१२५ (१३५)

४- श्रद्धाराम फिल्लौरी: 'भाग्यवती' (१९६०) वाराणसी, प्र०सं०, पृ०- ५८, ६०, ८४ आदि ।
श्रीनिवासदास: 'परीक्षा गुरु' (१९५८) दिल्ली: प्र०सं०, पृ०- ५२-६१, ८८-९५ आदि ।
बालकृष्ण भट्ट: 'सौ अजान और एक सुजान' (१९६५) प्रयाग: द्वि०सं०, पृ०- १, ३, ४, ६ आदि ।
किशो०ला०गोस्वामी: 'चपला वा नव्यसमाज चित्र', द्वि०भा० (१९१५) मथुरा: द्वि०सं० पृ०- १, २, ४०, ४१, ७०, ७१ आदि ।
वही- 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी', मथुरा, पृ०- १, २, ६ आदि ।

शिल्प की दृष्टि से अनपेक्षित है। उपन्यासकार जो वर्णन करता है उसमें वह पाठक की कल्पना के लिए कुछ नहीं त्यागता[1]। इसलिए उसका वर्णन बहु-विकार तथा नीरस होता है। किन्तु आज कथानक शिल्प का विकास हो गया है। फिर भी कुछ उपन्यासों में छोटी-छोटी बात का ब्यौरा देने की प्रवृत्ति, कुछ दृश्यों के प्रति अनावश्यक मोह, विशिष्ट उद्देश्य के कारण कुछ ऐसे प्रसंग, दृश्यों की सृष्टि हो जाती है जो कथानक-शिल्प की दृष्टि से व्यर्थ है[2]। कथा-गठन की त्रुटि के कारण उपन्यासों में ऐसा भी देखा जाता है कि जिस घटना से पाठक परिचित हो

१- 'यह देखकर पहिले तो सौदामिनी भिझककर पीछे हट गई- फिर वह बटुक को कोठरी में ढकेल दर्वाजा खोलकर भागी। बड़ी तेजी से वह नीचे चौक में पहुँची और बिना चादर के ही अपना बदन समेट अपने घर की ओर भागी। जाती बार वह सदर दर्वाजे की कुंडी बाहर से लगाती गयी थी जिसमें बटुक घर के बाहर न निकलने पावे। और बिना चादर वह इसलिए अपने घर भागी थी कि उसकी चादर ऊपर कोठरी ही में रह गयी थी।'

— किशोरीलाल गोस्वामी : 'चपला व नव्य समाज चित्र', दू०भा० (१९१६) मथुरा, द्वि०सं०, पृ०-४० ।

२- प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' ; लखनऊ : तृतीयावृत्ति, पृ०-२८३-५, २६५-७, ३४२ आदि ।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'भिखारिणी' (१९५२) आगरा : तृ०सं०, पृ०- ९७, ९३-६, ९८, ११५-६, १२५ आदि ।

भगवतीप्रसाद बाजपेई : 'पतिता की साधना' ; इलाहाबाद : पृ०- ७६, १८२-६, १८९-१९० आदि ।

यशपाल : 'देशद्रोही' (१९४३) लखनऊ : प्र०सं०, पृ०- ५५-५७ ।

वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' (१९६१) झाँसी, न०सं०, पृ०- १२५-१३०, १७१-२ आदि ।

नागार्जुन : 'रतिनाथ की चाची' (१९४८) इलाहाबाद ; प्र०सं०, पृ०-५५-७, ६२, ६५।

यशपाल 'मनुष्य के रूप' (१९५२) लखनऊ : द्वि०सं०, पृ०- २७४-७, २७८, २८९ ।

नागार्जुन : 'बलचनमा' (१९५२) इलाहाबाद : प्र०सं०, पृ०-४२-५२, ५६, ७२-३, १७६ आदि।

भगवतीप्रसाद बाजपेयी : 'पतवार' ; दिल्ली : पृ०- ५८-६७, ६८-८१, ३०८-६ आदि

इलाचंद्र जोशी : 'जहाज का पंछी' (१९५५), बम्बई, प्र० सं०, पृ०सं०- ३३५-३४३, ५२३-५३३ आदि ।

जाता है, उसका उल्लेख अन्यत्र भी हुआ करता है[1]। इस प्रकार की पुनरावृत्ति शिल्प की दृष्टि से कथानक की दुर्बलता ही है। असम्बद्ध तथा अनावश्यक दृश्य या प्रसंगों के चित्रण से कथानक के वांछित प्रभाव का ह्रास होता है तथा उपन्यास में शिथिलता आ जाती है।

यांत्रिकता

३३- प्रारंभिक उपन्यासों के कथानक-शिल्प में यांत्रिकता है क्योंकि उपन्यासकार ही विच्छिन्न कथा-श्रृंखला को जोड़ने का प्रयास करता है। शिक्षा देने के लिए ही वह कतिपय यांत्रिक प्रसंगों की उद्भावना करता है। 'परीक्षा गुरु' (१८८२) 'तारा वा क्षत्र-कुल-कमलनी' (१९०२) 'याकूती तख्ती वा यमज सहोदरा' (१९०६) 'हिन्दू गृहस्थ' (१९०५) 'आदर्श हिन्दू' (१९१४) आदि के कथानक में स्वत: प्रवर्तित प्रवाह अथवा गति नहीं है। कालान्तर में भी आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण उपन्यासों के कुछ स्थलों पर यांत्रिकता दृष्टिगत होती है[2]।

१- प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (१९५७) लखनऊ: नवम सं०, पृ०- १०१, १०५, १९५, २३४-५, २४२ आदि।
विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक: 'मां' (१९३४) लखनऊ: द्वि०सं०, पृ०सं०-३८६-८[3], ३८९, ३९०, ३९३, ३९५ आदि।
भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'पतिता की साधना' : इलाहाबाद : (?) पृ०- ७४-५, ११०-१, १९२-३ आदि।
यशपाल 'देशद्रोही' (१९४३) ~~लखनऊ~~: प्र०सं०, पृ०- ५३, ६७, ९५, ९९, १०३ आदि।
मन्मथनाथ गुप्त : 'दुश्चरित्र' (१९४९) नई दिल्ली; प्र०सं०, पृ०-८४, ८८-९० आदि।
२- प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (१९५७) लखनऊ : नवमावृत्ति, पृ०-३४५-६।
वि०ना०श०कौशिक : 'भिखारिणी' (१९५२) आगरा: तृ०सं०, पृ०- ४०।
~~प्रेमचंद 'कर्मभूमि' : इलाहाबाद, पृ०- २८५, ३९७-८ आदि।~~
उषादेवी मित्रा : 'वचन का मोल' (१९४६) बनारस: पं०सं०, पृ०- ११०-१।
वृन्दावनलाल वर्मा : 'मृगनयनी' (१९६२) झांसी: ग्यारहवां सं०, पृ०- ४४६-८, ४८६-८ आदि।

प्रेम-चित्रण अत्यधिक यांत्रिक तथा गतिहीन हुआ है । यथा—`वचन का मोल` (१६३६) की कजरी जीवन पर्यन्त विनय की मूक आराधना करती है । जब विनय एक दिन उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है तब उसका क्षणिक के लिए विचलित न होना[1] कथानक की यांत्रिकता का ही द्योतक है । प्रेमसाधना जब सफल प्रतीत हुई तब कर्तव्य ~~नहीं~~ के कारण ही वह एक क्षण के लिए भी हृदय की प्रसन्नता को व्यक्त नहीं करती है । उसका विनय से प्रश्न उसकी कर्तव्यपरायणता का बोधक अवश्य है परन्तु इसका भी प्रमाण है कि उपन्यासकार ने हृदय पक्ष की उपेक्षा की दी है । विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण भी कथानक यांत्रिक हो गया है । साम्यवाद के श्रेष्ठत्व सिद्ध करने के हेतु भी कुछ उपन्यासों के कथानकों में यांत्रिक स्थल दृष्टिगत होते हैं[2] । इसके अतिरिक्त, अनेक उपन्यासों के कथानकों का निर्माण आकस्मिक संयोग से होता है, इससे भी उपन्यास की सहज स्वाभाविक गति में व्याघात हुआ है । `गोदान` (१६३६) से पूर्व प्रेमचंद के समस्त उपन्यास इस दोष से परिपूर्ण हैं । `सेवासदन` (१६१८) में सुमन जब डूबने जाती है, साधु उपस्थित होकर रोकता है[3] एवं कृष्णचन्द्र की मृत्यु के पूर्व भी वह सुमन की विवशताजन्य परिस्थिति पर प्रकाश डालता है[4] ।`प्रेमाश्रम`(१६१८-१६) तथा `कर्मभूमि` (१६३२):क्रमश: में ज्ञानशंकर और गायत्री तथा अमर और सकीना जैसे ही आलिंगनबद्ध होते हैं विद्या तथा पठानिन उपस्थित हो जाती है[5] । इलाचंद्र जोशी (१६०२) के

१- उषादेवी मित्रा: `वचन का मोल` (१६४६)बनारस,पं०सं०, पृ०-११०-१ ।

२- यशपाल :`पार्टी कामरेड` (१६४७)लखनऊ:द्वि०सं०,पृ०-६२-३, ७६, ८२-३, ६६-१००, ११२ आदि ।
यशपाल :`मनुष्य के रूप` (१६५२)लखनऊ:द्वि०सं०, पृ०- १४७, २४५-८ ।

३- प्रेमचन्द :`सेवासदन`, बनारस: पृ०सं०- २५७ ।

४- प्रेमचन्द :`सेवासदन`, बनारस: पृ०सं०- २३२ ।

५- ,, :`प्रेमाश्रम` (१६५२)बनारस: पृ०- ४०८ ।
,, :`कर्मभूमि` (१६६२)बनारस: च०सं०, पृ०सं०- ३२६ ।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के कथानक में स्वाभाविकता की अपेक्षा यांत्रिकता अधिक दृष्टिगत होती है[1]। इसका कारण यह है कि जोशी जी ने मनोवैज्ञानिक समस्याओं को उठाया है जबकि उनकी शैली मनोवैज्ञानिक नहीं है। आपने उपन्यासों में उन प्रसंगों को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया जिनके आश्रय से मनोविश्लेषण हो सके। "जहाज का पंछी" (१९५५) को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसके कथानक के गठन में लेखक ने स्वच्छन्दता का प्रयोग किया है। जब विशिष्ट स्थल सम्बन्धी 'मैं' के अनुभव समाप्त हो जाते हैं तभी कुछ ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि उसे उस स्थान का परित्याग करना पड़ता है। अस्पताल, हवालात, पहलवान, प्यारे धोबी, मिस साइमन आदि किसी के स्थान पर भी 'मैं' रुक नहीं पाता। किन्तु मनोविश्लेषण तथा समस्या की नवीनता के कारण ही यह यांत्रिकता प्रारम्भिक उपन्यासों से भिन्न प्रतीत होती है। यह नीरस तथा अरुचिकर नहीं प्रतीत होती।

अश्लील चित्रण

३४- यथार्थवाद के प्रति दृढ़ आग्रह के कारण उपन्यासों में अनेक स्थलों पर सुरुचि विरुद्ध प्रसंग दृष्टिगत होते हैं[2] जिनसे कथानक-सौंदर्य पर आघात होता है।

१- इलाचंद्र जोशी : "लज्जा" (१९४७) इलाहाबाद: द्वि०सं०, पृ०- ५२, ८६, १२३ आदि
वही : "संन्यासी" (१९५६) इलाहाबाद: छठवां सं०, पृ०- ९८, ४३१-२।
वही : "जहाज का पंछी" (१९५५) बम्बई: प्र०सं०, पृ०- २८६, ३५६ आदि।

२- भगवतीप्रसाद बाजपेयी : "पतिता की साधना" (१९४६) इलाहाबाद : च०सं०, पृ०- १३५-६।
यशपाल : "दादा कामरेड" (१९४८) लखनऊ : तृ०सं०, पृ०-१३८-९, ४४-६ आदि।
वही- "देशद्रोही" (१९४३) लखनऊ : पृ०सं०- ३२६।
नागार्जुन : "रतिनाथ की चाची" (१९४८) इलाहाबाद : प्र०सं०, पृ०- ५०, १५२, १५३, १६३ आदि।
अमृतलाल नागर : "महाकाल" (१९४७) इलाहाबाद : प्र०सं०, पृ०-२१८-९

`महाकाल` (१९४७) में दुर्भिक्ष का यथातथ्य चित्र अंकित करने के प्रयास में वीभत्स चित्र प्रस्तुत हो गया है।[1] इससे कथानक के वास्तविक सौंदर्य पर आघात हुआ है।

अन्त

३५- कथानक-शिल्प का अन्त अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि यह चित्र के अंतिम स्पर्श की भांति है जो उसे पूर्णता प्रदान करता है। अन्तिम परिणति के लिए ही सम्पूर्ण उपन्यास की रचना होती है। परन्तु कतिपय उपन्यासों का अन्त ही शिल्प की दृष्टि से उल्लेखनीय है। प्रारम्भिक उपन्यासों के अन्त में समस्या-समाधान होता था यथा— (श्रीनिवासदास:१८५१-१८८६) `परीक्षा गुरु` (१८८२), (बालकृष्ण भट्ट :१८४४-१९१४) `नूतन ब्रह्मचारी` (१८८८),(अमृतलाल चक्रवर्ती)`सती सुखदेई` (१९०८), (किशोरीलाल गोस्वामी: १८६५-१९३२) `मल्लिकादेवी वा बंग सरोजिनी` आदि। परन्तु इनका अंत प्रभावहीन नीरस तथा यांत्रिक था। आज भी उपन्यासों का अन्त, समाधान मृत्यु, हृदय, परिवर्तन मधुर-मिलन, विवाहादि से होता है। परन्तु शिल्प की दृष्टि से वे ही उपन्यास उल्लेखनीय हैं जिनका अन्त चरमसीमा पर हुआ है तथा जो प्रभावशाली एवं मार्मिक हैं। प्रेमचंद (१८८०-१९३६) कृत `गोदान`(१९३६), उषादेवी मित्रा कृत `वचन का मोल`(१९३६); वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९) कृत `विराटा की पद्मिनी` (१९३६),`झांसी की रानी लक्ष्मीबाई`(१९४६),`अचल मेरा कोई` (१९४८)तथा यशपाल कृत (१९०३) कृत`दिव्या` (१९४५) आदि उपन्यासों का अन्त ऐसा ही है। `गोदान` (१९३६) के द्वारा ही सर्वप्रथम नव-अन्त का प्रारम्भ हुआ। शोषण प्रणाली का दुष्परिणाम स्वत: ही प्रकाशित हो जाता है। यह प्रेमचंद (१८८०-१९३६) का प्रथम उपन्यास है जिसका अन्त पूर्ववर्ती उपन्यास-परम्परा से भिन्न है। इसमें किसी आदर्श रामराज्य की कल्पना नहीं हुई प्रत्युत लेखक का

१- अमृतलाल नागर:`महाकाल` [१९४७] इलाहाबाद : प्र० सं० पृ०सं०- ११३, १७०, १७३, १७५, १९०, २०० ।

शिल्प इस दृष्टि से सराहनीय है कि सर्वप्रथम जीवन की विभीषिका अपने समग्र परिवेश के साथ चित्रित हुई है । डा० इन्द्रनाथ मादान ने "गोदान" (१९३६) को वस्तु कौशल की दृष्टि से नवीन प्रयोग नहीं स्वीकार किया[1] है । किन्तु वस्तुतः इसका शिल्प अभिनव है । "कंकाल" (१९२९) के अन्त-शिल्प का ही यह कलात्मक विकास है । वहाँ धनाढ्य होते हुए भी निर्धन भिखारी विजय का शव सड़क पर पड़ा है जो अन्ध मान्यताओं से ग्रस्त हिन्दू समाज के प्रति तीखा व्यंग्य है । इसी भांति "गोदान" (१९३६) में अथक परिश्रम का होरी मृत्यु का ग्रास हो जाता है । गऊ की सामान्य इच्छा जीवन में पूर्ण नहीं होती परन्तु मृत्यु के समय शेष रह जाते हैं बीस आने पैसे[2] । यह अन्त प्रभावपूर्ण, करुण तथा मार्मिक है । यह शोषण पद्धति तथा रूढ़ियों से ग्रस्त भारतीय समाज के प्रति तीखा तथा कलात्मक व्यंग्य है । "कंकाल" (१९२९) का व्यंग्य सहानुभूति आकृष्ट करने में असमर्थ है, इसलिए वह प्रभावहीन है । वह बौद्धिक है । इसके विपरीत यह संवेदनात्मक है । होरी की मृत्यु मानवता को चुनौती है । इसके अतिरिक्त, "गोदान" (१९३६)[3] के अन्त के कारण ही इसके श्रेष्ठत्व को तत्कालीन समालोचक स्वीकार नहीं कर सके — यह इसके नवीन शिल्प का द्योतक है ।

१- इन्द्रनाथ मादान : "प्रेमचंद एक विवेचना", दिल्ली : प्र०सं०- १२८ ।

२- "धनिया यंत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची गई थी उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठंडे हाथ में रख कर सामने खड़े दातादीन से बोली- "महाराज घर में न गाय है न बछिया, न पैसा । यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है ।" और पछाड़ खाकर गिर पड़ी ।

— प्रेमचंद "गोदान" (१९४९) बनारस : दसवां सं०, पृ०- ४९१ ।

३- दे० प्रेमचन्द स्मृति अंक "हंस" (मई १९३७) पृ०- ८०१, ८२२, ८२३ । गंगाप्रसाद पाण्डेय "आधुनिक कथा-साहित्य" (१९५४) इलाहाबाद । प्र०सं०, पृ०- ९० ।

इसी भाँति "विराटा की पद्मिनी" (१९३६) का अन्त नाटकीय, प्रभावपूर्ण तथा प्रतीकात्मक है। गीत समाप्त हो जाए परन्तु तान मन में गूंजती रहे - ऐसा अन्त विरल है। चरित्र की उदात्तता चारित्रिक दृढ़ता, जन विश्वास और लोक गति की सफल सार्थकता इसमें दृष्टिगत होती है।[1] यदि कुमुद के बलिदान पर ही उपन्यास समाप्त हो जाता तो यह प्रभाव की दृष्टि से अद्वितीय होता किन्तु अली-मर्दान और देवीसिंह की सन्धि, गोमती की मृत्यु, देवीसिंह के कुमुद के प्रति श्रद्धा-भाव के प्रकाशन से उपन्यास समाप्त होता है।[2]

१- अलीमर्दान और कुमुद के बीच में अभी कई डगों का अन्तर था। देवीसिंह उसी ओर लपका।
कुमुद शांत गति से ढालू चट्टान के छोर पर पहुँच गई।
अपने विशाल नेत्रों की पलकों को उसने ऊपर की ओर उठाया।
उंगली में पहनी हुई अंगूठी पर किरणें फिसल पड़ीं।
दोनों हाथ जोड़ कर उसने धीमे स्वर में गाया —

'मलिनियाँ, फुलवा ल्याओ नन्दन वन के।
बीन-बीन फुलवा, लगाई बड़ी रास,
उड़ गए फुलवा, रह गई बास।

इधर तान समाप्त हुई, इधर उस अथाह जल-राशि में पैजनी का 'छम्म' से शब्द हुआ। धार ने अपने वक्ष को खोल दिया और तान समेत उस कोमल कंठ को सावधानी से अपने कोश में रख लिया।

— वृन्दावनलाल वर्मा "विराटा की पद्मिनी" [१९५७] लखनऊ : सातवीं बार, पृ०सं०- ४७० ।

२- वही - पृ०सं०- ४७१-४ ।

यदि यह उपसंहारात्मक अंश न होता तो यह अन्त अनूठा रहता । संभवतः वृन्दावनलाल वर्मा ने इस त्रुटि को समझा था । इसका परिहार 'झांसी की रानी-लक्ष्मीबाई' :१९४६: में हुआ है । रानी की चिता जल चुकी है गुलमुहम्मद फकीर बन कर चिता के पास बैठा है । गुल मुहम्मद ने चिता के स्थान पर चबूतरा बना दिया है । उसने पुष्प भी चढ़ा दिए हैं । गीले चबूतरे को देख कर अंग्रेजी सेना के अगुआ का गुलमुहम्मद से मजार के विषय में प्रश्न करना और उसका उत्तर यह, उसके पीर का है जो अत्यधिक प्रतापशाली था[1] । उसके कथन में जो गंभीर व्यंजना है,वह अन्यत्र दुर्लभ है । स्वतंत्रता युद्ध की सेनानी लक्ष्मीबाई की चिता वस्तुतः पीर की चिता से अधिक महत्वपूर्ण है । गुलमुहम्मद इस कथन के द्वारा अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर देता है तथा अंग्रेज सैनिकों को आश्वस्त भी । इसी प्रकार का सांकेतिक अन्त 'अचल मेरा कोई' :१९४८: का है जहां सुधाकर के वचन से क्षुब्ध होकर कुन्ती आत्महत्या कर लेती है । सुधाकर को एक कागज प्राप्त होता है जिस पर लिखा है -' अचल मेरा कोई[2] ---- । उपन्यासकार ने निश्चित सम्मति प्रकट न कर कुतूहल की वृद्धि की है तथा हाथ के कम्पन के कारण बिगड़ी हुई लकीर उसके अचल के प्रति प्रेम की द्योतक है । शिल्प की दृष्टि से इस प्रकार का सांकेतिक तथा कलात्मक अन्त आकर्षक होता है।

१-' चबूतरा अभी स्खा न था । उस दल के अगुआ का कुतूहल जागा । गुलमुहम्मद से उसने पूछा- 'यह किसका मजार है साईं साहब !'
गुलमुहम्मद ने उत्तर दिया- 'हमारे पीर का ।'
' बौत बड़ा वली था'

—वृन्दावनलाल वर्मा :'झांसी की रानी- लक्ष्मीबाई': १९६१, नवम सं०, पृ० ४९७

२- वही :'अचल मेरा कोई' : १९४८, झांसी, प्र० सं०, पृ० २८२

३६- कुछ उपन्यासों का अन्त इस दृष्टि से भिन्न है कि इसमें आनन्द की लहरों में व्यथा का मीठा नाद ध्वनित हो रहा है । प्रेमचन्द(१८८०-१९३६) का`ग़बन`(१९३०)सियारामशरण गुप्त का`नारी`,राधिकारमण प्रसाद सिंह कृत`राम-रहीम`,अनन्तगोपाल शेवड़े कृत`निशागीत` आदि का अन्त इसी प्रकार का है । शिल्प की दृष्टि से कतिपय उपन्यासों का अन्त इस दृष्टि से भिन्न होता है कि वह आदि से सम्बद्ध होता है यथा-भगवतीचरण वर्मा का`चित्रलेखा`,जैनेन्द्रकुमार कृत`कल्याणी`,हजारी-प्रसाद द्विवेदी कृत`बाणभट्ट की आत्म कथा` आदि ।

निष्कर्ष

३७- आज हिन्दी में विविध प्रकार के उपन्यास उपलब्ध होते हैं । उपन्यास के क्षेत्र में प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्रित-- तीनों ही प्रकार के कथानक दृष्टिगत हो रहे हैं ।वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९)कृत`झांसी की रानी`:लक्ष्मीबाई`,`मृगनयनी` आदि के कथानक प्रख्यात घटनाओं पर आधारित है । ऐतिहासिक कल्पना के कारण ही ये रचनाएं सजीव हो रही हैं । अधिकतर उपन्यासों का कथानक कल्पनाजन्य होता है । भगवतीचरण वर्मा का`चित्रलेखा` प्रेमचन्द का `गोदान`,फणीश्वरनाथ रेणु का`मैला आंचल` आदि का कथानक कल्पना प्रसूत (उत्पाद्य) है । कुछ उपन्यासों के ~~कथानक के~~ कथानक मिश्रित हैं जिनके निर्माण में इतिहास तथा कल्पना का योगदान है । इस प्रकार के सफल उपन्यास कम लिखे गए हैं । हजारीप्रसाद द्विवेदी का`बाणभट्ट की आत्म-कथा` इसका सुन्दर उदाहरण है । आज इन तीनों ही प्रकार के उपन्यासों में शिल्पगत प्रयोग हो रहे हैं ।

३८-`परीक्षा गुरु` के द्वारा उपन्यास की परम्परा का श्रीगणेश हुआ ।इनके कथानक में सर्वप्रथम व्यावहारिक यथार्थ दृष्टिगत होता है यद्यपि इसमें शिल्पगत सौन्दर्य नहीं है । यह सूक्तियों का संग्रह प्रतीत

होता है । कुछ समय के पश्चात् साहित्य के विविध रूपों, निबन्ध, डायरी, हैसहिस्ट्री आत्मकथा, जीवनी, कहानी, गद्यकाव्य, काव्य, लोकगीत, लोककथा आदि के उपकरणों से उसने अपनी शक्ति-अभिवृद्धि की है । वृन्दावनलाल वर्मा :१८८६: का 'विराटा की पद्मिनी' :१९३६: अज्ञेय :१९११: का 'शेखर-एक जीवनी' :१९४०: जैनेन्द्रकुमार :१९०५: का 'सुखदा' :१९५२: रजनी पनिकर : ? : का 'पानी की दीवार' :१९५४: फणीश्वरनाथ रेणु :१९२१: कृत 'मैला आंचल' :१९५४: आदि के कथानकों में साहित्य के विविध रूपों की कलात्मक अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है । एक प्रश्न उठता है कि कथानक शिल्प क्या मौलिक है ? प्राय: यह देखा जाता है कि आलोचक प्रवर हिन्दी के कथानकों की मौलिकता पर प्रश्नचिह्न अंकित कर देते हैं । एक बार टैनिसन ने कहा भी था कि उसकी कविताओं पर उन कवियों का प्रभाव अंकित बताया जाता है जिन्हें उसने पढ़ा भी नहीं है । प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: के उपन्यासों के सम्बन्ध में भी जब कुछ इस प्रकार के विचार प्रकट किए जा रहे थे कि उन पर थैकरे गोर्की आदि का प्रभाव है। तब उन्होंने कहा था कि हल्दी की एक गांठ सब बनियों के यहां मिलती है । अतएव हल्दी की एक गांठ दिखाकर कहना कठिन है कि यह उक्त दुकान की है । उनके कथन में सत्यता है । मानवीय सत्य चिरन्तन होता है । उसकी अनुभूति विभिन्न देश के व्यक्तियों को एक-सी हो सकती है। इसी कारण कथानक साम्य भी हो सकता है । पाश्चात्य कथानक-शिल्प का हिन्दी कथानक-शिल्प पर कितना प्रभाव पड़ा-इस पर विचार करना विषयान्तर हो जाएगा । किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि प्रारम्भिक उपन्यासों के कथानक पर रैनाल्ड के उपन्यासों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा । अप्रत्याशित रहस्यपूर्ण उद्घाटन उसके कथानक-शिल्प की विशेषता है जो किशोरीलाल गोस्वामी :१८६५-१९३२: के 'मल्लिकादेवी वा बङ्ग सरोजिनी' : ? : 'कनक कुसुम वा मस्तानी' :१९०३: आदि के कथानकों में दृष्टिगत होती है ।

३६- कालान्तर में प्रेमचन्द साहित्य पर पाश्चात्य अथवा अहिन्दी उपन्यासों का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दृष्टिगत होता । कुछ आलोचकों ने 'गोदान' :१९३६: और गोर्की कृत 'मां' १९०६: में साम्य देखा । किन्तु इन दोनों में वही अन्तर है जो प्रेमचंद और गोर्की में है । यह अवश्य है कि प्रेमचंद :१८८०-१९३६: ने गोर्की की

भांति ही सर्वहरा शक्ति को पहचाना था तथा शोषण के विरुद्ध सशक्त आवाज़ उठाई थी। किन्तु `गोदान`:१९३६: के शिल्प में जो रसात्मकता तथा आत्मीयता है उसका अभाव `मां`:१९०६: में है। `मां`:१९०६: में जिस तटस्थता तथा बौद्धिकता के साथ चित्र प्राप्त होता है उसका यहां अभाव है। आधुनिक उपन्यासकार विविध पाश्चात्य तथा भारतीय उपन्यासों से प्रभावित तथा प्रेरित हुए हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के कथानक फ्रायडियन विचारधारा के अतिरिक्त डी०एच० लारेंस, जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया वुल्फ आदि के कथानक से प्रभावित तथा प्रेरित हैं। डी०एच० लारेंस के कथानकों की भांति ही इलाचंद्र जोशी :१९०२: के कथानकों में नारी-पुरुष का सम्बन्ध आकर्षण और विकर्षण के द्वन्द्व से परिपूर्ण है। जैनेन्द्र :१९०५ पर शरत् तथा गैस्टाल्ट, दास्तायवस्की का प्रभाव दृष्टिगत होता है। अज्ञेय :१९११: पर विविध विचारधाराओं, उपन्यासों तथा पाश्चात्य कविताओं का प्रभाव पड़ा है। जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया वुल्फ के शिल्प से वे प्रभावित हैं। `शेखर-एक जीवनी` :१९४०: में इसी प्रकार की साहचर्य स्मृतियां दृष्टिगत होती हैं।

४०- ऐतिहासिक उपन्यासों के कथानक शिल्प पर वाल्टर स्काट, कन्हैयालाल मुंशी तथा राखालदास बंद्योपाध्याय के शिल्प का प्रभाव पड़ा है। प्रभावित तथा प्रेरित होना कोई अवगुण नहीं है। विचारों के आदान-प्रदान का क्रम शाश्वत है। परन्तु शिल्प की दृष्टि से मौलिकता के अभाव के कारण कथानक दुर्बल हो जाता है। उदाहरणार्थ- चतुरसेन शास्त्री :१८९१-१९६०: का `सोमनाथ`:१९५४ : तथा वृन्दावनलाल वर्मा :१८८९: का `कचनार`:१९४८: आदि। `सोमनाथ`:१९५४ के कथानक पर कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी कृत `जय सोमनाथ` का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है। `कचनार` १९४८: तथा `शशांक` में समानता दृष्टिगत होती है। राखालदास बंद्योपाध्याय के शशांक युद्ध में आहत होकर शंकर नद में गिर जाता है। धीवर के द्वारा उसके प्राण की रक्षा होती है। स्मृति लोप होने के कारण वह ज्ञानशून्य होकर बालकोचित वार्ता करता है। धीवर कन्या भव का प्रेमी नवीन ईर्ष्यावश शशांक के सिर पर अंकुश मारता है। फलत: उसकी अतीत स्मृति जाग्रत होती है। `कचनार`:१९४८:का भी कथानक ऐसा ही है। दलीपसिंह युद्ध में आहत होकर स्मृतिविहीन होकर बालकोचित व्यवहार करता है और पुन: युद्ध में आहत

होकर विस्मृत स्मृति को प्राप्त करता है। वर्मा जी ने 'कचनार' के कथानक में कुछ परिवर्तन कर दिया है। किन्तु मौलिकता की दृष्टि से इसका महत्व अल्प है। इसके विपरीत, जैनेन्द्र :१९०५: के 'विवर्त' :१९५३: का अन्त दास्तायवस्की :१८८२१-१८८१: कृत 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' के समान है। दोनों के नायकों को कारावास ही मुक्ति का साधन प्रतीत होता है परन्तु दोनों के शिल्प में मौलिक अन्तर है। कामजन्य कुंठा से ग्रस्त जितेन्द्र के मानसिक संघर्ष को कारावास में ही मुक्ति दिखाई देती है। जैनेन्द्र की दार्शनिकता ही जेल में भगवान के दर्शन कर सकती है। 'अपराध और दंड :क्राइम एण्ड पनिशमेंट :१८६६: का नायक कानून की दृष्टि में अपराधी नहीं है परन्तु उसकी अन्तश्चेतना अपराध के कारण विकल है। इसीलिए वह आत्मसमर्पण कर शान्ति प्राप्त करने के लिए व्याकुल है। इसी प्रकार जैनेन्द्र की 'सुनीता' :१९३५: तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर :१९१३-१९४१:कृत 'घर बाहर' में भी अन्तर है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकारों ने पाश्चात्य तथा भारतीय उपन्यास-साहित्य का अध्ययन कर कथानक-शिल्प को समझा। उन्होंने प्रेरणा भले ही विभिन्न साहित्यों से ग्रहण की हो परन्तु इस विदेशी बीज का वपन जिस भारतभूमि में हुआ, उस पर यहां की संस्कृति की अमिट छाप है। गेहूं विदेश में भी होता है और भारत में भी। प्रत्येक देश के गेहूं की विशिष्टता होती है। इसी प्रकार हिन्दी-उपन्यासों के कथानक - शिल्प की भी विशिष्टता है। पाश्चात्य कथानकों की भांति यहां के कथानक - शिल्प में यथार्थवाद का रंग प्रगाढ़ नहीं दृष्टिगत होता तथा नैतिकता सम्बन्धी दृष्टिकोण के कारण कथानक के प्रस्तुतीकरण में भी उतनी वैज्ञानिकतटस्थता तथा यथार्थता नहीं है। इसके अतिरिक्त, कथानक-शिल्प-विकास की प्रक्रिया भी इस बात की द्योतक है कि इसका विकास मौलिक है। उपन्यास के लड़खड़ाते चरणों में 'सेवासदन' :१९१८: के रूप में स्थिरता के लक्षण प्रकट हुए। कालान्तर में इनकी गति में तीव्रता आई और शिल्प की दृष्टि से कथानक क्षेत्र में विविध प्रयोग हुए। आलोच्यकाल:१९५५:के उपरान्त आज भी शिल्प की दृष्टि से अनेक मौलिक प्रयोग हो रहे हैं। वृहत्कथाओं के उपन्यास लिखे जा रहे हैं तो कुछ ऐसे उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं, जिनका कार्यकाल केवल चौबीस घंटे का है तथा कथानक शिल्प में नवीनता तथा मौलिकता है।

अध्याय- ५

चरित्र-शिल्प का विकास

०

१- सरल रेखा तथा चित्र की यदि तुलना की जाए तो विदित होगा कि उन दोनों में क्या अन्तर है। इसी प्रकार प्रारंभिक तथा आज के उपन्यासों की चरित्र-शिल्प की दृष्टि से तुलना की जाए तो दोनों का अन्तर स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा। श्रद्धाराम फिल्लौरी (१) कृत `भाग्यवती` (१८७७) की भाग्यवती लालमणि,उसके सास-ससुर, श्री निवासदास (१८५१-१८८७) कृत `परीक्षा गुरु` (१८८२) के लाला मदनमोहन, लाला बृजकिशोर, चुन्नीलाल आदि, बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४) कृत `सौ अजान और एक सुजान` (१८९०) के नन्दू, चन्दू, बुद्धदास प्रभृति, किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२) कृत `तारा वा क्षात्र कुलकमलिनी`(१९०२) की तारा, सलावत खां आदि,`मल्लिकादेवी वा वंग सरोजिनी` की मल्लिका, नरेन्द्रसिंह प्रभृति चरित्र-शिल्प की दृष्टि से चित्र न होकर उनकी रेखा मात्र हैं। इन रेखाओं का ही कालान्तर से चित्र रूप में विकास हुआ जिनमें स्वाभाविकता तथा सजीवता के रंग भरे गये। चरित्र-शिल्प के विकास का प्रथम सोपान `सेवासदन` (१९१८) की सुमन है। जहां पूर्ववर्ती पात्र शिल्प के अभाव में लेखक की इच्छा के विफल मूर्तिविधान प्रतीत होते हैं जिनमें स्वतंत्र व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव है वहां सुमन व्यक्तित्व सम्पन्न मनस्वी तथा तेजस्वी नारी है। प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) का चरित्र शिल्प भी ऐसा है जो उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह अंकित नहीं होने देता। इसके पश्चात् चरित्र-शिल्प का विकास होने लगा। चरित्र-शिल्प की दृष्टि से अनेक जीवंत पात्रों की अवतारणा विभिन्न प्रकार के उपन्यासों में होने लगी यथा— प्रेमचंद (१८८०-१९३६) कृत `रंगभूमि` (१९२६-७) के सूरदास, विनय, सोफिया आदि; `गोदान` (१९३६) के होरी, धनिया, झुनिया, गोबर, मेहता, मालती आदि, प्रतापनारायण श्रीवास्तव (१९०४) कृत`विदा` (१९२८) की कुमुद, चपला, निर्मल, शांता, केट आदि, भगवतीचरण वर्मा (१९०३) रचित `चित्रलेखा` (१९३४) के बीजगुप्त, योगी कुमारगिरी, चित्रलेखा आदि, वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९) के `गढ़कुंडार` (१९२९) के अग्निदत्त, मानवती, हेमवती, नागदेव प्रभृति; `झांसी की रानी:लक्ष्मीबाई` (१९४६) के गंगाधर राव, लक्ष्मीबाई, झलकारी कोरिन आदि, हजारी प्रसाद द्विवेदी (१९०७) कृत `बाणभट्ट की आत्मकथा` (१९४६) के

बाणभट्ट, निपुणिका, भट्टिनी आदि, यशपाल (१९०३) के 'मनुष्य के रूप' (१९४९) की सोमा, बैरिस्टर रमोला, भूसलीवाला आदि, नागार्जुन (१९१०) कृत 'बलचनमा' (१९५२), फणीश्वरनाथ रेणु (१९२१) के 'मैला आंचल' (१९५४) के बावनदास, मठाधीश, लक्ष्मीदासी, बालदेव, कालीचरण, कमला, डाक्टर प्रशान्त आदि। ये चित्र जो प्रस्तुत हुए हैं वे अभिनव हैं तथा इनमें जो रंग भरे गए हैं वे मौलिक, आकर्षक तथा सुन्दर हैं।

२- आलोच्य काल तक चरित्र-शिल्प का विकास इतना हो चुका है कि वह मानव के बाह्य क्रिया-कलाप, आचार-व्यवहार तथा वार्तालाप तक सीमित नहीं रह गया है। उपन्यासों में चरित्रों के अचेतन, उपचेतन मस्तिष्क की इच्छाओं, कामनाओं तथा आकांक्षाओं का चित्रण होने लगा जो उसकी विचार-सरणी को प्रभावित तथा प्रेरित करती है तथा मानव का व्यक्त चरित्र इसी अव्यक्त का परिणाम है। फलत: उपन्यासों में ऐसे चरित्रों की अवतारणा हुई जो रहस्यमय जटिल तथा विचित्र होते हुए भी मनोवैज्ञानिक होने के कारण विश्वस- -नीय प्रतीत होते हैं यथा— जैनेन्द्र (१९०५) की 'सुनीता' (१९३५) का हरिप्रसन्न, 'कल्याणी' (?) की डा० कल्याणी तथा डा० असरानी, इलाचन्द्र जोशी (१९०२) कृत 'संन्यासी' (१९४१) का नन्दकिशोर, शान्ति, जयन्ती, 'पर्दे की रानी' (१९४२) की निरंजना, 'मुक्तिपथ' (१९५०) की प्रमीला आदि। ये पात्र असाधारण हैं। इनका शिल्प भी पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न है जिसकी चर्चा आगामी पृष्ठों में होगी।

प्रस्तुतीकरण-शिल्प

३- उपन्यासकार विविधप्रकार से चरित्रों को प्रस्तुत करता है। वह सचेष्ट रहता है कि उसका प्रस्तुतीकरण-शिल्प अभिनव हो। अतएव वह निरन्तर अनेक प्रयोग करता है। इसी कारण प्रस्तुतीकरण-शिल्प का निरन्तर विकास होता रहता है। शिल्प की दृष्टि से प्रारंभिक उपन्यासों का प्रस्तुतीकरण महत्वहीन है। किंतु कालान्तर में उपन्यासों में शिल्पगत सौंदर्य दृष्टिगत होने लगा।

वर्णनात्मक शिल्प

४- चरित्र के प्रस्तुतीकरण का वर्णनात्मक शिल्प अत्यधिक प्राचीन है। उपन्यासकार स्वत: पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख करता है। प्रारंभिक उपन्यासों का चरित्र शिल्प, दुर्बल अप्रौढ़ तथा अपरिष्कृत है। भाषा की अक्षमता तथा शिल्प सम्बन्धी असावधानी के कारण वर्णनात्मक शिल्प नीरस तथा निर्जीव है।[1] उदाहरणार्थ -- "लाला ब्रजकिशोर गरीब मां-बाप के पुत्र हैं परन्तु प्रामाणिक सावधान विद्वान और सरल स्वभाव हैं। इनकी अवस्था छोटी है तथापि अनुभव बहुत है यह जो कहते हैं उसी के अनुसार चलते हैं। + + + यह वकील हैं परन्तु अपनी तरफ के मुकदमें वालों का झूठा पक्षपात नहीं करते झूठे, मुकदमें नहीं लेते[2]। शिल्पगत अप्रौढ़ता के कारण उपन्यासकार पात्र की विशेषता का स्पष्ट चित्र अंकित नहीं कर सका है। इसके विपरीत कालान्तर के उपन्यासों का वर्णनात्मक चरित्र-शिल्प स्पष्ट सुन्दर तथा कलात्मक है[3]। इसमें केवल चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेखमात्र नहीं होता प्रत्युत इसमें चित्र प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता आ गयी है। इसके शिल्प में नवीनता तथा मौलिकता

१- श्रद्धाराम फिल्लौरी : "भाग्यवती" (१९६०) वाराणसी, पा०बु०ए०, पृ०-४१-४, ६१, ६२-३ आदि।
श्रीनिवासदास : "परीक्षा गुरु" (१९५८) दिल्ली, पृ०-१६६, १७६, १७७, १७८आदि
बालकृष्ण भट्ट : "नूतन ब्रह्मचारी" (१९११)इलाहाबाद: द्वि०सं०, पृ०-१५-१८।
,, : "सौ अजान और एक सुजान" (१९१५) प्रयाग: द्वि०सं०, पृ०- ५-७, ४२, ४३८
किशोरीलाल गोस्वामी : "चपला वा नव्य समाज चित्र", प्र०भा०मथुरा, पृ०-४४, ४७-४८, ५१ आदि।
वही - "कनक कुसुम वा मस्तानी" : मथुरा, पृ०- ७३।

२- श्रीनिवासदास : "परीक्षा गुरु" (१९५८) दिल्ली : पृ०- १९८।

३- जैनेन्द्रकुमार : "सुनीता" (१९६२) दिल्ली : पा०बु०ए०, द्वि०सं०, पृ०-५-६, १३८-९ आदि।
प्रेमचंद : "प्रेमाश्रम" (१९३६)कलकत्ता: षष्ठ सं०, पृ०-७-११, १४, १९-२० आदि
भगवतीचरण वर्मा : "चित्रलेखा" (१९५५) प्रयाग: बा०सं०, पृ०-१८-१९, १११-११२
जयशंकर प्रसाद : "तितली" (१९५१)प्रयाग : छठा सं०, पृ०- ४१, ७२ आदि

दृष्टिगत होती है । उदाहरणार्थ — गोबरी ने वृद्धपति भोला को पीहा है । इस समाचार से होरी उद्विग्न हो जाता है जो स्वाभाविक ही है । वह गोबरी की तुलना चमारिन सिलिया से करता है । अवस्था-साम्य होने के कारण वह सोचता है कि यदि वह विधुर हो गया होता तो क्या भोला जैसी उसकी भी स्थिति होती । इस प्रसंग में उसे अपनी पत्नी धनिया का स्मरण करना नितान्त स्वाभाविक है । वह मन में धनिया की समस्त विशेषताओं का आकलन करता है जो उसके चरित्र की विशिष्टता है[1] । यह चित्र स्वत: पूर्ण सजीव तथा जीवन्त है । इसके अतिरिक्त चरित्रों की विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए यह व्याख्या-त्मक तथा विश्लेषणात्मक हो गया है । विशेषत: मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पात्रों का व्यवहार असंगत तथा जटिल होता है जो व्याख्या तथा विश्लेषण के अभाव में अर्थहीन तथा महत्वहीन हो जाता है । निरंजना के गुरु इस असंगति की व्याख्या करते हैं कि शीला उसकी माता का प्रतीक थी । जब से निरंजना को ज्ञात हुआ कि उसकी वेश्या माता ने उसके पिता को प्रवंचित किया, तबसे निश्चय ही उसके मन में वेश्या माता के विरुद्ध विद्रोह भावना उत्पन्न हो गई ।

शेषांक—

प्रेमचंद :"गोदान" (१६४६) बनारस: द०सं०,पृ०- ७३-७४, ४०३ आदि
वृन्दावनलाल वर्मा :"कचनार" (१६६२) झांसी: स०सं०,पृ०-६,१७ आदि
वही - "झांसी की रानी लक्ष्मीबाई" (१६६१) झांसी: न०सं०, पृ०- ३३-३४, १८०-१८१, २१५ आदि ।
वृन्दावनलाल वर्मा :"मृगनयनी" (१६६२)झांसी:ग्या०सं०,पृ०-६६,७५,११७
जैनेन्द्र कुमार :"व्यतीत" (१६६२)दिल्ली:तृ०सं०,पृ०-२५,३३,६०-१ ।
वही- "विवर्त" (१६५७)दिल्ली:द्वि०सं०,पृ०-३८-४०,१६८,१६६,१७३ ।

१- "उसकी मौत की कल्पना ही से होरी को रोमांच हो उठा ।धनिया की मूर्ति मानसिक नेत्रों के सामने आकर खड़ी हो गयी । सेवा और त्याग की देवी, जबान की तेज, पर मोम जैसा हृदय, पैसे-पैसे के पीछे प्राण देने वाली, पर मर्यादा की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व होमकर देने को तैयार ।"
प्रेमचन्द "गोदान" (१६४६) बनारस : द०सं०, पृ०सं०- ४०३ ।

मां के प्रति विद्रोह-भावना शीला के व्यक्तित्व में हस्तान्तरित हो गई ।[1]
'पर्दे की रानी' (१९४२) की निरंजना जटिल पहेली प्रतीत होती है । वह
अपनी सखी शीला से स्नेह करती है किन्तु वही उसकी मृत्यु का कारण है ।
सखी के प्रति स्नेह तथा प्रतिहिंसा की बात विचित्र लगती है । किन्तु व्याख्या
के कारण ही उसका चित्रण शिल्प विश्वसनीय बन सका है ।[2] कुलीन गृह की
बुआ का पति को त्याग कर निम्नवर्गीय कोयले वाले के साथ रहने का रहस्य
भी तभी स्पष्ट होता है जब कि बुआ स्वतः अपने कार्य की व्याख्या करती हैं
कि पतिव्रता का यह धर्म है जब उसे पति न चाहे तो वह उसे मुक्त कर दे ।[3]
कोयलेवाला उन पर आसक्त था, यद्यपि वह जानती थी कि वह उसकी सर्वस्व
सदैव नहीं हो सकती, फिर भी वह तन-मन-धन से उसकी सेवा करती है क्योंकि
पतिव्रता का यही धर्म है ।[4] इस प्रकार के व्याख्यात्मक स्थल विविध उपन्यासों[5]

१- 'जब से तुमने सुना कि तुम्हारी माता एक वेश्या थी और उसने तुम्हारे पिता को धोखा दिया, तबसे निश्चय ही तुम्हारे मन में तुम्हारे अनजान में अपनी उस वेश्या माता के विरुद्ध विद्रोह की भावना जड़ पकड़ गयी होगी, जिसने तुम्हारे पिता को खूनी बनाने के लिए बाध्य किया । चूंकि अपनी माता के समान ही स्नेहशीला शीला को तुम्हारे अन्तर्मन ने माता के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया होगा, इसलिए उसके विरुद्ध तुम्हारा वह विद्रोह और हिंसक भावपूर्ण रूप से कारगर हुआ ।' —इलाचंद्र जोशी: 'पर्दे की रानी' पृ०- २१६-२१७ ।

२- इलाचन्द्र जोशी: 'पर्दे की रानी' (१९४२) इलाहाबाद: प्र०सं०, पृ०सं०- २४८ । २१८- ०५२८-

३- जैनेन्द्रकुमार: 'त्यागपत्र' (१९५०) बम्बई: पं०सं०, पृ०सं०- ५२ ।

४- 'प्रमोद, इसी से कहती हूं कि जब तक पास है तब तक वह पुरुष अन्य नहीं है । मेरा सब कुछ उसका है । उसकी सेवा में मैं त्रुटि नहीं कर सकती । पतिव्रत धर्म यही तो कहता है — वही- पृ०- ५० ।

इलाचन्द्र जोशी: 'पर्दे की रानी' (१९४२) इलाहाबाद: प्र०सं०, पृ०-सं० २४८ २५१-२, २५५ आदि ।

इलाचन्द्र जोशी: 'संन्यासी' (१९५६) इलाहाबाद: इ०सं०, पृ०- ८७, १२३ ३५२-३, ३६२-३, ४३२ आदि ।

वही- 'जिप्सी' (१९५२) इलाहाबाद: प्र०सं०, पृ०सं०- २७, ३७ आदि ।

जैनेन्द्र कुमार: 'सुखदा' (१९५२) दिल्ली : पृ०सं०- ५१, ५३, ६५-६, ९३ ।

में दृष्टिगत होती हैं इनका व्याख्यात्मक शिल्प विश्लेषणजन्य है। प्रारंभिक उपन्यासों में अनपेक्षित चारित्रिक विशेषताओं का उल्लेख बार-बार हुआ करता था इस कारण उनमें प्रस्तुत व्याख्याएं नीरस और निर्जीव होती थीं। किन्तु इन उपन्यासों के चरित्र-शिल्प में व्याख्याओं का योगदान महत्वपूर्ण है। ये चरित्र-शिल्प का अनिवार्य अंग हैं। कांत (सुखदा : १९५२) अपने पुत्र विनोद को नैनीताल में नहीं पढ़ाना चाहता है। सुखदा मजदूरी करने को प्रस्तुत है। वह कांत से कह देती है कि वह उसके जेवर छुड़ाने की चिन्ता न करे। इस स्थल पर सुखदा के व्याख्याजन्य आत्मविश्लेषण के द्वारा ही उसके जटिल चरित्र को समझा जा सकता है।[१] विश्लेषण के द्वारा ही जटिल चरित्र बोधगम्य होते हैं। "शेखर एक जीवनी" (१९४१) का शिल्प सराहनीय है। अज्ञेय (१९११) जैसा चरित्र के प्रस्तुतीकरण का शिल्प हिन्दी उपन्यासों में अन्य नहीं दृष्टिगत होता है। बालक शेखर की प्रत्येक क्रिया और उसका उसके मानसिक जगत पर प्रभाव का विश्लेषण हुआ है[२] जो सूक्ष्म निरीक्षण तथा गहन चिंतन पर आधारित है। उसका असाधारण व्यक्तित्व विकास का जीवन्त चित्र विश्लेषणात्मक ढंग से ही प्रस्तुत

१- "मैं नहीं समझ सकती कि उस क्षण मैं क्या चाहती थी। शायद मैं जीतना चाहती थी, हर किसी से जीतना चाहती थी। क्या कहीं हार का भाव भीतर था कि जीत की चाह ऊपर इतनी आवश्यक हो आई थी? वह सब-कुछ मुझे नहीं मालूम। लेकिन दुर्दम कर्तव्य के संकल्प मेरे मन में सहसा चारों ओर से छूटकर लहक उठे। अपनी परिस्थिति और अपनी नियति की सब मर्यादाओं और बाधाओं को तोड़कर ऊपर उठ चलना होगा, ऊपर और ऊपर। कुछ मुझे रोक न सकेगा, कुछ लौटा न सकेगा। ऐसा मालूम होने लगा जैसे जो है सब तुच्छ है, सब शून्य है। मेरी उद्दामता के आगे सब विवश हो बना है। उस समय मेरे स्वामी, जड़ित और चकित, मुझे अपदार्थ लग आए।" — जैनेन्द्र "सुखदा" (१९५२) दिल्ली : प्र०सं०, पृ०सं०- ९३।

२- अज्ञेय "शेखर एक जीवनी" (१९६१) वाराणसी : स०सं०, पृ०- ६१, ६८, ६९, ९३ आदि।

हो सका है। जैनेन्द्र (१९०५) के विश्लेषणात्मक चरित्र-शिल्प में भावात्मकता है[1] तथा इलाचंद्र जोशी का परिस्थितिजन्य एवं प्रासंगिक है[2]। पात्रों की असाधारण मानसिक स्थिति, कार्य की अव्यक्त प्रेरणा पर विश्लेषणात्मक चरित्र-शिल्प के द्वारा ही प्रकाश पड़ा है।

अभिनयात्मक

५- 'सेवासदन' (१९१८) के चरित्र शिल्प में सर्वप्रथम अभिनयात्मकता दृष्टिगत होती है। अपमानित सुमन के बेंच पर बैठ जाने पर माली उसका अपमान करता है किन्तु वही भोली बाई का स्वागत करता है। इस प्रसंग में सुमन की मानसिक स्थिति, दर्प तेज रोषादि का ज्वलंत चित्र उपन्यासकार ने प्रस्तुत[3] किया

१- जैनेन्द्रकुमार: 'सुनीता' (१९६२) दिल्ली: पा०बु०प०, द्वि०सं०, पृ०-३३, १७१-२, १८६।
वही- 'कल्याणी' (१९३२) दिल्ली: पृ०- १००-१०१, १२४-५।
वही- 'सुखदा' : दिल्ली, पृ०- ६१, ६८, ६१, ६३ आदि।

२- इलाचंद्र जोशी: 'संन्यासी' (१९५६) इलाहाबाद: ष०सं०, पृ०-१२३-५, १२८-३०, ३६३ आदि।
वही- 'जहाज का पंछी' (१९५५) बम्बई: प्र०सं०, पृ०-२२६, ३५६, ४१२ आदि।

३- "रक्षक एक किनारे अदब से खड़ा था। यह दशा देख कर सुमन की आंखों से क्रोध के मारे चिनगारियां निकलने लगीं। उसके एक-एक रोम से पसीना निकल आया। देह तृण के समान कांपने लगी। हृदय में अग्नि की एक प्रचंड ज्वाला दहक उठी। वह अंचल में मुंह छिपाकर रोने लगी। ज्योंही दोनों वेश्यायें वहां से चली गयीं, सुमन सिंहनी की भांति, लपक कर रक्षक के सम्मुख आ खड़ी हुई और क्रोध से कांपती हुई बोली- क्यों जी, तुमने मुझे बेंच से उठा दिया जैसे तुम्हारे बाप की है पर उन दोनों रांडों से कुछ न बोले?" + + + + + लें देख तेरे सामने फिर इस बेंच पर बैठती हूं- देखूं, तू मुझे कैसे उठाता है।"

रक्षक पहले तो कुछ डरा, किन्तु सुमन के बेंच के बैठते ही वह उसकी ओर लपका कि उसका हाथ पकड़ कर उठा दे। सुमन सिंहनी की भांति आग्नेय नेत्रों से ताकती हुई उठ खड़ी हुई। उसकी एड़ियां उछली पड़ती थीं। सिसकियों के आवेग को बलपूर्वक रोकने के कारण मुंह से शब्द न निकलते थे।"

प्रेमचंद 'सेवासदन' : बनारस, पृ०- ३४-३५।

है। उसका माली को डांटकर बैंच पर पुन: बैठना तथा माली को अपनी ओर बढ़ती देख कर उठ जाना-इस क्रिया में पूर्ण अभिनयात्मकता है। पात्रों की मनो--भावनाओं को वर्णनात्मक शिल्प में प्रस्तुत न कर प्रेमचन्द ने ही सर्वप्रथम उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्र अंकित किया है जो विश्वसनीय और प्रभावशाली है। इसके पश्चात् अनेक उपन्यासों में अभिनयात्मक चरित्र-शिल्प दृष्टिगत होता है। `गोदान` (१९३६); `बाणभट्ट की आत्मकथा` (१९४६); `मृगनयनी` (१९५०); `आचार्य चाणक्य` (१९५४) प्रभृति उपन्यासों के पात्र-चित्रण अभिनयात्मक शिल्प में प्रस्तुत हुआ है। `मृगनयनी` (१९५०) में मृगनयनी, लाखारानी, मानसिंह, बोधन पंडित आदि सभी पात्रों का विकास स्वत: हुआ है। शिल्प की दृष्टि से लाखारानी का चित्रण उल्लेखनीय है। रात्रि के अंधकार में शत्रु गढ़ी में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहे हैं। लाखी के शौर्य, साहस, प्रत्युत्पन्न मति तथा कर्तव्य-परायणता का सजीव चित्र उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है[1]। वह कंगूरों पर चढ़ने वाले शत्रु को रोकने का प्रयत्न कर रही है[2] जब कि उसकी पसलियों में तीर बिंधा हुआ है। उसका ही नहीं शत्रु तक का चित्रण अभिनयात्मक रूप में हुआ है।

१- वृन्दावनलाल वर्मा: `मृगनयनी` (१९६२) फांसी: ११वां सं०, पृ०-४६२-४६५।

२- `इनको मार कर मरूंगी`, उसने निश्चय किया। फिर खांसी, फिर वही फुहार। मुट्ठी में तलवार ढीली पड़ गई। लाखी ने सोचा हल्लाकर देना चाहिए। चिल्लाई! मुंह से खून निकला। फिर चिल्लाई-दीवार से सट कर खड़ी हो गई। `जागते रहो` की पुकार लगाने वालों ने उसकी पुकार को सुन लिया। मशालें लेकर दौड़ पड़े।

आक्रमणकारियों में से एक तलवार लेकर लाखी की ओर झपटा। ऊपर आती हुई विपत्ति की उत्तेजना ने उसको बल दिया। तलवार वाली मुट्ठी कस गयी। आक्रमणकारी ने जैसे ही उस पर वार किया वह धम्म से बैठ गई। सिर पर आई हुई तलवार की खड़ी नोक आक्रमणकारी के पेट के निचले हिस्से में बैठकर, कलेजे तक पहुंच गई वह चीखकर करवट के बल जा गिरी। मशाल वाले आ गए।`

वृन्दावनलाल वर्मा: `मृगनयनी` (१९६२) फांसी: ग्या०सं०, पृ०- ४६५।

पात्रों के आचार-विचार , क्रिया-कलाप, चिन्तन-मनन का चित्रण अब उपन्यासकार नहीं करता और इसी कारण ये पात्र सजीव तथा हृदयग्राही प्रतीत होते हैं। प्रारम्भिक उपन्यासों में नरेन्द्रसिंह, लाला मदन मोहन, लाला ब्रजकिशोर, मल्लिकादेवी आदि के चित्रण में यांत्रिकता थी। उनके कार्य-कलाप तथा युद्ध कागज़ी हैं जब कि अब सजीव प्रतीत होता है।

संवादात्मक-शिल्प

६- अभिनयात्मक शिल्प में संवादात्मक-शिल्प का महत्त्व है क्योंकि पात्रों के कार्य-कलाप ही केवल उनके चरित्र के परिचायक नहीं होते- उनके संवाद भी चरित्र-व्यंजक होते हैं। प्रारम्भिक उपन्यासों में संवादात्मक-शिल्प का अभाव है। पात्रों के लम्बे-लम्बे कथनों से उनकी चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है।[१] इसके अतिरिक्त, इनमें नाटकों की भांति स्वगत कथन[२] भी उपलब्ध होते हैं।

१- श्रद्धाराम फिल्लौरी:'भाग्यवती'(१९६०)वाराणसी: पा०बु०ए०,प्र०सं०, पृ०- ६-१३, ४४, ११७-१२१ आदि।
कि०ला०गोस्वामी :'प्रणयिनी परिणय' मथुरा: पृ०-६,६७-१०,१३-१४आदि
लज्जाराम शर्मा :'आदर्श हिन्दू',द्वि०भा०(१९१४)वाराणसी :पृ०-१७-१९, २०, ५४-६ आदि।
प्रेमचन्द:'प्रतिज्ञा'(१९६२)इलाहाबाद:पृ०- ३२,३७,३८,६४,११५ आदि।
वही- 'वरदान'(१९४५)बनारस: द्वि०सं०,पृ०- १०, ३७, ६१, ८१ आदि

२- श्रीनिवासदास:'परीक्षा गुरु'(१९५८)दिल्ली: पृ०सं०-१४६,१५२ आदि।
बालकृष्ण भट्ट:'सौ अजान और एक सुजान' (१९१५) द्वि०सं०, पृ०- ७५, ८५-६, ८८-८९ आदि।

'परीक्षा गुरु' (१८८२) में लाला ब्रजमोहन के स्वगत कथन में लाला मदनमोहन के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है कि चाटुकारों के कारण ही वे सत्य को ग्रहण नहीं कर सके। वे पथभ्रमित हो गए।[1] कालान्तर में स्वगत कथन चिन्तन में परिणत हो गया तथा सच्चे अर्थों में संवादात्मक शिल्प का विकास हुआ जो चरित्र व्यंजक है।[2]

सांकेतिक

७- जैनेन्द्र (१९०५) के उपन्यासों में चरित्रों के प्रस्तुतीकरण में सांकेतिक-शिल्प सर्वप्रथम दृष्टिगत हुआ। उन्होंने पात्रों का चित्रण व्यंजनात्मक रूप में किया है। 'परख' (१९२९) में सत्यधन और गरिमा के विवाह का औचित्य

१- 'असल तो यह है कि अब मदनमोहन बच्चे नहीं रहे, जल्दी उम्र पक गई, किसी का दबाव उन पर नहीं रहा। लोगों ने हां में हां मिला कर उनकी भूलों को और दृढ़ कर दिया। इसी के कारण उनको अपनी भूलों का फल नहीं मिला और संसार का दुःख-सुःख, का अनुभव भी न होने पाया: बस रंग पक्का हो गया।'

— श्रीनिवासदास: 'परीक्षा गुरु' (१९५८) दिल्ली: पृ० १५२।

२- प्रेमचन्द: 'सेवासदन': बनारस, पृ०सं०-३४-३५, ६२, १२२, ३०१ आदि।
विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक: 'मां' (१९३४) लखनऊ: द्वि०सं०, पृ०-३४०, ३८१ आदि
विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक: 'भिखारिणी' (१९५२) आगरा: तृ०सं०, पृ०सं०-२७, १२६ आदि।
ऊषादेवी मित्रा: 'जीवन की मुस्कान' (१९३९) बनारस: पृ०-१६१, १६२, १७४ आदि
हजारी प्रसाद द्विवेदी: 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९६३) बम्बई: पं०सं०, पृ०- १२१, १४१, २२० आदि।
वृन्दावनलाल वर्मा: 'मृगनयनी' (१९६२) झांसी: ग्या०सं०, पृ०-१७१, १७६, १८१ आदि
जैनेन्द्रकुमार: 'विवर्त' (१९५७) दिल्ली: द्वि०सं०, पृ०-१४, २०६, २११ आदि।
सत्यकेतु विद्यालंकार: 'आचार्य चाणक्य' (१९५७) मसूरी: तृ०सं०, पृ०- १४८, ३२७, ३२८, ३३० आदि।

समझकर कट्टो अकेले हो जाती है[1]। मास्टर सत्यधन और कट्टो के प्रेम तथा कट्टो के प्रेमाकुल हृदय का चित्रण सांकेतिक रूप में हुआ है। छोटे से दर्पण के समक्ष बैठकर कट्टो का टिकुली लगाना उसके भविष्य के वैवाहिक जीवन की ओर संकेत करता है[2]। 'त्यागपत्र' (१९३७) में बुआ मृणाल के एकान्त प्रेम तथा असम्बद्ध कथन के द्वारा उनका शीला के भाई के प्रति प्रेम का सांकेतिक चित्रण हुआ है। प्रथम प्रेम के कारण वह उद्वेलित है। उपन्यासकार ने उसकी उत्तेजना और उत्साह का सजीव चित्रण व्यंजनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है[3]। अज्ञेय (१९११) ने भी कहीं-कहीं शशि का चित्रण सांकेतिक तथा कलात्मक रूप में किया है। शशि शेखर के प्रति आकृष्ट है किन्तु पति के प्रति कर्त्तव्यपरायणा है। वह भारतीय नारी है। 'पथ की खोज' (१९५१) की साधना और शशि की समस्याएं समान हैं। परन्तु दोनों के शिल्प में कितना अन्तर है। साधना की वाचालता उसे निर्लज्ज

१- जैनेन्द्र कुमार: 'परख' (१९६०) बम्बई: न०आ०, पृ०-८६।

२- वही- ,, पृ०- ९२-९३।

३- 'उस दिन बुआ रोज से अस्थिर मालूम होती थीं। वह प्रसन्न थीं और किसी काम में उनका जी नहीं लगता था। उन्होंने मुझसे तरह-तरह के प्रस्ताव किए, तरह-तरह की बातें कीं। 'प्रमोद, एक रोज नहर के पुल चलना चाहिए। चलोगे?' बताओ तुम्हें मिठाई कौन-सी अच्छी लगती है? घेवर! घेवर भी कोई मिठाई है? छि: 'वैसे तुम पतंग नहीं लाए न? 'प्रमोद, मैं शीला के यहां रह गई थी। तेरी मां को कुछ ख्याल तो नहीं हुआ होगा। 'कल रे कल, प्रमोद, यहां क्या कमरे में बैठना। चलकर ऊपर हवा में बैठेंगे।' क्यों! एक बात कहती थीं कि झट भूल जाती थीं। उस समय उनके मन में ठहरता कुछ नहीं था। न विचार न अविचार। जैसे भीतर बस हवा हो और मन हल्का-फुल्का बस उड़-उड़ जाना चाहता हो। वह बेबात हंसती थी और बेबात मुझे पकड़ कर इधर से उधर खींचती थीं। --

जैनेन्द्रकुमार: 'त्यागपत्र' (१९५०) बम्बई: पं०सं०, पृ०- २०।

बना देती है[1]। इसी प्रकार शशि अनिता की भाँति नहीं कहती कि ब्याहता हूँ पति की भक्ति करती हूँ फिर भी हूँ[2]। और न मोहिनी की भाँति प्रेमी को सर्वस्व तथा पति की पत्नी होने की घोषणा ही करती है[3]। इसके विपरीत पति द्वारा अपमानित होकर भी वह उसकी निन्दा नहीं करती है। पति के निर्मम प्रहार से वह इतनी आहत हो गयी है कि उठ बैठ नहीं सकती, मुख से रक्त वमन हो रहा है, वह इसकी सूचना किसी को नहीं देती। उसके बाहर जाने पर पानी फेंकने की आवाज़ हाँफती हुई कराह, नल की बहती धार की आवाज़, शेखर सुनता है[4] तथा शेखर उसे सहारा देकर अन्दर लाता है उसका लेट न पाना ही पीड़ा का द्योतक है[5]। शरत की मुख्य नायिका पार्वती, राज्यलक्ष्मी की भाँति शेखर के लोटे की चोट खाकर उसने उस को सदैव के लिए अपना बना लिया था।

१- देवराज : "पथ की खोज", "स्वप्न और जागरण" (१९५१) उ०प्र०, पृ०- ३७३-५।

२- जैनेन्द्र : "व्यतीत" (१९६२) दिल्ली : तृ०सं०, पृ०- १२३।

३- जैनेन्द्र : "विवर्त" (१९५७) दिल्ली : द्वि०सं०, पृ०- २६।

४- अज्ञेय : शेखर एक जीवनी (१९४७) पु०भा० बनारस : द्वि०सं० पृ०- १७८।

५- "नहीं, कुछ नहीं है शेखर! — किन्तु चारपाई पर लेटती हुई शशि फिर एकाएक सिकुड़ कर के अधबैठी रह गई, फिर मुश्किल से एक करवट सिमट कर निश्चल हो गई, एक हाथ धीरे-धीरे माथे तक गया और टिक गया : उंगलियाँ सरक कर केशों की ओर बढ़ीं और तीन नख बीर-बहूटी से ओझल हो गए- एकाएक शेखर ने देखा कि यद्यपि शशि की आँखें खुली हैं तथापि वह न कुछ देखती है न जानती है, यह भी नहीं कि शेखर कहाँ है या कि वह है भी ————"
अज्ञेय : "शेखर एक जीवनी" (१९४७) पु०भा०, बनारस : द्वि०सं०, पृ०- १७८-९।

विधावती के परिताप के क्षणों में इस सत्य की व्यंजना हुई है[1]। मनोविज्ञान के गहरे संस्पर्श के कारण शशि एक अविस्मरणीय पात्री हो गई है। शिल्प की दृष्टि से अब तक की नारी पात्राओं की तुलना में वह महान् है। शेखर के प्रति प्रेम को वह कहीं व्यक्त नहीं करती बस वह उसे कर्तव्य के प्रति प्रेरित करती थी उसके प्रेमी हृदय का चित्रण कलात्मक रूप में हुआ है जो दुर्लभ है। शेखर के चुम्बन से वह विकल हो जाती है क्योंकि उसने पति को पूर्णतः स्वीकार किया था। शेखर के कथन पर कि वह उसके उपयुक्त नहीं था, उसका फूट कर रोना और कहना कि वह तो अपने प्यार के लिए रोती है जो उसने उसे प्रदान किया था[2]। उसके कथन में व्यथा का आर्तनाद है। संयत प्रेम तथा हृदय की गंभीरता के कारण ही उसका व्यंजनात्मक चित्र प्राप्त हुआ है जो अभिनव तथा आकर्षक है।

निराधार प्रत्यक्षीकरण

८- स्वप्न की भांति निराधार प्रत्यक्षीकरण (हैल्युसिनेशन) भी व्यक्ति की मनोरचना है। व्यक्ति की आन्तरिक इच्छाएं ही स्वप्न रूप में प्रकट होती हैं

१- 'अच्छा शेखर, देखो, परमेश्वर क्या करता है—'शशि की ओर उन्मुख होकर 'शशि' "मैंने क्या तुझे इस दिन के लिए जना था' उनका स्वर फिर कांपने लगता है ---- एकाएक, 'शेखर क्या सचमुच तुम आत्मघात करने चले थे ?
लज्जित मौन ----
'इतनी-सी बच्ची थी यह, तब तुमने नहाते हुए लोटा मारकर इसका सिर फोड़ दिया था, तब भी यह तुम्हें बचाने के लिए झूठ बोली थी कि अपने आप लग गया- नालायक शुरू से ही तुम्हारा पक्ष लेती आई है- उनके स्वर की व्यथा-भरी फिड़की में कितना अभिमान है कितना माधुर्य— पर यह बात तो शेखर ने पहले नहीं सुनी, पूछता है 'कब, मौसी ?' और सोचता है कि आत्मघात की बात टल गई।
— अज्ञेय: 'शेखर: एक जीवनी': द्वि०भा० (१९४७) बनारस: द्वि०सं०, पृ०- १६१।
२- 'एकाएक और फूटकर बिखर कर शशि ने कहा, "मैं उससे कब रोती हूं- मैं अपने प्यार को रोती हूँ, जो मैंने उसे दिया"
— वही ,,, ,, पृ०- २२६।

इसी प्रकार जागृत अवस्था में कतिपय कारणों से व्यक्ति को स्वप्नवत् निराधार भ्रांति होती है जो यथार्थ ही उसे प्रतीत होती है। मानसिक विकृतिग्रस्त पात्र को यह अनुभूति साधारण मानव की अपेक्षा अधिक होती है। निराधार प्रत्यक्षीकरण के द्वारा भी चरित्र-शिल्प में पूर्णता का संन्निवेश हुआ है। चरित्र अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए निराधार प्रत्यक्षीकरण का शिकार हो जाता है यथा- 'सुनीता' (१९३५) का हरिप्रसन्न जो अपनी इच्छा पूर्ति के लिए संकट सूचक लाल रोशनी देख लेता है[1]। उपन्यासों में निराधार प्रत्यक्षीकरण का अनुभव करनेवाले पात्र अनेक हैं परन्तु शिल्प की दृष्टि से कल्याणी ही उल्लेखनीय है। समाज के समक्ष कल्याणी जिस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रही है वह यथार्थ नहीं है। मूल रूप में उसका पति अनुदार, अन्यायी, अत्याचारी है। परन्तु छद्मवेश में डा० असरानी (कल्याणी का पति) पत्नी का प्रशंसक, उदार मद् तथा सहयोगी पति है। वह पति के अत्याचार से त्रस्त है। तांगे से उतार कर सड़क पर उसका पति उसे जूतों से मारता है परन्तु वह मूक भाव से सहन करती है। चेतन रूप से वह उसकी प्रशंसा करती है किन्तु उसका अचेतन मस्तिष्क इस भयावह परिस्थिति से विकल होकर एक नारी की कल्पना कर लेता है जिसका गला घोंटा जा रहा है[2]। यह नारी वस्तुत: कल्याणी है। जैनेन्द्र ने उसके मानसिक संघर्ष को कलात्मक रूप से प्रस्तुत किया है, पूजा-पाठ में लीन कल्याणी अपनी व्यथा को भूलने में असमर्थ है। वह प्रीमियर से प्रेम करती थी परन्तु उसका विवाह डा० असरानी से होता है। कल्याणी का सचेतन मस्तिष्क पति के प्रति हिंसक भाव का दमन किए हुए है किन्तु अचेतन मस्तिष्क में वह महाराष्ट्रीय पुरुष के रूप में प्रस्तुत हुआ जो गर्भवती पत्नी का गला घोंट रहा है। इसके अतिरिक्त, एक अन्य कारण भी

१- जैनेन्द्रकुमार 'सुनीता' (१९५२) दिल्ली: पा०बु०ए० में द्वि०सं०, पू०सं०३ पृ०- २०९।

२- वही- 'कल्याणी' (१९४२) दिल्ली : पू०सं०- ८२-८३, ८३-८४।

है कि पर-पुरुष के प्रेम के कारण स्वयं को अपराधी भी समझती है। इसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी (१९०२) के 'प्रेत और छाया' (१९४४) में (पारसनाथ और मंजरी के) मिलन के क्षण में पारसनाथ मंजरी की मूर्ति की छाया को देखता है।[1] यह वास्तव में उसके अन्त:करण में व्याप्त दूषित मनोभावना की काल्पनिक छाया है। अचेतन मस्तिष्क के क्रियाकलापों के लिए निराधार प्रत्यक्षीकरण तथा स्वप्न ही उपयुक्त माध्यम है। इनके द्वारा ही उपन्यासों के असाधारण पात्रों की गुत्थियों का परिचय प्राप्त होता है जिससे वे विश्वसनीय प्रतीत होते हैं।

स्वप्न

१- स्वप्नों के माध्यम से भी पात्रों की आन्तरिक भावनाओं, अतृप्त इच्छाओं तथा कुंठाओं पर प्रकाश पड़ा है।[2] 'नदी के द्वीप' (१९५१) में रेखा

१- इलाचन्द्र जोशी: 'प्रेत और छाया' (१९४४) प्रयाग : पृ०सं०- १८०, १८२, १८३ ।

२- जयशंकर प्रसाद: 'तितली' (१९५१) इलाहाबाद : छ०सं०, पृ०- २१३ ।
इलाचन्द्र जोशी: 'संन्यासी' (१९५६) इलाहाबाद : छ०सं०, पृ०- ८६ ।
अज्ञेय: 'शेखर:एक जीवनी', प०भा० (१९६१) वाराणसी : स०सं०, पृ०- १३६-१४०, १८८ ।
वही ,, द्वि०भा० (१९४७) वाराणसी : द्वि०सं०, पृ०- २७, ३० ।
अज्ञेय: 'नदी के द्वीप' (१९५१) दिल्ली : प्र०सं०, पृ०सं०- ४१४-४१५
इलाचन्द्र जोशी: 'जहाज का पंछी' (१९५५) बम्बई : प्र०सं०, पृ०सं०- ४५०-४५१ ।

का स्वप्न[1] प्रतीकात्मक है। रेखा की इच्छा है कि उसके और भुवन के प्रेम को सामाजिक मान्यता प्राप्त हो, इसीलिए स्वप्न में पिता की उपस्थिति में भुवन पहुंचता है, नाव का शैवाल में उलझना कठिनाइयों का प्रतीक है, पानी का बालू में परिणत होना जीवन की नीरसता का द्योतक है, तथा चेहरे का बदलना परिवर्तित मनोवृत्ति का सूचक है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने विभिन्न मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर चरित्र प्रस्तुत किया गया है। स्वप्नों के द्वारा ही चरित्र में पूर्णता का समावेश हुआ है।

१- "फिर एक दिन स्वप्न में तुम्हें देखा था- देखा कि तुम हमारे घर आए हो- हमारे घर, मेरे माता-पिता और छोटे भाई सब की उपस्थिति में, और सबसे मिले हो, पिता तुम्हें बाहर नदी के किनारे की रौंस पर मेरे पास बिठा गए हैं, फिर हम लोग कागज़ की नावें बनाकर नदी में डालते हैं और उनका बह जाना देखते हैं। नावें कभी दूर-दूर तक चली जाती हैं कभी पास आ जाती हैं, कभी टकरा भी जाती हैं, कभी नदी में बहते हुए शैवाल से उलझ जाता है। सहसा देखती हूं कि उन्हीं हमारी कागज़ की नावों में हम भी बैठे हैं, रौंस पर बैठे देख भी रहे हैं- पर नावों में भी हैं, फिर नावें एक बालू के द्वीप में जा लगती हैं जहां हम उतर कर नावों को खींचने लगते हैं- पर नावों में बैठे भी रहते हैं। अब हम रौंस पर से देखते हैं नावों में बैठे भी हैं, नावों को खींच भी रहे हैं। फिर देखती हूं, बहुत से द्वीप हैं, हर एक पर हम नाव में भी बैठे, नाव को खींच भी रहे हैं, और रौंस पर देख तो रहे ही हैं। सहसा नदी का पानी बहती हुई सूखी बालू हो जाती है, और तुम्हारा चेहरा तुम्हारा नहीं, कोई और चेहरा है- तुम मुस्कराते हो तो वह चेहरा तुम्हारा भी भी है, पर नहीं भी है, मैं कहती हूं यह सपना है, जागेंगे तो तुम्हारा चेहरा दूसरा हो जायेगा तुम कहते हो, सपना थोड़ी देर और देखो न, फिर चेहरा बदल नहीं सकेगा। फिर मैं तुम्हारी मुस्कान देखती रही, थोड़ी देर में जग गयी।"
अज्ञेय: "नदी के द्वीप" (१९५२) दिल्ली : प्र०सं०, पृ०- ४१४-४१५

अन्तर्विवाद

१०- चरित्रों के मानसिक संघर्ष को व्यक्त करने के लिए उपन्यासकार ऐसे अन्तर्विवाद प्रस्तुत करता है जिसमें न तो कोई वक्ता होता है और न कोई श्रोता ही। पाठक पात्र की हृदयगत भावनाओं से प्रत्यक्षतः परिचित हो जाता है। अन्तर्विवादों की सफल योजना[1] कम उपन्यासों में हुई है। शिल्प की दृष्टि से "शेखर:एक जीवनी" (१९४०) में प्रस्तुत अन्तर्विवाद दर्शनीय है। शेखर किसी भी वस्तु को बाह्य धरातल पर स्वीकार नहीं करता, वह उसके अन्तराल में प्रवेश करता है। प्रतिमा के पहरेदार के स्थान पर शेखर पहरा दे रहा है। वर्षा-रात्रि में दूसरा स्वयंसेवक वहां आता ही नहीं। वह कर्तव्य पालन में संलग्न है। उसकी विचारधारा सक्रिय है। शेखर का मन विक्षुब्ध[2] है। चेतावनी देने के बावजूद भी

१- जयशंकरप्रसाद "कंकाल" (१९५२) इलाहाबाद: सं०सं०, पृ०- १८७-८।
प्रेमचन्द "गोदान" (१९४६) बनारस: द०सं०, पृ०- १५८-९।
जैनेन्द्रकुमार "सुनीता" (१९६२) दिल्ली: पा०बु०ए०, द्वि०सं०, पृ०-१३८-९, १७१-२।
अज्ञेय "शेखर:एक जीवनी" :दू०भा०(१९४७) बनारस: द्वि०सं०, पृ०सं०- ४५-६, ५७-८, ७९-८०।
इलाचंद्र जोशी "निर्वासित" (१९४६) इलाहाबाद: प्र०सं०,पृ०-३५५-६।

२- "नियुक्त अफसर (अनुशासन के नाम पर सब चिढ़ गये थे-हिंसा है। यदि यह हिंसा है तो कर्तव्य की- जीवन की ही भित्ति हिंसा पर कायम है। मैं कहूं, नियुक्त अफसर को निकाल कर रात भर इस वर्षा में खड़ा रखना चाहिए तो वह हिंसा है पर वह भी बिना कहे, बिना सुने अनेकों को रात भर य[illegible]ीगने और गलने दे तो वह हिंसा नहीं है ---- किसी से ऐसे कह दूंगा- तो वह कहेगा तुम्हें किसी से क्या, तुम निष्काम कर्म करते चलो। * + + +

त्याग---- त्याग मापने के लिए हर एक का अपना-अपना गज होता है और वह गज होता है उस व्यक्ति का अपना त्याग या त्याग करने की क्षमता ---- जो खुद कभी त्याग नहीं करता, वही हर जगह, हर समय त्याग की प्रशंसा करता है, --- अमुक ने इतना बड़ा त्याग किया, अमुक ने

जुआ खेलने वाले स्वयंसेवकों की वर्दी शेखर ने उतरवाई थी । विद्यार्थियों के आपत्ति करने पर सेनापति ने समझौता करने का सुझाव रखा था । सेनापति के पास बैठे खद्दरधारी महाशय ने कहा था कि दो व्यक्तियों को इस प्रकार खुले आम अपमानित करना हिंसा है । वहां शेखर शांत रह जाता है । इस क्रिया के फलस्वरूप उसकी चिंतन धारा अप्रतिहत गति से प्रवाहित होती है । चिंतन के द्वारा चरित्र पर प्रकाश पड़ता है परन्तु चेतना की धारा बिना किसी व्यवधान के अन्तर्विवाद में अप्रतिहत गति से प्रवाहित हो रही है ।

पत्रालेख तथा दैनन्दिनी

११- चरित्र-शिल्प की दृष्टि से पत्रों तथा दैनन्दिनी का महत्व है पत्रों के द्वारा विविध पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है[1] । शिल्प की दृष्टि से "नदी के द्वीप" (१९५१) के कुछ पत्र उल्लेखनीय हैं । इनमें कलात्मक सौंदर्य तथा नाटकी- -यता है । इसके पूर्व पत्रों के द्वारा उसके लेखक या अन्य पात्रों के चरित्र पर प्रकाश

शेषांक---

उतना भारी आत्मबलिदान कर दिया--- उसका मन इतना छोटा होता है कि सैकड़ों से कम की कोई वस्तु ही उसे नहीं दीखती --- और जो स्वयं त्याग करता है उसे जान ही नहीं पड़ता कि त्याग है क्या चीज़ ? अपने को दे देना उसके लिए साधारण दैनिकचर्या का एक अंग होता है, जो होता ही है, जिसे देखकर विस्मय-कौतूहल, श्लाघा किसीसे भी रोमांच नहीं होता, मुखर भावुकता नहीं फूटती -----"

— अज्ञेय "शेखर:एक जीवनी":द्वि०भा०(१९४७)बनारस: द्वि०सं०, पृ०- ४५ ।

१- जयशंकर प्रसाद: "कंकाल" (१९५२)इलाहाबाद:सं०सं०,पृ०सं०- २८६-९० ।
प्रेमचंद: "कर्मभूमि" (१९६२)इलाहाबाद:ब०सं०,पृ०- १५६,१६०,१६१,२२५,२२६
जयशंकर प्रसाद: "तितली" (१९५१)इलाहाबाद:इ०सं०,पृ०सं०- २४३-४ ।
जैनेन्द्रकुमार: "सुनीता" (१९६२)दिल्ली:पा०बु०र०, द्वि०सं०,पृ०- १६१-३ ।
अज्ञेय: "नदी के द्वीप" (१९५१) दिल्ली: प्र०सं०, पृ०- ४००, ४०१, ४०२, ४१५-६ आदि ।

पड़ा । यह शिल्प वर्णनात्मक शिल्प का एक ही रूप प्रतीत होता है । अन्तर यही है कि वर्णनात्मक शिल्प में उपन्यासकार लिखता है । इसमें पात्र किसी भी विषय पर प्रकाश डालता है । किन्तु पत्र लिखते समय पत्र-लेखक की मानसिक प्रक्रिया का जीवन्त चित्र 'नदी के द्वीप' (१९५१) में उपलब्ध होता है[१] । इसी प्रकार दैनन्दिनी के द्वारा भी पात्रों की मनोभावना विचार तथा चारित्रिक विशेषताएं स्पष्ट हुई हैं[२] । 'कंकाल' (१९२९) में दैनन्दिनी का प्रयोग तो नहीं हुआ है किन्तु इसके अन्तर्गत गाला की माँ की लिखित जीवनी का उल्लेख हुआ है ।

१- 'आग से तुम नहीं डरोगे अब- किसी नीचु से नहीं डरोगे । आग को मैं सुगन्धित कर दूंगी, शिखा: जरूरत होगी तो स्वयं उसमें होम हो जाऊंगी पर तुम नहीं डरोगे, मुझे वचन दो, अपने को नहीं सताओगे, डर से नहीं परिताप से नहीं-- औ-- हां, प्यार से भी नहीं- वह तुम्हें क्लेश दे तो उसे भी हटा देना । तुम देवत्व की सांस लो, देवत्व की शिखा हो जिसे मैं अन्त:करण में पालूंगी ------'

पन्ना उलट कर गौरा रुक गई । पिछले तीन घंटों का दृश्य उसके मन में फिर उभर आया । उसे ध्यान आया, उसने जब-जब पूछा था कि तुम भाग तो नहीं जाओगे-- तब-तब भुवन ने बात पलट दी थी, उत्तर नहीं दिया था । तो क्या वह उसे छोड़ कर चला जायगा- क्या वैसा इरादा उसने कर रखा है ,

गौरा इसे अभी नहीं सोचेगी ? * * * फिर उसने लिखना आरंभ किया ।

'वचन दो कि तुम अपने को अनावश्यक संकट में नहीं डालोगे --- जो आवश्यक है उससे मेरी होड़ नहीं, वह तुम्हें पुकारे उसे तुम वरो, पर जो अनावश्यक है, उसे तुम नहीं पुकारोगे ।

पेंड को थोड़ा परे सरकाकर, उसने नि:स्वन ओठों से पुकारा, 'भुवन', फिर वैसे ही दुबारा 'भुवन'? ----- आदि ।

— अज्ञेय 'नदी के द्वीप'(१९५१) दिल्ली : प्र०सं०, पृ०- ३०१-२ ।

२- जयशंकर प्रसाद 'तितली'(१९५१)इलाहाबाद:ष०सं०,पृ०-१०९-११०,१११-११३ भगवतीप्रसाद वाजपेयी 'चलते चलते'(१९५१) दिल्ली :प्र०सं०,पृ०- ५९६ ।

जो दैनन्दिनी का ही बृहत् रूप है तथा इसके द्वारा भी कुछ चरित्रों पर प्रकाश पड़ा है[1]। दैनन्दिनी तथा पत्रात्मक शिल्प के द्वारा नीरस इतिवृत्तात्मकता का परिहार हो जाता है।

उद्धरणात्मक

१२- प्रारंभिक उपन्यासों में उद्धरणों का प्रयोग बहुलता से होता था। परन्तु चरित्र-शिल्प में उनका योगदान नगण्य था। पात्रों की आन्तरिक इच्छाएं, भावनाएं, तथा मनोभाव आदि उद्धरणों के माध्यम से व्यक्त हुए हैं। फलत: उपन्यासों में कलात्मकता का सन्निवेश हो गया है। कविताओं, गीतों के माध्यम से शशि शेखर के प्रेम की अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है[2]। मृत्यु की छाया में प्रेम ज्ञापन के लिए शशि शेखर से आग्रह कर कविता सुनाती है[3]। सामाजिक दृष्टि

१- जयशंकर प्रसाद: "कंकाल" (१९५२) इलाहाबाद: स०सं०, पृ०- १६६, २०४, २१४, २१५।

२- अज्ञेय "शेखर: एक जीवनी" I द्वु०भा० (१९४७) बनारस: द्वि०सं०, पृ०- १७०, २४१-२४२।

३- "शेखर पढ़ने को हुआ, आधी पंक्ति पढ़कर रुक गया; फिर एक बार शशि के चेहरे की ओर देख कर धीरे-धीरे पढ़ने लगा।

I want to die while you love me
While yet you hold me fair,
While laughter lies upon my lips
And lights are in my hair
I want to die while you love me.
Oh who would care to live
Till love has nothing more to ask
And nothing more to give,?
I want to die —

एकाएक रुककर उसने कहा- नहीं, शशि मैं नहीं पढूंगा यह और कविता की टेक का और शशि के उस समय उसे पढ़वाने का गूढ़तर गुरुतर अभिप्राय उसकी आत्मा में पैठ गया---

नहीं, बिल्कुल नहीं।"

अज्ञेय: "शेखर: एक जीवनी" द्वु०भा० (१९४७) बनारस: द्वि०सं०, पृ०- २४१-२४२

से शशि और शेखर का प्रेम अनुचित है । इस कारण यह स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं होता । यह प्रेमी के समक्ष मृत्यु की कामना के रूप में व्यक्त हुआ है । इसी शिल्प का आश्रय 'नदी के द्वीप' में भी उपन्यासकार ने ग्रहण किया है । 'तोमार सुरेर धारा झरे जेथाय तारि पारे । दे वे कि गो वासा आमाय देबे कि एकटि धारे । तोमार.... तारि पारे ।

आमि शुनबो ध्वनि काने आमि भरबो ध्वनि प्राणे

आमि शुनबो ध्वनि सेइ ध्वनि ते चित बीणाय तार बांधिबो बारे-बारे ।

तोमार सुरे धारा झरे जेथाय तारिपारे

देबे कि गो वासा आमाय देबे कि [1]

रेखा भुवन के निकट रहना चाहती है इसे ही वह गीत के आश्रय से प्रकट करती है । वह प्रश्न करती है कि उसे उसकी स्वर-धारा के पार आवास मिलेगा । उस स्वर को वह धारण करेगी और वीणा के तार की भांति ही उसे बांधना चाहेगी । इस गीत से भुवन मुग्ध हो जाता है । ऐसे ही क्षण में मरना उसे उचित प्रतीत होता है क्योंकि यह फुलफिलमेंट है जो जीवन की निस्सारता को सार्थक बना दे । अतएव भुवन रोमानी कल्पना करता है कि वह पहाड़ से कूद पड़े और रेखा देखे कि वह नहीं है [2] । उद्धरणों के मिस पात्रों की आकांक्षाओं तथा मनोभावनाओं का सफल चित्रांकन हुआ है । इस प्रकार के शिल्प में अज्ञेय : १६११: सिद्धहस्त हैं ।

१- अज्ञेय : 'नदी के द्वीप', १६५१, दिल्ली, प्र०सं०, पृ० २०८

२- वही : पृ० २०८-६

कुछ अन्य प्रणालियाँ

१३- चरित्रों की मानसिक गुत्थियों के निराकरण के लिए उपन्यासकार ने कतिपय विधियों का प्रयोग किया है यथा कुछ स्थानों पर सम्मोहन कला का भी प्रयोग हुआ है[1] और कहीं मुक्त आसंग प्रणाली[2] का, जिसमें पात्र को ऐसी स्थिति में रख दिया जाता है कि वह अतीत की घटनाओं का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करता जाता है। उदाहरणार्थ- सुनीता :१९३५: रिवाल्वर के सम्बन्ध में हरिप्रसन्न से प्रश्न कर रही है। हरिप्रसन्न की मानसिक स्थिति ऐसी हो जाती है कि वह उसके प्रत्येक प्रश्न का सम्यक् उत्तर देता है। वह उससे कहती है कि चला कर दिखाओ। उसके विस्मय पर वह पुनः कहती है। वह नशे से भर कर उसके समीप बैठ जाता है। हरिप्रसन्न रिवाल्वर की नली को अपनी कनपटी पर टिका कर प्रश्न करता है कि यदि वह कहे तो चलाकर दिखाए। सुनीता भयभीत हो जाती है। हरिप्रसन्न का कुंठित व्यक्तित्व उसके नैकट्य से तृप्ति का अनुभव करता है और वह वहां पर सहज सामान्य व्यक्ति की भांति व्यवहार करता है[3]। इसके अतिरिक्त, बाधकता विश्लेषण प्रणाली के द्वारा भी चरित्र-शिल्प की स्वाभाविकता अक्षुण्ण रहती है क्योंकि कुछ मनोभाव ऐसे भी होते हैं जिन्हें व्यक्ति किसी के आगे प्रकट नहीं करना चाहता। उपन्यासकारों ने चरित्र-शिल्प में बाधकता विश्लेषण प्रणाली का प्रयोग भी किया है[4]।

१- जैनेन्द्र :`कल्याणी`, दिल्ली; पृ० २१-२३, ३८, ११३ -५, १३२-४, १४१ आदि

इलाचन्द्र जोशी :`निर्वासित`: १९४६, इलाहाबाद, पृ० ८२-५, ४०२-३, ४०४-५ ४०६ ।

,, :`जिप्सी`, १९५२, इलाहाबाद, प्र०सं०, पृ० २६, ५५, ५६ आदि

२- जैनेन्द्र: `त्यागपत्र`, १९५०, बम्बई, पं०सं०, १०, ४९, ५०, ५४-५, ६६

,, :`सुनीता`; १९६२, दिल्ली, पा०बु०ए०, द्वि०सं०, पृ० १६६-७०, २०९, २१

इलाचन्द्रजोशी :`निर्वासित`, १९४६, इलाहाबाद, पृ० ८२-५

३- " मैं मरना नहीं चाहता, लेकिन कहो तो चलाकर बता सकता हूं। मेरे जीने में रस क्या है, अर्थ क्या है ? .... इसके चलाने में कुछ भेद नहीं है, भाभी ! यह घोड़ा है, दबाया कि चला। कहो भाभी, चलाऊं ?"

—जैनेन्द्र :`सुनीता` १९६२, दिल्ली, पा०बु०ए०, द्वि०सं०, पृ० ९७

४- जैनेन्द्र :`कल्याणी` : दिल्ली; पृ० २३, ३४, ७६ आदि।

विशेषताएं

१४- उपन्यास बृहत् संख्या में लिखे जा रहे हैं किन्तु उन्हीं उपन्यासों का महत्त्व है जिनमें शिल्पगत सौंदर्य होता है। यदि उपन्यासों के चरित्र में कतिपय विशेषताओं का समावेश न हो तो उनका महत्त्व कम हो जाता है।

स्वाभाविकता-

१५- प्रारम्भिक उपन्यासों में चरित्र-शिल्प की दृष्टि से स्वाभाविकता का अभाव है। किन्तु स्वाभाविकता के बीज का वपन अवश्य इनमें हो गया। 'गिरवी का लड़का' में ठग के हृदय -परिवर्तन के मूल में है वात्सल्य भाव। अपनी पुत्री प्रेमवती के कारण ही ठग श्यामसुन्दर का वध नहीं कर पाता है क्योंकि प्रेमवती ने पिता से कहा कि वह क्या वेश्या है जो बार बार स्वामी बनाये। इस पर ठग कहता है 'मेरी प्रेमवती तूने बाप को ठग लिया। किन्तु श्यामसुन्दर विवाह के लिए प्रस्तुत नहीं होता क्योंकि वह ठग की पुत्री है। पुत्री के लिए वह ठगी का परित्याग कर दरिद्रों की सहायता का प्रण करता है[१]। हृदय-परिवर्तन का आधार अवश्य स्वाभाविक है परन्तु इसका शिल्प अविश्वसनीय है। व्यक्ति इतनी सरलता से अभ्यस्त वृत्ति से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। पात्र के संस्कार और परिस्थिति के संघर्ष के मध्य में चरित्र की छटा इस काल में नहीं दृष्टिगत होती है। किन्तु यत्र तत्र चरित्र में स्वाभाविकता की झलक दृष्टिगत होती है। मानव कभी कभी उत्तेजनावश कार्य करता है परन्तु जैसे ही तीर हाथ से निकलता है कि उसे पश्चाताप होने लगता है। चमेली पति और बालक का परित्याग कर अपने प्रेमी कमलकिशोर के साथ निकल पड़ती है। परन्तु ट्रेन में बैठते ही उसे पश्चाताप होने लगता है। ट्रेन के चलते ही वह पति के पास जाने के लिए विकल होती है। तभी कमलकिशोर उसे शराब से बेसुध कर देता है। चेत आते ही उसका बिलख-बिलख कर रोना और

शेष- इलाचंद्र जोशी : 'निर्वासित' :१९४७,इलाहाबाद,पृ० ६६ आदि।

१- कुन्दनलाल गुप्त :'गिरवी का लड़का';लाहौर, पृ० ५१

घर जाने के लिए कमलकिशोर से प्रार्थना करना, इसका सूचक है कि पात्र-चित्रण बाह्य धरातल पर हुआ है।[1] जिस गंभीरता से प्रेमी तथा पत्नी नारी के संघर्षों का चित्रण होना चाहिए, उसका यहां अभाव है। उसके पश्चाताप में असामान्य-त्वरा है। कमलकिशोर के दुर्व्यवहार से क्षुब्ध होकर उसे गृह तथा बालक की याद आती तो शिल्प की दृष्टि से चपला का चित्रण स्वाभाविक होता।

१६- चरित्र-शिल्प की दृष्टि से प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: के उपन्यासों का विशिष्ट स्थान है। इनके ही उपन्यासों में सर्वप्रथम चरित्रों के विकास में शिल्पगत स्वाभाविकता दृष्टिगत होती है। कुलवधू सुमन वेश्या क्यों बनी ? क्या केवल बाह्य परिस्थितियां ही इसके लिए उत्तरदायी हैं ? उपन्यासकार ने समझ लिया था कि परिस्थितियां ही केवल व्यक्ति की भाग्यविधायिका नहीं है। उसके उत्थान स्खलन तथा पतन में उसकी प्रवृत्तियां भी सहायक या बाधक होती हैं। सुमन के पतन में प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों दोनों का ही योगदान है। सुमन का पति गजाधर ऐसा व्यक्ति है जो उसकी कठिनाइयों को समझने में असमर्थ है,[2] वह उसके सौंदर्य की प्रशंसा नहीं करता। उसका हृदय सौंदर्य की प्रशंसा प्राप्त करने के लिए इतना विकल है कि वह दवार से आते-जाते लड़कों को अपनी छटा चिक की आड़ से दिखाकर सन्तुष्ट होती है[3]। इसके अतिरिक्त, वह देख चुकी है कि

१- किशोरीलाल गोस्वामी :"चपला वा नव्य समाज" चित्र", दू०भा०.१९१५, मथुरा; द्वि०सं०, पृ०७०-७१

२- प्रेमचन्द :"सेवासदन" : बनारस, पृ० ३३

३-" स्कूल से आते हुए युवक सुमन के द्वार की ओर टकटकी लगाते हुए चले जाते। शोहदे उधर से निकलते तो राधा और कान्ह के गीत गाने लगते। सुमन कोई काम करती हो, पर उन्हें चिक की आड़ से एक झलक दिखा देती। उसके चंचल हृदय को इस ताक-झांक में असीम आनन्द प्राप्त होता था। किसी कुवासना से नहीं, केवल अपने यौवन की छटा दिखाने के लिए, केवल दूसरों के हृदय पर विजय पाने के लिए, वह खेल खेलती थी।"

-- प्रेमचन्द :"सेवासदन" बनारस, पृ० २३-२४

समाज में वेश्या का सम्मान कुलवधू की अपेक्षाकृत अधिक है[1]। इसका प्रभाव उसके हृदय पर पड़ता है। उपन्यास के बीच में सर्वप्रथम सुमन के चरित्र में बाह्य घटनाओं की मानसिक जगत् की प्रतिक्रिया का चित्रण हुआ है। सुमन का चित्रण उसके संस्कार, जन्मजात प्रवृत्तियों तथा बाह्य-परिस्थितियों के संघर्ष का परिणाम है। गजाधर द्वारा निष्कासित वह वकील पं० पद्मसिंह शर्मा के यहां आश्रय ग्रहण करती है। लोकनिन्दा के भय से वकील साहब के आदेश से वह उनका गृह त्यागने को बाध्य होती है[2]। यदि वह रूप की प्रशंसा पाने की इच्छुक न होती तो संभवत: वह कहीं मेहनत मजूरी कर भोजन की समस्या का निदान कर सकती थी। परन्तु उसका सौन्दर्य तृषित हृदय अतृप्त था। इसलिए पं० पद्मसिंह शर्मा के यहां शीशे में स्व-छवि देख कर भोलीबाई के अंगों से अपनी तुलना करती है[3]। परिस्थितियों द्वारा जब वह आश्रय प्राप्ति के लिए विवश हो जाती है, वह भोली बाई के यहां ही आश्रय ग्रहण करती है। वहां स्नान कर जब वह अपनी छवि देखती है तो वह लज्जायुक्त अभिमान से पुलकित हो जाती है[4]। परिस्थिति ने उसे गृहत्यागने के लिए विवश किया तथा आन्तरिक प्रवृत्तियों ने उसे कोठे पर लाकर बैठा दिया। परिस्थिति एवं प्रवृत्ति के संयोग से सुमन के सहज स्वाभाविक चरित्र का विकास `सेवासदन` :१९१८: में हुआ है। इसके अनन्तर अनेक उपन्यासों के अनेक

१- प्रेमचन्द : `सेवासदन`, बनारस, पृ० २९-३०, ४१, ४४, ३१-२, ३४-३५ आदि

२- वही : पृ० ५३

३- " सौंदर्य ? हां, हां, वह रूपवती है, इसमें सन्देह नहीं। मगर मैं भी तो ऐसी बुरी नहीं हूं, वह सांवली है, मैं गोरी हूं। वह मोटी है, मैं दुबली हूं।

पंडितजी के कमरे में एक बड़ा शीशा था। सुमन इस शीशे के सामने जाकर खड़ी हो गयी और उसने अपना नख से शिख तक देखा। भोलीबाई के अपने हृदयांकित चित्र से एक-एक अंग की तुलना की।"

-प्रेमचन्द: `सेवासदन` :१: बनारस, पृ० ४१

४- वही : पृ० ६०

पात्रों का चित्रण प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों के संघर्ष के द्वारा हुआ है जिनमें शिल्प की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं -`चित्रलेखा` के बीजगुप्त चित्रलेखा तथा`गोदान` के होरी,धनिया,मेहता,मालती आदि,`झांसी की रानी-लक्ष्मीबाई` की लक्ष्मीबाई,मोतीबाई आदि,`दुश्चरित्र`(१९४६) का रामधारी,,`मैला आंचल` (१९५४) के बालदेव,बावनदास,लक्ष्मी दासी आदि ।

१७-`चित्रलेखा`के पूर्व भी `प्रेमाश्रम` का प्रेमशंकर,`रंगभूमि`के विनय एवं सूरदास,`कर्मभूमि` के अमरकान्त जैसे आदर्श,परन्तु विश्वसनीय चरित्रों की अवतारणा हो चुकी थी । इनके प्रति कतिपय समीक्षक न्याय नहीं कर सके हैं[१]। उन्होंने इन्हें आवारा,निष्क्रिय तथा काल्पनिक पात्र कहा है। ये बहुचर्चित पात्र हैं । ये आदर्श तथा स्थिर पात्र हैं । परन्तु उपन्यासकार का चरित्र-शिल्प इस दृष्टि से सराहनीय है कि आदि से अन्त तक आदर्शमूर्ति होते हुए भी स्थिर पात्र देव प्रतिमा नहीं प्रतीत होते हैं । उपन्यासकार ने प्रसंगवश इन पात्रों की क्षणिक मानवीय दुर्बलता का प्रदर्शन कर उन्हें यथार्थ,जीवन्त तथा सजीव मानव के रूप में प्रस्तुत किया है। अधिकार गर्व मानव का रूपान्तर कर देता है । उसका उदाहरण चक्रधर है जो परसेवी तथा शोषितों का परम हितैषी है । किन्तु जब उसे ज्ञात होता है कि उसकी पत्नी राजा विशालसिंह की पुत्री है तो उसकी परिवर्तित मनोवृत्ति का चित्र जो प्रेमचन्द ने प्रस्तुत किया है वह अत्यधिक स्वाभाविक है । मार्ग में एक सांड़ के मिलने पर वह क्षुब्ध होकर जाता है तथा मन में सोचता है कि यदि उसे ज्ञात हो जाए कि सांड़ किसका है तो वह उसकी सम्पत्ति बिकवा ले । यही नहीं, रात्रि में जब कृषक मोटर में धक्का लगाने के लिए प्रस्तुत नहीं होते तो क्रोधावेश में उसका उन्हें हण्टर से प्रहार करना[२] स्वाभाविक प्रतीत होता है । इसी प्रकार वीर पालसिंह जब जेल में सुरंग खोद कर विनय को मुक्त करना चाहता है, विनय वहां से जाने -

----

१- मन्मथनाथ गुप्त:धीर रमेन्द्र:`कथाकार प्रेमचन्द:`१९५७,इलाहाबाद,प्र०सं०पृ०३२५,३७२-३,६६५आदि
इलाचन्द्र जोशी:`विश्लेषण`,१९५४,भागलपुर,२,प्र०सं०पृ०५२,५३ आदि
२-प्रेमचन्द :`कायाकल्प` १९५३,बनारस,न०सं० पृ० २४७

को प्रस्तुत नहीं होता जब तक कि न्यायालय उसे मुक्त न कर दे । वही मां की रुग्णावस्था का समाचार सुनकर दीवार फांद कर बाहर जाने को सन्नद्ध होता है ।[1] क्रान्तिकारियों द्वारा सोफी के पत्थर लग जाने पर उसका क्रान्तिकारी वीरपाल पर गोली चलाना[2] तथा सोफी के लुप्त हो जाने पर विनय का क्रान्तिकारी दल का शत्रु हो जाना तथा शासनतंत्र का दाहिना हाथ बनना,[3] तथा सोफी के प्रेम की प्राप्ति के लिए उसका तांत्रिक प्रयोग कराना[4] प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: के चरित्र-शिल्प की स्वाभाविकता का द्योतक है । जीवन में कुछ क्षण ऐसे होते हैं जब कि ममत्व और प्रेम कर्तव्य पर विजय प्राप्त कर लेते हैं । आदर्श मानव भी जीवन के कुछ क्षणों में कर्तव्य च्युत हो सकता है यह चक्रधर तथा विनय के चरित्र में स्पष्टत:दृष्टिगत होता है । मां की ममता ही विनय को कारावास से भागने के लिए प्रेरित करती है तथा सोफी का प्रेम ही उसे देशद्रोही बना देता है । उसकी दुर्बलता ही उसे स्वाभाविक और सजीव बना देती है । प्रारम्भिक उपन्यासों के चरित्र-शिल्प की भांति यहां यांत्रिकता नहीं है । विनय का चरित्र लेखक के प्रभाव से मुक्त होकर स्वत: विकसित होता है ।इसी प्रकार 'रंगभूमि' :१९२६-७: का सूरदास आदर्शमूर्ति है । वह बहुचर्चित व्यक्ति है । उसका चिंतन, कथन,कार्यप्रणाली गांधीवादी है किन्तु उपन्यासकार के शिल्प की विशेषता है कि उसने सूर को काल्पनिक मूर्ति नहीं बना दिया है । क्षमामूर्ति सूर के रोष का सुन्दर उदाहरण हमें तब प्राप्त होता है जब कि मिठुआ के चिढ़ाने पर भैरो उसे पीटता है और इससे क्रुद्ध होकर वह भैरो को बालक की भांति चिढ़ाता है ।[5]

१- प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' : इलाहाबाद; पृ० ३०५,३०६

२- वही : पृ० ३०९

३- वही : पृ० ३१६-७, ३१८, ३२७ आदि

४- वही : पृ० ४३५, ४३६, ४३७

५- वही : पृ० ५९

सब के हंसने पर वह क्षुब्ध हो जाता है। उसे अपनी असमर्थता का अनुभव होता है। फलत: आत्मगौरवजन्य रोष-भाव से अनुप्राणित हो कर, वह अपनी जमीन बेचने के लिए प्रस्तुत हो जाता है[1], जिसे बेचने के लिए वह पहले प्रस्तुत न था। वह ताहिर के पास जाता है। ताहिर के कथन कि साहब मुंहमांगा मूल्य देने को प्रस्तुत है, परन्तु वह बेचने के लिए तत्पर नहीं है, उसके जन्मजात संस्कार जाग ही जाते हैं। फलत: ताहिर और चौधरी के समझाने पर भी वह धरती को बेचने के लिए प्रस्तुत नहीं होता[2]। अपने पति भैरो के अत्याचार से त्रस्त होकर सुभागी सूर की शरण लेती है। उसकी सेवा परायणता देख कर सूर के मन में सुभागी के प्रति दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है[3]। फलत: युगमूर्ति के रूप में चित्रित होते हुए भी कुछ स्थलों की दुर्बलता के कारण वह उदात्त मानव प्रतीत होता है जो स्वाभाविक तथा सजीव रूप में प्रस्तुत हुआ है[4]। इस प्रकार के आदर्श पात्रों में सुरा सुन्दरी में निमग्न बीजगुप्त का चरित्र उल्लेखनीय है। चित्रलेखा के प्रति उसका प्रेम तथा नैतिक साहस सराहनीय है। वह बिना किसी संकोच के भरी सभा में घोषित कर देता है कि उसका और चित्रलेखा का परस्पर सम्बन्ध पति-पत्नी का है। उसकी महानता का उद्घाटन भी लेखक ने युक्ति से किया है। चित्रलेखा की अनुपस्थिति में वह यशोधरा से विवाह करने का निश्चय करता है, किन्तु गुरुभाई एवं सेवक श्वेतांक उससे यशोधरा से विवाह करने की इच्छा प्रकट करता है। इससे वह क्षणेक के लिए उद्विग्न तथा विचलित हो जाता है[5]। लेखक ने उसके अन्तर्द्वन्द्व का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। श्वेतांक का

१- प्रेमचन्द : "रंगभूमि" : इलाहाबाद, पृ० ६०,६१,५०७ आदि

२- वही : पृ० ६२,६३

३-" मैं कितना अभागा हूं। काश यह मेरी स्त्री होती तो कितने आनन्द से जीवन व्यतीत होता। अब तो भैरो ने इसे घर से निकाल ही दिया, मैं रख लूं, तो इसमें कौन सी बुराई है। इससे कहूं, न जाने अपने दिल में क्या सोचे। मैं अन्धा हूं, तो क्या आदमी नहीं हूं? बुरा तो न मानेगी? मुझसे इसे प्रेम न होता, तो मेरी इतनी सेवा क्यों करती?" ---वही : पृ० ३३७

४- भगवतीचरण वर्मा : "चित्रलेखा", १९५५, इलाहाबाद, बा०सं०, पृ० ८६

५- वही : पृ० १८०,१८१

यशोधरा से विवाह हो सके इसलिए वह अपनी समस्त सम्पत्ति तथा पदवी श्वेतांक के लिए त्याग देता है[१]। बीजगुप्त का त्याग स्वाभाविक है क्योंकि इस विरक्ति के मूल में है चित्रलेखा के प्रति एकनिष्ठ सच्चा प्रेम। श्वेतांक की इच्छा से अवगत होकर ही वह आत्मविश्लेषण कर इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि संभवत: वह यशोधरा से विवाह कर प्रेम न कर सके, फलत: यशोधरा तथा बीजगुप्त दोनों का ही जीवन वह दुखमय कर सकता है[२]। चित्रलेखा के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का ही परिणाम है महान् त्याग[३]। यह उपन्यासकार के शिल्प की ही विशेषता है कि चरित्र की महानता नैसर्गिक तथा अकृत्रिम प्रतीत होती है। यही नहीं, कुमारगिरि योगी की वासना का शिकार चित्रलेखा को भी वह क्षमा प्रदान कर देता है[४]। विलास-सुरा-पंक में निमग्न आत्मा-कमल की महानता तथा दिव्यता का यह चित्र स्वाभाविक भव्य तथा अनुपम है।

१८- आदर्शवादी पात्रों की मानवीय दुर्बलता के प्रदर्शन के लिए उपन्यासकारों ने विविध विधियों का अवलम्बन ग्रहण किया है। कुछ कारणों से इन पात्रों का स्खलन हो जाता है यथा- प्रत्यक्षत: बीजगुप्त की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर चित्रलेखा उसका परित्याग कर चली जाती है। बीजगुप्त जब यशोधरा से विवाह करने का निश्चय करता है उस समय श्वेतांक यशोधरा के प्रति प्रणय की सूचना देता है। बाह्य परिस्थितियों के आश्रय से ही इन पात्रों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत हो पाता है। ~~इन मनर्म परिस्थितियों~~ की अग्नि-परीक्षा में ही उनका उदात्त व्यक्तित्व प्रस्फुटित होता है। फलत: आदर्श तथा स्थिर पात्र होते हुए

१- भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' : १९५५, इलाहाबाद, बा०सं०, पृ० १८७

२- ,, : पृ० १८१

३- " बीजगुप्त अपने को सम्हाल न सका, उसने कहा - हाय रे! यदि प्रेम ही मर जाता तो मैं यह वैभव काहे को छोड़ता? चित्रलेखा, मैं चाहता हूं कि मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति प्रेम मर जाता। पर यह न हो सका- यह न हो सकेगा।"
- वही : पृ० १९१

४- वही : पृ० १९२

भी ये आकर्षक, स्वाभाविक और सजीव प्रतीत होते हैं। 'गोदान' : १९३६ : के पात्र उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द के चरित्र-शिल्प का सर्वोत्तम विकास इस उपन्यास में हुआ है। आदर्श पात्रों की दुर्बलता का चित्रण वे पहले ही कर चुके थे। इसमें आदर्श और यथार्थ की गंगा-जमुना में होरी की मानवता संगम-सी आभा प्रदर्शित कर रही है। होरी के चरित्र का चित्रण स्वाभाविक प्रसंगों के माध्यम से हुआ है। वह आदर्श इतना है कि वह भाई की पत्नी पुत्री के लिए चौधरी से लड़ जाता है, भाई के यहां दारोगा तलाशी न ले इसके लिए वह ऋण भी लेता है। पर है वह पक्का कृषक। वह अपने वर्ग का सच्चा प्रतिनिधि है। घर में दो बार रुपये पड़े रहने पर भी रुपया न होने की झूठी कसम खा लेता है। सन को गीला कर देना रुई में कुछ बिनौले मिला देना, २० रुपया सैकड़े में लिये हुए बांस को पन्द्रह रुपए सैकड़े का बताना उसकी दृष्टि में पाप नहीं है। लेखक ने उसके अन्तर्द्वन्द्व का सजीव और स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है। उसके संस्कार कन्या विक्रय के विरुद्ध है। परन्तु वह अपनी परिस्थिति से विवश है। वृद्ध से कन्या का विवाह करते उसे भय लगता है परन्तु वह अपने मन को तर्कों से आश्वस्त करना चाहता है। जब वह रुपया लौटाने की बात सोचता है तो पाठक उसकी करुण स्थिति की कल्पना कर सिहर जाता है। होरी वास्तव में उस संघर्षशील महीप की भांति है जो अपने उदात्त संस्कारों के कारण विकट परिस्थितियों से लोहा लेता है। इस भीषण संघर्ष में वह चूर-चूर हो जाता है परन्तु वह झुकता नहीं। उपन्यासकार उसका स्वाभाविक चित्र अंकित करने में पूर्ण सफल हुआ है। ईमानदारी से श्रम करते हुए होरी और धनिया को दातादीन डांटते हैं, धनिया कटु उत्तर देकर क्रोध शांत कर लेती है परन्तु गमखोर होरी उन्मन की भांति कुछ काटते हुए, चकित हो जाता है। उनके संस्कार को देखते हुए यह विश्वसनीय प्रतीत होता है।

१- "उम्र की ऐसी बात नहीं। मरना-जीना तकदीर के हाथ है। बूढ़े बैठे रहते हैं, जवान चले जाते हैं। रूपा के भाग में सुख लिखा है, तो कहीं भी दु:ख नहीं पा सकती, और लड़की बेचने की तो कोई बात ही नहीं। होरी उससे जो कुछ लेगा, उधार लेगा और हाथ में रुपए आते ही चुका देगा। इसमें शर्म या अपमान की कोई बात नहीं है।" - प्रेमचन्द : 'गोदान' : १९४९; द०सं० बनारस पृ० ४७५

वही : पृ० २७७

इनके वचन तथा पात्रों की क्रिया के द्वारा उपन्यास में स्वाभाविक चरित्रों की अवतारणा हुई है। हिन्दी-उपन्यासों में होरी-धनिया अविस्मरणीय पात्र हैं। दो पात्रों के द्वारा प्रेमचन्द ने पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट किया है। होरी जहां शांत प्रकृति का दब्बू व्यक्ति है वहां वह उग्र प्रकृति की नारी है। वह व्यावहारिक तथा साहसी है। किन्तु उसका हृदय नवनीत के सा सुकुमार है।[1] उपन्यासकार ने आवेश के क्षणों में उसके वास्तविक चरित्र का उद्घाटन किया है। भाई के यहां तलाशी दारोगा न ले, इस हेतु के लिए होरी जब ऋण लेकर रुपया दारोगा को देने जाता है तो वह झपट कर रुपया छीन कर सबके समक्ष पंचों की भर्त्सना करती है तथा दारोगा एवं पंचों की सांठगांठ के लिए उन्हें खरी खोटी सुनाती है।[2] होरी को भी ऐसा फटकारती है कि उसका मुंह निकल आता है। परन्तु स्नेही स्वभाव के कारण आगत विपत्ति की चिन्ता न कर वह झुनिया और सिलिया को संरक्षण प्रदान करती है। धनिया के चरित्र-शिल्प पर शरत् का प्रभाव दृष्टिगत होता है। उनके नारी-चरित्र आदर्शवत् होते हैं। संस्कार एवं परिस्थिति के संघर्ष से सहज स्वाभाविक चरित्र-शिल्प का विकास `झांसी की रानी लक्ष्मीबाई`[3] :१९४६:, `मृगनयनी`[4] :१९५० : वैशाली की नगरवधू[5] :१९४९: `चीवर`[6] :१९५१ : `बहती रेता`[7] :१९५१: `सांझ का सूरज`[8] :१९५५: आदि में दृष्टिगत होता है। किन्तु शिल्प की दृष्टि से `मैला आंचल` :१९५४: के चरित्र द्रष्टव्य हैं। इनमें पात्रों की सहजस्वाभाविक झांकी की प्रस्तुतिकरण-शिल्प नवीन तथा अभिनव है। इसमें पात्रों का चित्रण प्रारम्भ अथवा अन्त से नहीं हुआ है।

१- प्रेमचन्द :गोदान`, १९४९, बनारस, द०सं० पृ० १६२, १६३, १६५, २०६-७, ३४३-४आदि

२- वही : पृ० १५२

३- वृन्दावनलाल वर्मा :`झांसी की रानी` :१९६१, झांसी, न०सं० पृ० १६, १८, २३, ६४, ११६, १६०-१, २१४, ३०५ आदि

४- वही :`मृगनयनी`:१९६२, झांसी, ग्या०सं० पृ० ४३, ५९, ११०, १७१, २१२, ३०४, ३०५ ३७८, ३८०, ४०५, ४०६आदि

५- चतुरसेन शास्त्री :`वैशाली की नगरवधू : पूर्वार्द्ध :१९४९, देहली, प्र०सं० पृ०४३-४४ २६४, २६५आदि

,, : उत्तरार्द्ध :१९५५, हि०उ०क०पब्लिशिंग हाउस, पृ० ३३, ३०३ ३०४आदि।

६- रांगेयराघव:`चीवर` :१९५१, इलाहाबाद, प्र०सं० पृ०१०६, १९८, १५५, २११आदि

इसमें चरित्रों की स्वाभाविक झांकी स्पष्ट रूप में प्रस्तुत हुई है । उदाहरणार्थ- बावनदास बालदेव से कहता है कि भारथमाता अब भी रो रही है । कांग्रेस का सभापति नागरमल है जिसने पिकैटिंग के दिन भौलनटियरों को पीटा था वह नरपतनगर थाना कांग्रेस का सभापति है तथा दुलारचन्दकापरा जो जुआ कम्पनी वाला है तथा लड़कियों का व्यवसायी है वह अब कटहा थाना का सिकरेटरी है। बावनदास रो जाता है । बालदेव इस सूचना से विकल हो जाता है । उसके चिंतन में उसका भोलापन व्यक्त हो रहा है[2]। इसके अनन्तर बावनदास की आकृति का वर्णन, उसका कांग्रेस में सम्मिलित होना तथा उसके जीवन से सम्बद्ध चुनी हुई घटनाओं के द्वारा उनके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है । अन्त में अवैधानिक व्यवसाय : Smuggling : के विरोध में बावनदास प्राणोत्सर्ग करता है[3]। उसके चरित्र की महानता के बीज प्रारम्भ में ही दृष्टिगत होते हैं जब कि वह चन्दे के पैसों से दो आने की जलेबी खा लेता है, उसका मन ग्लानि से भर जाता है ।जलेबी की घटना लघु है परन्तु अपने ढंग की अनुपम है । उसका स्खलन स्वाभाविक था परन्तु स्त्रियों का कष्टजन्य त्याग तथा दान ही उसके चरित्र का उन्नायक है । प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: के पात्र जहां किसी की भर्त्सना से सुधर जाते हैं वहां बावन का विवेक ही उसका पथप्रदर्शक है । शिल्प की दृष्टि से बावन का चित्रण यथार्थवादी है ।फलत: यह चरित्र विश्वसनीय है । इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि उसने स्त्रियों का गांधी जी के प्रति श्रद्धा-भाव देखा था । इसलिए उसकी वेदना प्रायश्चितस्वरूप

(हस्तलिखित: कांग्रेसी गुलाबी अब 'सोशलिस्ट पार्टी' में चला गया।)

१- फणीश्वरनाथ रेणु :"मैला आंचल":१९६१,नई दिल्ली; पा०बु०ए०डि०सं०, पृ० ४२,४४, ८१ आदि

२-" दुहाय गांधी बाबा ! चुन्नीदास को अपने शरण में ले लो प्रभु ! --विदेशी कपड़ा बैकाठ --नीमक कानून ---- जेल । गांजा --दारू छोड़िए प्यारे भाइयो! --जेल । व्यक्तिगत सत्याग्रह---जेल १९४२--जेल । --सबमिलाकर दस बार जेल यात्रा कर चुका है चुन्नी गुंसाई ।

--और वह सोसलिट पाटी में चला गया ?" --वही : पृ० १९३

३- वही : पृ० ३७३-४ ।

दो दिन का उपवास, उसके चरित्र की महानता का द्योतक है। लुप्त तारावतीजी को देख कर जब उसका चित्त विचलित हो जाता है, तत्क्षण ही वह स्वयं को पशु समझता है, बापू के चित्र को देख कर क्षमा याचना करता है। इस पाप के प्रायश्चितस्वरूप वह सात दिन का उपवास करता है।[2] जिस व्यक्ति के प्रारम्भ से ही इतने उदात्त संस्कार हैं वही अपकर्म के विरोध में शहीद होता है। इसका शिल्प पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न है। लघु फांकियों में ही उसके चरित्र की स्वाभाविक व्यंजना हुई है। 'चित्रलेखा' :१९३४: का बीजगुप्त तथा 'मैला आंचल' :१९५४: का बावनदास स्वभावत: आदर्श हैं। परन्तु इनकी प्रस्तुतिकरण-शिल्प यथार्थवादी हैं।

१९- गत्यात्मक पात्रों के चित्रण में भी प्रारम्भिक उपन्यासों की अपेक्षा स्वाभाविकता और विश्वसनीयता दृष्टिगत होती है। प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: के दिग्भ्रमित पात्रों का सुधार आगत विपत्ति[3] या किसी पात्र की भर्त्सना[4] के द्वारा हो जाता है। किन्तु अनेक उपन्यासों के पात्रों के परिवर्तन के मूल में गतिशील प्रभाव तथा प्रेरणाओं का भी चित्रण होने लगा। फलत: गत्यात्मक पात्रों का चित्रण स्वाभाविक, सजीव तथा हृदयग्राही हो गया। यथा 'गढ़कुंडार'

१- 'लेकिन पेट में पहुंचते ही उसे अचानक ज्ञान हुआ। उसकी आंखों के आगे से माया का परदा उठ गया। --- ये पैसे ? मुखिया --- ? उसकी आंखों के सामने गांव की औरतों की तस्वीरें नाचने लगीं। --हांडी में चावल डालने से पहले, परमभक्ति और श्रद्धा से, एक मुट्ठी चावल गांधी बाबा के नामपर निकाल कर रखरही है, कूट पीस कर जो मजदूरी मिली है, उसी में से एक मुट्ठी। ~~गरीबों का पेट काट कर एक मुट्ठी।~~ और बावन ने उस पैसे से अपनी जीभ का स्वाद मिटाया ?
------फणीश्वरनाथ रेणु : 'मैला आंचल' १९६१, दिल्ली, हि०सं०, पा०बु०ए०, पृ० १६७

२- वही : पृ० १६६

३- प्रेमचन्द : 'गोदान' : १९४९, बनारस, द०सं०, पृ० ३८५, ३८६, ४७४

४- ,, : 'रंगभूमि', इलाहाबाद, पृ० ३२७ - ३३१
: 'कायाकल्प' : १९५३, बनारस, न०सं०, पृ० २४८-९ ।

:१६२६: में अग्निदत्त का चित्रण । वह कुंगार राजकुमारी मानवती का प्रेमी है । मानवती के विवाह के पूर्व जब वह उसे भागने का आग्रह करता है, मित्र तथा राजकुमार कुंगारदेव उसके प्रेम से अभिज्ञ होकर उसे धिक्कारता है जब कि वह उसकी सहायता के लिए वचनबद्ध है । यही नहीं, वह लात से प्रहार कर कुंडार से निकाल देता है।[1] कुंगार की लात के प्रहार से ब्राह्मण अग्निदत्त का मन विद्रोही हो जाता है । प्रतिशोध की भावना से अभिभूत होकर वह बुन्देलों से सम्पर्क स्थापित करता है वही ऐसी योजना प्रस्तुत करता है कि जिससे कुंगारों का नाश हो[2]। किन्तु अपनी योजना का दुष्परिणाम देख कर अग्निदत्त का रुदन करना नितान्त मनोवैज्ञानिक है । उसे ज्ञात होता है कि मां ने उसके वियोग में प्राण दे दिए । ऐसी स्थिति में कुंडार उसे जननी प्रतीत होती है जिसके विनाश के लिए उसने बुन्देलों को आमंत्रित किया[3]। इसलिए अपने कृत्य के प्रति दुःख होना स्वाभाविक ही है । इसके अतिरिक्त मानवती की भर्त्सना ने उसकी सुप्त मानवता को जागृत किया[4]। इसी प्रकार मन्मथनाथ गुप्त :१६०८: कृत `दुश्चरित्र` :१६४६: का रामधारी तथा नागार्जुन :१६१० के `बलचनमा` :१६२२: का विकास स्वाभाविक रूप में हुआ है । इनके चित्रण में अतिरंजकता नहीं दृष्टिगत होती । सज्जन, मातृप्रेमी, लोक परिपाटी से अनभिज्ञ रामधारी दुश्चरित्र हो गया । उसके जीवन की परिस्थितियों ने उसे संस्कारों के के प्रतिकूल भिन्न पथ का अनुगामी बना दिया है । भावज के कारण ही उसका जीवन दुखमय हो गया । भाई भावज के आदेश से ही वह अपनी लाड़ली कुमारी गर्भवती भतीजी सुखिया को चन्द्रग्रहण के अवसर पर काशी में त्यागने जाता है । किन्तु आलोक की अनुपस्थिति में उसकी दुर्गति देख कर त्याग नहीं पाता । भतीजी के साथ रहने के कारण ही वह मिथ्या कलंक का शिकार बनता है[5]। भ्रातृप्रेमी इतना

१- वृन्दावनलाल वर्मा : `गढ़कुंडार` : १६२६, लखनऊ, प्र०सं०, पृ० ३३३

२- वही : पृ० ३७३-४

३- वही : पृ० ३६२

४- वही : पृ० ४२३

५- मन्मथनाथ गुप्त : `दुश्चरित्र`, १६४६, नई दिल्ली, प्र०सं०; पृ० ७१, ८४, ८६, ६
१६०

है कि वह भाभी एवं बच्चों के लिए भाई गिरधारी द्वारा गए कत्ल को वह अपने मस्तक पर ले लेता है किन्तु गिरधारी उसके प्रति कृतज्ञ नहीं होता । जेल से आने पर नई भाभी के राज्य में उसे अनुभव हो जाता है कि वह केवल एक मजदूर मात्र है । जिस भाई के प्रति उसे असीम प्रेम था उसकी तटस्थता तथा दुर्व्यवहार के कारण ही उसके मर्म पर आघात होता है । उसकी समस्त सद्वृत्तियां ही विरोधी दिशा की ओर अग्रसर होती हैं । इसी प्रकार "बलचनमा" :१९५२: जो भूमिहीन सामान्य कृषक है उसका जननायक होना भी नितान्त स्वाभाविक है । "गोदान" :१९३६: के गोबर का कलात्मक विकास उसके चरित्र में दृष्टिगत होता है । वह गोबर की अपेक्षा प्रबुद्ध और सजग ~~है~~ अधिक है । यह भी कारण है कि विभिन्न राजनीतिक व्यक्तियों (फूल बाबू, राधा बाबू) के सम्पर्क में रहने के कारण उसकी राजनीतिक तथा सामाजिक चेतना जाग्रत हो गयी है । इसके अतिरिक्त, शोषक वर्ग के प्रति उसका घृणा का भाव नितान्त स्वाभाविक ~~प्रतिक्रिया~~ है । शैशवावस्था से उसने जमींदार वर्ग की नृशंसता देखी थी जब कि उसके पिता को दो किसुन भोग तोड़ने के अपराध में इस प्रकार मारा गया था कि उनकी मृत्यु हो गई[2] । यही नहीं, फूलबाबू के फुफेरे भाई ने बलचनमा की छोटी बहन रेवनी पर बलात्कार करने का प्रयत्न किया और उसकी मां के साथ दुर्व्यवहार । ~~उसके~~ उसे को चोरी के अपराध में फंसाने का यत्न भी किया गया । फूलबाबू जो गांधी जी के साक्षात अवतार प्रतीत होते थे । वे उससे प्रेम से मिले किन्तु फूफा को पत्र लिखने की अपेक्षा मौन होके रह जाते हैं[3] । फलत: उसका कृषक आन्दोलन में पूर्ण मनोयोग से संलग्न होना, उसके सक्रिय संस्कारों की स्वाभाविक परिणति है। जीवन की वास्तविकता से परिचित हो जाने के कारण ही उसका विश्वास हो जाता है कि धरती उसकी है जो जोते बोए । "किसान की आजादी आसमान से उतरकर नहीं आएगी, वह परगट होगी है नीचे जुती धरती के भुरभुरे ढेलों को फोड़कर[4] ।"

१- [illegible] : १९४७ : नई दिल्ली : [illegible]
२- नागार्जुन : "बलचनमा", १९५२, इलाहाबाद, प्र०सं० पृ० १-२
३- वही : पृ० १०४, १०६
४- वही : पृ० २२०-२२१

२०- चरित्र-शिल्प की अन्य विशेषता यह भी है कि इसमें पात्रों की वास्तविकता का उद्घाटन युक्ति से हुआ है जिससे स्वाभाविकता पर आघात न हो अथवा वहां यांत्रिकता न दृष्टिगत हो। प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) ने ऐसे शोषक पात्रों का चित्रण किया है जो क्रूर, दया, स्नेहविहीन हैं यथा- 'प्रेमाश्रम' (१९१८-२१) का ज्ञानशंकर, 'रंगभूमि' (१९२५-७) के जानसेवक, महेन्द्रकुमार, 'गोदान' (१९३६) के दातादीन, झिंगुरी साहु, दुलारी सहुआइन, नोखेराम, खन्ना आदि। ये पूंजीपति तथा महाजन हैं। इनके विपरीत, कुछ ऐसे भी पात्र हैं जो वचन में मिश्री परन्तु कार्य में पक्के धूर्त हैं। 'प्रेमाश्रम' (१९१८-९) का राय साहब कमलानन्द, 'कर्मभूमि' (१९३२) का महन्त आदि ऐसे ही पात्र हैं। रायसाहब कमलानन्द के लिए रियासत बोझ है परन्तु इससे मुक्त नहीं हो पाते।[1] महन्त जो जमींदार है वह असामियों की दुरावस्था की सूचनामात्र से द्रवित होते[2] होते हैं परन्तु वे साथ सरकार का देते हैं भूखी जनता का नहीं। इनका सर्वोत्तम शिल्पगत विकास 'गोदान' (१९३६) के रायसाहब अमरपाल के रूप में हुआ है। आप कौंसिल की सदस्यता का त्याग कर जेल हो आये हैं, किन्तु उनके इलाके में शोषण में कुछ कमी नहीं है। राष्ट्रवादी होने पर भी हुक्कामों से मेल-जोल तथा व्यवहार रखते हैं। होरी जैसे सामान्य कृषक से वे समानता से बात करते हैं। किन्तु उपन्यासकार ने उनकी वास्तविकता का चित्रण नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है। वे होरी के समक्ष अपनी कठिनाइयों का उल्लेख कर रहे हैं कि सरकार उनके इलाके को ले ले जिससे वे जीवन-लक्ष्य मानवता को प्राप्त कर सकें तभी उन्हें सूचना प्राप्त होती है कि बेगारों को जब तक भोजन नहीं मिलेगा वे कार्य नहीं करेंगे। इस सूचनामात्र से उनका नकली चेहरा उतर जाता है और उनका

१- प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम' : १९५२, वाराणसी : पृ० ३६०-१

२- वही : 'कर्मभूमि' : १९६२, इलाहाबाद, च० सं०, पृ० ३०१

वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है[1]। यही नहीं, ऊपर से इन पर समाचारपत्र में अपने विरुद्ध कोई सूचना प्रकाशित नहीं होने देते हैं[2]। कालान्तर में अनेक उपन्यासों में इस प्रकार के पात्रों के चरित्र का उद्घाटन[3] हुआ परन्तु शिल्पगत विकास में इनमें नहीं दृष्टिगत होता।

मनोवैज्ञानिकता : अव्यक्त प्रेरणा

२१- प्रारम्भिक उपन्यासों के चरित्र शिल्प में मनोवैज्ञानिकता का अभाव है। किन्तु एक दो स्थलों पर पात्रों की अव्यक्त प्रेरणा पर प्रकाश पड़ा है।[4]

१- "रायसाहब के माथे पर बल पड़ गए। आंखें निकाल कर बोले- "कभी मैं उन दुष्टों को ठीक करता हूं। जब कभी खाने को नहीं दिया गया तो आज यह नयी बात क्यों? एक आने के हिसाब से मजूरी मिलेगी- जो हमेशा मिलती रही है, और इस मजूरी पर उन्हें काम करना होगा, सीधे करें या टेढ़े।"
-प्रेमचन्द :गोदान: १९४९;बनारस; द०सं०;पृ० १८

२- वही : पृ० सं० २३२-६

३- उषादेवी मित्रा :"पिया" १९५६, बनारस,च०सं० पृ० ४०-२

यशपाल :"मनुष्य के रूप" १९५२,लखनऊ, द्वि०सं० पृ० १३८-९

नागार्जुन :"बलचनमा" १९५२, इलाहाबाद, पृ० १०४, १०६

,, :"बाबा बटेसरनाथ": १९५४, दिल्ली, प्र० सं० पृ० १०७, १०८

उपेन्द्रनाथ"अश्क": बड़ी बड़ी आंखें :इलाहाबाद,पृ० ८८, १३५, १५६, २३८आदि

४- देवकीनन्दन खत्री :"चंद्रकान्ता"(द्वि०भा०)१९३२,'बनारस,' १९वां सं० पृ०२८-२९

किशोरीलाल गोस्वामी:"तारा व क्षात्र-कुल-कमलिनी"(प्र०भा०:१९२४, मथुरा, पृ० ५३-४

,, :"कनक कुसुम वा मस्तानी": १९१४, मथुरा, पृ० ६७

दुर्गाप्रसाद खत्री : "सुफेद शैतान" : प्र० सं० बनारस, पृ० ६१

जहानआरा इस बात का बीड़ा उठाती है कि वह तारा पर दारा का अत्याचार न होने देगी । वह दारा को बेदीन भाई समझती है । वह तारा के प्रति इतनी सदय क्यों हो गयी ? उसके इस कार्य के मूल में है उसकी सौन्दर्यप्रियता । रंभा के वार्तालाप से तारा इस मनोवैज्ञानिक बिन्दु पर प्रकाश पड़ा है कि वह नहीं चाहती कि उससे बढ़ कर दूसरी सुन्दरी शाही महल में रहे।[1] कालान्तर में पात्रों के कार्य के मूल में निहित अव्यक्त प्रेरणा का सहज स्वाभाविक ढंग से चित्रण होने लगा । 'सेवासदन' :१९१८: में सुभद्रा सदन से प्रसन्न नहीं है किन्तु जब वह सदन के साहस की प्रसन्नतापूर्वक प्रशंसा करती है तब आश्चर्य होता है । परन्तु स्पष्टीकरण में हो जाता है कि वह सदन को उत्तेजित कर अपनी जेठानी को नीचा दिखाना चाहती है[2] । इसी प्रकार यह देख कर आश्चर्य होता है कि मैरी का मित्र अंधे सूर का इतना भक्त कैसे हो गया कि वह उसे बता देता है कि मैरी के हाथ उसके ५००रुपये लग गए हैं । इस रहस्य का उद्घाटन होता है कि उसने सूर के प्रति भक्ति भावना से नहीं, प्रत्युत मैरी के प्रति ईर्ष्या-भावना से अभिभूत होकर सूर का पक्ष ग्रहण किया[3] । 'चित्रलेखा' १९३४: ,'बाणभट्ट की आत्मकथा' :१९४६: आदि उपन्यासों में अज्ञात तथा अवचेतन मस्तिष्क की इच्छा पर प्रकाश पड़ा है । प्रत्यक्षरूप में चित्रलेखा बीज गुप्त के कल्याण के लिए उसका परित्याग करती है परन्तु इस क्रिया के मूल में है योगी कुमारगिरि के प्रति आकर्षण[4] । भट्टिनी गंगा में क्यों कूद पड़ी ? विपुलिका

१- किशोरीलाल गोस्वामी :'तारा वा क्षात्र-कुल-कमलिनी' :प०भा०,मथुरा पृ०५३-४

२-'कोई दूसरा लड़का होता तो पहले दिन ही फटकार देता । तुम्हीं हो कि इतना सहते हो ।'

सुभद्रा, यही बातें यदि तुमने पवित्र भाव से कही होती तो हम तुम्हारा कितना आदर करते । किन्तु तुम इस समय ईर्ष्या-द्वेष के वश में हो, तुम सदन को उभार कर अपनी जेठानी को नीचा दिखाना चाहती हो, तुम एक माता के पवित्र हृदय पर आघात करके उसका आनन्द उठा रही हो ।'

--प्रेमचन्द :'सेवासदन' :१: बनारस: पृ० ३११-२

3- प्रेमचंद: रंगभूमि: इलाहाबाद पृ० सं० १२७, १४१, ३४६, ३४७

४- यह किस प्रकार मान लूं । तुम अपने को धोखा दे रही हो देवि चित्रलेखा ! जिस समय तुमने बीजगुप्त को छोड़ा था, उस समय तुमने उनको मुझसे प्रेम करने के लिए छोड़ा था ।

-भगवतीचरण वर्मा-:'चित्रलेखा' :१९५५;इलाहाबाद;बा०सं०पृ०१९६

निपुणिका के उन्मत्त प्रलाप में भट्टिनी अपने स्वरूप को पहचान ले लेती है कि भट्ट उसकी रक्षा करेगा, इसलिए वह कूदी।[1] शिल्प की दृष्टि से भट्टिनी का चित्रण अत्यधिक मनोवैज्ञानिक है। मौखरियों द्वारा वह बंदी बनाई गयी थी। इसलिए रक्षक मौखरी के परिचय से मन में भय उत्पन्न होना तथा बाणभट्ट के प्रति प्रेमभाव, ने ही उसे गंगा में कूदने को बाध्य किया। अव्यक्त भावनाओं पर उपन्यासकार के वर्णन या पात्र विशेष के कथन के द्वारा ही प्रकाश पड़ता है।
इससे असंगत कार्य का औचित्य ज्ञात होता है।
फलतः चरित्र-चित्रण विश्वसनीय प्रतीत होता है।

व्यावहारिक मनोविज्ञान

२२- आदर्शोन्मुख यथार्थवादी, प्रगतिवादी, सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों के चरित्र-शिल्प में व्यावहारिक मनोविज्ञान[2] दृष्टिगत होता है। एक स्थल पर निर्मला की व्यावहारिकता का मनोवैज्ञानिक चित्र प्राप्त होता है। पिता के समवयस्क मुंशी तोताराम के प्रेम-प्रदर्शन से निर्मला को घृणा होना स्वाभाविक है। मंसाराम और निर्मला के पवित्र स्नेह सम्बन्ध को मुंशी तोताराम सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। तोताराम पुत्र मंसा से निर्मला की झूठी शिकायत करते हैं। वह रुष्ट

१- "निपुणिका ने आज उन्मत्त प्रलाप के भीतर से मुझे मेरा स्वरूप दिखा दिया है। कौन जाने, उसका कहना ही ठीक हो कि मैं तुम्हें गंगा में डुबाने के लिए स्वयं गंगा में कूद पड़ी थी। मैं नहीं कह सकती मुझे क्षण भर के लिए ऐसा मालूम हुआ था कि मौखरियों के उस निर्घृण महाराज ने मुझे फिर से कैद करना चाहा था। जब विग्रहवर्मा तुम्हें बता रहा था कि मौखरि है, तभी मुझे सन्देह हुआ था। निर्बुद्ध बालिका को क्षमा करना भट्ट। निपुणिका कह रही थी कि यदि भट्ट न होते तो तुम गंगा में कभी न कूदती। आज मैं सब बातें विचार कर देखती हूं, तो मुझे ऐसा लगता है कि मेरे मन के किसी अज्ञात कोने में यह भावना जरूर थी कि तुम मुझे डूबने नहीं दोगे -तुम मुझे बचा लोगे।"
-हजारीप्रसाद द्विवेदी: 'बाणभट्ट की आत्मकथा': १९५२, १९६३, बम्बई; पं०सं०,

होकर भोजन नहीं करता ,वह उसे मना रही है । तभी उसके भाव एवं स्वर में तोताराम की खांसी सुनकर एकाएक परिवर्तन हो जाता है[1] जो उसकी व्यावहारिक बुद्धि का परिचायक है । पति के संशय की वृद्धि न करने के लिए ही खुशामद करते-करते निर्मला मंसौ पर बिगड़ पड़ती है । इसी भांति `रंगभूमि` (१६२६-७)की इन्दु के चित्रण में भी व्यावहारिक मनोविज्ञान का आश्रय लियागया है । निषेध अथवा वर्जना हठवादिता को जन्म देती है । इसका सुन्दर उदाहरण उस समय प्राप्त होता है जब कि इन्दु सेवा समिति के लोगों को विदा देने जाना चाहती है । उसके पति राजा महेन्द्रकुमार इस पर आपत्ति करते हैं । उसकी स्टेशन जाने की इच्छा प्रबलतर हो जाती है । बलपूर्वक पति से अनुमति प्राप्त कर जब वह घर से निकलती है तो द्वन्द्व के कारण आधे रास्ते से लौट आती है । राजा महेन्द्रकुमार के आग्रह के बावजूद वह स्टेशन जाने के लिए प्रस्तुत नहीं होती[2] । प्रेमचन्द(१८८०-१९३६) ने उसके

२- विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक :`भिखारिणी`,१६५२,आगरा,तृ०सं०,पृ० १४८,२१०, २११,२२०

सियारामशरण गुप्त:`गोद`;१६५२,चिरगांव,अष्टमावृत्ति,पृ० ७६-८०

यशपाल :`दादा कामरेड`:१६५२,लखनऊ,द्वि०सं०,पृ० १४०

,, :`देशद्रोही`; १६४३,`लखनऊ`प्र०सं०, पृ०१६४

,, : दिव्या`;१६४५,लखनऊ,प्र०सं०, पृ० सं० २१८

सत्यकेतु विद्यालंकार:`आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य`;१६५७; मसूरी;तृ०सं० पृ०१२१

फणीश्वरनाथ रेणु :`मैला आंचल`;१६६१;नई दिल्ली;पा०बु०२०,द्वि०सं०पृ०६१,१६०, १६१,३७७आदि

१- सहसा मर्दाने कमरे में मुंशी जी के खांसने की आवाज़ आयी । देखा, मालूम हुआ कि मंसाराम के कमरे की ओर आ रहे हैं । निर्मला के चेहरे का रंग उड़ गया । वह तुरन्त कमरे से निकल गयी और भीतर जाने का मौका न पाकर कठोर स्वर से बोली-मैं लौंडी नहीं हूं कि इतनी रात तक किसी के लिए रसोई के द्वार पर बैठी रहूं ? जिसे न खाना हो वह पहले ही कह दिया करे ।
-प्रेमचन्द :`निर्मला`,१६२३,बनारस,प्र०सं०,पृ० ६६-७०

२- प्रेमचन्द :`रंगभूमि`, इलाहाबाद, प्र०सं० ,१७४-५

चरित्र-शिल्प में जटिल मनोविज्ञान की प्रतिष्ठा करनी चाही है। वह राष्ट्रीय विचारों की युवती है। सोफिया के त्रियाचरित्र के कारण ही मिस्टर क्लार्क धूर की जमीन वापिस कर देते हैं। तब इन्दु का जमीन[1] के सम्बन्ध में वायसराय तक अपील करने के लिए राजा महेन्द्रकुमार को उत्तेजित करना मनोवैज्ञानिक अवश्य है यद्यपि बाह्य दृष्टि से असंगत प्रतीत होता है। उसकी इस क्रिया के मूल में है प्रभुत्व कामना। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह सोफिया से पराजित हो गई। विजयी होने के लिए ही वह क्लार्क के विरुद्ध राजा महेन्द्रकुमार को उत्तेजित करती है। सोफिया का विवाह मिस्टर क्लार्क से होने वाला है। इसलिए सोफिया से वह प्रेम से नहीं मिलती। सोफिया के प्रति उसके कथनों में अहंकार ही ध्वनित हो रहा है[2] क्योंकि सोफिया के आगमन को इन्दु इस दृष्टि से देखती है कि वह उस पर आतंक जमाना चाहती है। 'रंगभूमि' (१९२६-७) के ही चरित्र-चित्रण शिल्प में सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिकता के बीज सन्निहित दृष्टिगत होते हैं। विनय का चरित्र भी मनोवैज्ञानिक बिन्दुओं पर ही प्रस्तुत हुआ है।[3] देशभक्त विनय का देशद्रोही होना और सोफिया की भर्त्सना से पुनः देशभक्त होना आदि चरित्र-शिल्प की मनोवैज्ञानिकता का द्योतक है। शिल्प की दृष्टि से 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६) में जटिल चरित्र की सफल अवतारणा हुई है। इसके पूर्व असाधारण पात्रों का चित्रण मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में हो चुका है। किन्तु इसका शिल्प मनोवैज्ञानिक चरित्र-शिल्प से सर्वथा भिन्न है। तथाकथित देवी का अवतार कुमुद का चित्रण नितांत मनोवैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत हुआ है। वह देवी नहीं है परन्तु सब उसे देवी के रूप में ग्रहण करते हैं। वह किसी के समक्ष भी खुल कर नहीं आ सकती है। गोमती से वह समान स्तर पर बात करना चाहती है परन्तु वह[4] उसे देवी ही समझती है। फलतः कुछ स्थलों पर उसके कथन में देवी जैसी शालीनता दृष्टिगत होती है। काले खां के विराटा से

१- प्रेमचन्द : 'रंगभूमि', इलाहाबाद, पृ० २३३-४

२- वही : पृ० २१३-५

३- वही : पृ० ४०१,४०२

४- वृन्दावनलाल वर्मा : 'विराटा की पद्मिनी', १९५७, ~~कांसी~~ लखनऊ, स०सं०, पृ० ६३,६४, १२४,२६८-६१

जाने के पश्चात् वहां भय का वातावरण हो गया । भांति भांति की चर्चा होती थी कि राजा देवीसिंह युद्ध के लिए आने वाला है तथा अलीमर्दान भी इस पर आक्रमण करने वाला है । गोमती सही बात बताने के लिए कुमुद से प्रार्थना करती है कुमुद का उत्तर उसके दैविक स्वरूप[1] का ही परिचायक है । किन्तु कुछ स्थलों पर उसकी मानवीय चेतना पर भी प्रकाश पड़ा है[2] । वह कुंजर सिंह से प्रेम करती है । परन्तु इस प्रेम का प्रकाशन उस स्थल पर होता है जब कि मृत्यु की सघन छाया गढ़ी पर छाई हुई है । तब वह फूलों की माला कुंजर[3] को पहनाती है । प्रेमनिधि लेकर दोनों पृथक् पृथक् मार्ग से मिलने के लिए जाते हैं । दैवी रूप के कारण प्रेम के गुप्त स्रोत का निरावरण उपयुक्त स्थल पर हुआ है । इसलिए यह मनोवैज्ञानिक तथा विश्वसनीय है । यशपाल (१९०३) के चरित्र-शिल्प में अन्य उपन्यासकारों की अपेक्षा मनोविज्ञान का योगदान अधिक है । इसी के कारण उनके उपन्यासों में काम की प्रधानता होते हुए भी चरित्र-शिल्प निम्नस्तर का नहीं प्रतीत होता । हरीश शैल के नारीत्व का परिचय[4] प्राप्त कर अपने में बल का अनुभव करता है तथा बरकत सीमा का परस्पर

१- "कुमुद ने आकाश की ओर नेत्र करके उत्तर दिया-'एक बादल उठनेवाला है । मंदिर के ऊपर उपल-वर्षा होगी परन्तु उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकेगा । देवी का सार्वभौम राज्य है ।'

"यह तो निस्सन्देह है' -गोमती बोली-'अलीमर्दान का आक्रमण कब तक होगा ?'

"यह मैं क्या कह सकती हूं ? कुमुद ने उत्तर दिया । फिर एक क्षण ठहरकर बोली-'वह शीघ्र ही अपने ऊपर दुर्गा के क्रोध को बुलावेगा ।'

--वृन्दावनलाल वर्मा :'विराटा की पद्मिनी'; १९५७; ~~मऊरानी~~ ललितपुर: ; द्वि०सं०, पृ० २९८-९

२- वही : पृ० ११८,११९,१२०,२९९,४१८,४५७ आदि

३- वही : पृ० ४५७

४- यशपाल :'दादा कामरेड' : १९५२; लखनऊ; तृ०सं०; पृ० १४०

व्यवहार मनोवैज्ञानिक है । सौमा के प्रति आकर्षण के कारण ही वह उसकी डांट खाकर भी विपत्ति के क्षण में साथ देता है । इसी कारण बैरिस्टर बरोला के यहां से चलते समय सौमा उनसे दफ्तर में मिलना चाहती है । बरकत कार रोक कर दो मिनट बाद आकर सूचना दे देता है कि वह दफ्तर में है परन्तु उन्होंने सौमा के लिए कहलाया है कि दफ्तर में नहीं हैं।[1] सौमा के हृदय में बैरिस्टर साहब के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए ही वह ऐसी सूचना देता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के चरित्रों की भांति ही 'रहाक मदाक' (१९५२) के दीनानाथ तथा डा० लक्ष्मण स्वरूप कुंठाग्रस्त हैं । परिस्थिति के कारण दीनानाथ मानसिक रोगग्रस्त व्यक्ति हो जाता है । उसने युवती से पुनर्विवाह कर लिया है । परन्तु उसे सन्देह हो गया है कि उसकी पत्नी उसे नहीं, धन को चाहती है।[2] उसे विश्वास हो जाता है कि स्वजन उसकी मृत्यु चाहते हैं[3] । युवा पुत्रों का विवाह सम्बन्धी विरोध देख कर इस प्रकार की मानसिक विकृति का जन्म होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार डा० लक्ष्मण स्वरूप ईमानदार व्यक्ति हैं । एक बार भयवश मृत्यु को समक्ष देखकर झूठा सार्टीफिकेट देने को विवश हो जाता है । तदुपरान्त उसके जीवन का कृष्णपक्ष प्रारम्भ होता है। विश्वम्भरनाथ से २००) अग्रिम लेकर वह दीनानाथ को ऐसी दवा देने को प्रस्तुत हो जाता है जिससे उसकी सन्तान न हो । वह दीनानाथ को ऐसी दवा नहीं देता है तथा अग्रिम धन लौटाना न पड़े इसके लिए वह जो उत्तर सोचता है[4] वह कार्य के औचित्य को सिद्ध करता है । मिथ्या तर्क के द्वारा वह स्वयं को आश्वस्त करना चाहता है ।

१- यशपाल : 'मनुष्य के रूप' ; १९५२; द्वि०सं० ; पृ० २०२

२- मन्मथनाथ गुप्त: 'रहाक-मदाक' ; १९५२, बीकानेर, प्र०सं०, पृ० ३-४

३- वही : पृ० सं० ४५

४- " भाई मैं क्या करूं, दवा तो मैं बराबर देता रहा पर उन्होंने खाई ही न हो तो इस पर मेरा क्या वश है ? "

-मन्मथनाथ गुप्त : 'रहाक-मदाक' १९५२, बीकानेर, पृ० १०० ।

आवेश

२३- इन उपन्यासों के चरित्र-शिल्प में आवेशजन्य मनोविज्ञान का भी चित्रण हुआ है । प्रेमचन्द (१८८०-१९३६)ने सर्वप्रथम आवेशजन्य चरित्र का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है । `कर्मभूमि` (१९३२) की सुखदा तो आदि से अन्त तक उत्साही तथा आवेशमयी नारी है । आवेश के कारण ही अपने संस्कारों के प्रतिकूल वह धन वैभव को तिलांजलि देकर पति का साथ उस समय देती है जब कि पिता पुत्र में विरोध हो जाता है और पुत्र पिता का गृह त्यागने के लिए प्रस्तुत है ।सामान्य नारी के विपरीत वह आवेश के कारण अमर के अत्याचार केविरुद्ध कटुवचन कहती है ।[1] यह आवेश ही है जो विलासिनी सुखदा को कर्मठ तथा देशभक्त बना देता है । वह हरिजन-मन्दिर-प्रवेश के विरुद्ध है । परन्तु जैसे ही धर्म रक्षा के लिए आन्दोलनकारियों पर गोली चलाई जाती है, उसका रक्त उष्ण हो जाता है तथा आन्दोलनकारियों की विरोधी सुखदा उनका नेतृत्व करने लगती है ।[2] अपनी स्वभावगत उत्तेजना के कारण ही वह घोषणा कर देती है कि यदि हड़ताल सफल न होगी तो वह मुख में कालिख लगाकर आत्महत्या कर लेगी।[3] उसके प्रत्येक कार्य के मूल में है भावुकता । वह शीघ्र ही उत्तेजित हो जाती है । वह पराजित होना नहीं चाहती । नैना के पति द्वारा तिरस्कृत होकर वह विजय के लिए विकल हो जाती है । उपन्यासकार ने उसके संस्कारों के अनुरूप ही उसका चित्रण किया है । इसी प्रकार धनिया का तेजस्वीरूप भी आवेश के ही क्षणों में प्रस्फुटित हुआ है । सामान्य ग्रामीण नारी दारोगा,पंचों को नहीं डांट सकती । किन्तु परिस्थिति की विकरालता ने ही उसे इतना उत्तेजित कर दिया कि वह सबको खरी-खोटी सुना देती है ।[4] प्रेमचन्द(१८८०-१९३६) के उपन्यासों में देशभक्त पात्र प्रस्तुत हो गए जो महान् संस्कारों को लेकर हमारे समक्ष आते हैं । ये पात्र देव-तुल्य हैं । इसके विपरीत, `स्वराज्यदान` में नरेन्द्र के क्रान्तिकारी होने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर प्रकाश

१- प्रेमचन्द : `कर्मभूमि` ; १९६२ ;इलाहाबाद;च०सं०;पृ० १९६,२२०

२- वही : पृ० २१०

३- वही : पृ० २६२

४- ,, `गोदान` ;१९५९; बनारस, द०सं०.पृ० १५२-३, २७७

पड़ता है । जालियांवाग़ कांड में उसका पिता शहीद हुआ था । अतः देशभक्ति के संस्कार उसे पैतृक-सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुए । मार्शलकानून के अन्तर्गत उसकी मां अपमानजनित हुई थी-गर्भावस्था में उसे रेंग कर सामान लाना पड़ा था[1] । मां का अपमान देख कर उसे विदेशी सरकार से घृणा हो जाती है । इसी प्रकार धन-धान्य से परिपूर्ण लाला बनारसीदास एवं उनके पुत्र का विदेशी सरकार के विरुद्ध विद्रोही होना नितांत मनोवैज्ञानिक है । मार्शल ला के समय पत्नी की रुग्णावस्था के कारण वे दूकान नहीं खोल सके थे । फलतः दूकान लूट ली गयी और उन्हें जेल हुई । उनके पुत्र को निष्कारण ही ~~हवालात~~ हवालात में बन्द कर दिया गया। एक हजार रुपया सब-इन्सपेक्टर को दे देने पर वह मुक्त हुआ । फलतः पिता को अपनी असहायता तथा अप्रतिष्ठा की अनुभूति होती है । देश को दुरवस्था से मुक्त करना वह अपना कर्तव्य समझता है[2] । निस्सन्देह इन उपन्यासों का चरित्र-शिल्प में मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण किया गया है । किन्तु इनमें मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की भांति केवल चरित्र पर ही बल नहीं प्रदान किया गया है । ~~मनोविज्ञान के प्राधान्य के कारण इन पात्रों का प्रस्तुतीकरण यथार्थमूलक है । इसलिए~~ इनमें चरित्र का आधार मनोवैज्ञानिक है ।

पात्रों की असाधारणता : मनोवैज्ञानिकता

२४- आदर्शोन्मुख, यथार्थवादी, प्रगतिवादी, ऐतिहासिक उपन्यासों में पात्रों का जो चित्रण हुआ है उसमें सामान्य मनोविज्ञान दृष्टिगत होता है । चरित्र-शिल्प में मनोविज्ञान का वह गहरा स्पर्श नहीं है जो मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के चरित्र-शिल्प में दृष्टिगत होता है । इनमें अवचेतन मस्तिष्क जन्य कुंठाओं, विकृतियों का चित्रण होता है । फलतः इसमें असाधारण व्यक्तित्व की असाधारणता के मूल में निहित गुत्थियों पर प्रकाश पड़ता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में ही सर्वप्रथम विशिष्ट चरित्रों की

१- गुरुदत्त : `स्वराज्यदान`; नई देहली ; पृ० ६,३८

२-` मैं समझता हूं कि देश को इस प्रकार की नपुंसक अवस्था से निकालना बहुत आवश्यक है । मैंने इसी के लिए अपनी पूर्ण सम्पत्ति लगा देने का निश्चय कर लिया है ।`
- वही : पृ० १५४

अवतारणा हुई जो पूर्ववर्ती चरित्रों से भिन्न प्रतीत होते हैं। सुनीता :१९३५: के हरिप्रसन्न, श्रीकान्त तथा सुनीता पूर्ववर्ती पात्रों से रूप तथा शिल्प दोनों ही दृष्टि से भिन्न हैं। हरिप्रसन्न बहुचर्चित पात्र है अतएव उसके चरित्र -शिल्प पर विचार करना समीचीन होगा। सामान्य व्यक्तियों से भिन्न वह कुंठित पात्र है जो चित्रकला एवं क्रान्ति के माध्यम से काम का दमन करता है। सुनीता स्टहोल्म के जाले साफ कर रही है :जो मानसिक कुंठाओं के प्रतीक भी हैं:तभी श्रीकान्त के साथ हरिप्रसन्न प्रवेश करता है।हरिप्रसन्न नारियों से परिचित है। परन्तु उसका उस नारी से परिचय नहीं हुआ था जो गन्दगी की सफाई के कारण किसी से मिलना न चाहती है[१]। सुनीता की थपथपाहट और श्रीकान्त की व्यग्रता देख कर उसका चेतन मस्तिष्क उस जादू को समझना चाहता है जो श्रीकान्त को अधीर कर रहा है[२]। परन्तु चेतन मन उसका कठोर ही रहता है।श्रीकान्त के अन्दर से न जाने वह पुस्तक पलटता है। जैसे ही वह पुस्तक में लिखा देखता है कि म्यूजिक में प्रथम आने का उपहार। उसका मन अशान्त हो जाता है। उसका आलमारी बन्द करना मानसिक अशान्ति का द्योतक है[३]। परिस्थितिवश सुनीता के प्रति बढ़ते हुए कुतूहल का वह दमन करता रहता है।उसका चेतन मन अपनी भावनाओं का उदात्तीकरण करता है।इसीलिए सुनीता को ऐसी माया रानी का रूप प्रदान करना चाहता है जो चिरंतन तथा देवमूर्ति हो तथा जिससे युवक प्रेरणा ग्रहण कर सकें[४]। उदात्तीकरण का सुन्दर उदाहरण हरिप्रसन्न के चरित्र में उस स्थल पर प्राप्त होता है जब कि वह सुनीता से कपड़े बदलने का आग्रह करता है जिससे दल की देवी-चौधरानी

१- जैनेन्द्र :सुनीता : १९६२, दिल्ली : पा०बु० ए० में द्वि० सं०
पृ० ३१

२- वही, पृ० ३४

३- वही, पृ० ३८

४- वही, १६०

सौन्दर्य की देवी प्रतीत हों[1]। उसका अचेतन मस्तिष्क खतरे का प्रतीक लाल रोशनी की भी कल्पना कर लेता है। फलतः क्रान्तिकारी भावना को ताक में रख कर सुनीता की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाता है[2]। लाल रोशनी की कल्पना केवल मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के चरित्र-शिल्प की विशेषता है। हरिप्रसन्न सुनीता से अत्यधिक प्रभावित है परन्तु उसका चेतन मस्तिष्क उसे प्रेमिका के रूप में स्वीकार करने में सर्वथा असमर्थ है। लाल रोशनी के द्वारा ही उसकी दमित इच्छा की पूर्ति हो सकती थी। इस मानसिक प्रक्रिया का चित्रण उपन्यासकार ने उसके चरित्र में स्वाभाविक ढंग से किया है। आसन्न मृत्यु-संकट देख कर सुनीता से सम्पूर्ण नारीत्व की मांग करना नितान्त मनोवैज्ञानिक है[3] तथा इस मांग की पूर्ति होते ही वह कुंठा विहीन पात्र हो जाता है[4]। हरिप्रसन्न की ही भांति श्रीकान्त भी कुंठित चरित्र प्रतीत होता है। विवाहित होते हुए तथा पत्नी के होते हुए भी वह पूर्ण सुखी तथा सन्तुष्ट नहीं है। वह हरिप्रसन्न का आह्वान करता है जिससे उनके जीवन में नवीनता आये[5]। हरिप्रसन्न की उपस्थिति में वह केस के सिलसिले में लाहौर जाता है किन्तु कार्य समाप्त हो जाने पर भी उसका लाहौर में रुकना असंगत प्रतीत होता है। यह ऐसा ही प्रतीत होता है कि वह सुनीता हरिप्रसन्न को अवसर प्रदान करने

१- "तसवीर लगा दी और फिर हरिप्रसन्न ने कहा- "मैं इतने नीचे ठहरता हूं भाभी ! तुम कपड़े बदल कर आवो। भाभी ! हमारे दल के युवक भी देखें कि उनकी देवी चौधरानी सौन्दर्य की भी देवी हैं। सौन्दर्य ईश्वर के ऐश्वर्य का का एक रूप है। भाभी ! सौन्दर्य शक्ति है। सौन्दर्य आदर्श है। वह स्फूर्ति देता है, पवित्रता देता है, बलि की प्रेरणा देता है। जो असुन्दर हैं वह फिर सत्य कैसे है ?" --- जैनेन्द्र: "सुनीता" १९६२, दिल्ली, द्वि०सं०, पृ० २०३

२- वही, पृ० २१०

३- वही, पृ० २१४

४- वही, पृ० २१४-५

५- वही, १२, १३, १९

के लिए ही लाहौर गया है । उसका पत्र भी इसका प्रमाण है । कोई भी सामान्य व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि दाणीक के लिए उसकी पत्नी उसे भूल जाय । श्रीकान्त असामान्य व्यक्ति है जो प्रेम में पूर्णता का अनुभव उस समय करता है जब कि उसकी प्रेमपात्री अन्य किसी की प्रेमपात्री हो । यही कारण है कि वह सुनीता के प्रति कृतज्ञ है ।[2] हरिप्रसन्न और श्रीकान्त का चित्रण मनोवैज्ञानिक बिन्दुओं पर ही हुआ है । श्रीकान्त एक ऐसा व्यक्तित्व है जिसके प्रणयानुभूति के लिए अन्य व्यक्ति अपेक्षित है । इसका कहीं उल्लेख नहीं हुआ है । उसकी नीरसता की अनुभूति तथा सुनीता के प्रति कृतज्ञता ही इस सत्य की व्यंजक है ।

२५-चरित्र-शिल्प की दृष्टि से शेखर एक अविस्मरणीय चरित्र है । वह असाधारण व्यक्तित्व सम्पन्न है । उसके चरित्र के मूल में तीन प्रवृत्तियां गतिशील हैं -अहंभाव, भय तथा सैक्स प्रवृत्ति । वह अहंवादी है । जो भी उसके अहं पर आघात करता है उसे वह क्षमा नहीं कर सकता चाहे वह मां,[3] मास्टर,[4] या पोस्टमैन[5] हो । उसकी मां उसे साधारण बालक की भांति अनुशासित करना चाहती है, छोटे भाई को पेंसिल न देने के कारण उसे निर्दयतापूर्वक पीटती है । भाई के चले जाने पर वह शेखर के प्रति अविश्वास प्रकट करती है । इसी कारण उसका अन्तश्चेतन उससे घृणा करता है पिता से पिट कर भी वह उनके प्रति उदार है । और मां की बिना मार खाए ही

१- "तब तुमसे मैं चाहता हूं कि इन कुछ दिनों के लिए मेरे ख्याल को अपने से तुम बिल्कुल दूर कर देना । सच पूछो तो इसके लिए मैं ये अतिरिक्त दिन यहां बिता रहा हूं । हरिप्रसन्न में कितनी क्षमता है । लेकिन उस क्षमता से लाभ दुनिया को क्या मिल रहा है ? मैं यही चाहता हूं कि वह क्षमता उसकी व्यर्थ न जाय हमारा प्रयत्न हो कि वह समाज के लिए उपयोगी बने ।"

----जैनेन्द्र:सुनीता:१९६२,दिल्ली,द्वि०सं०, पृ०१६२

२- वही, पृ० २२१

३- सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन "अज्ञेय :शेखर-एक जीवनी" प०भा०१९६१, बनारस,स०सं०पृ०२५, १३६, १३७, १३८

४- वही, पृ० ५६,६४,-५

५- वही, पृ०५०-१

उसके प्रति अनुदार है क्योंकि वह उसे क्षमा प्रदान करती है अनुग्रह की चक्की में पीस कर[1]। सुधार भावना से प्रेरित होकर मां शेखर को पीटती है जिसकी प्रतिक्रिया उसके भोले मन पर यह पड़ी कि वह निष्ठुर और निर्मम है[2]। उसका अहं इतना बड़ा है कि अपमान की संभावना मात्र से वह दाह्य हो जाता है। इसी कारण कान्वेंट का परित्याग वह कर देता है। दूसरे स्कूल में वह लड़कों से काश्मीरी बाजारू गीत गवाता है। उसकी मानिटरी छीन ली जाती है ~~जिसकी गर्ज भयानक है~~ जिसकी उसे चिन्ता न थी परन्तु कलाप के समक्ष पूर्ण बनना असह्य है। वह इसका प्रतिशोध भी ले लेता है[3]। अज्ञेय (१९११) ने शेखर के विकास का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। चरित्र-शिल्प की मनोवैज्ञानिकता उनकी ही देन है। उपन्यासकार ने तटस्थ दृष्टि से उसका विकास प्रदर्शित किया है। वह गृह में सज्जन हो गया है जब कि वह चोरी करने लगा, उन पुस्तकों को पढ़ता है जो वर्जित हैं, वह चुगलखोर हो गया है, झूठी शिकायत कर पिटवाना उसे पसन्द है क्योंकि इससे उसे अपने अस्तित्व का बोध होता है। वह भद्दी तथा वीभत्स तुकबन्दी करता है। इससे उसे प्रसन्नता होती है कि वह कुछ है[4]। अहं की बलवती इच्छा ने ही उसे कुपथगामी बनाया है।

१- अज्ञेय : शेखर : एक जीवनी : प्र० भा० १९६१, बनारस, सं सं० पृ० ११४

२- "मां उदार नहीं थीं। वे क्रोधी नहीं थीं। उन्हें आपे से बाहर किसी ने नहीं देखा, लेकिन किसी अपराध को वे कभी भूलती नहीं थी। उनके स्वभाव में इतनी विशालता ही न थी कि वे बड़ा क्रोध कर सकें इसलिए अनुकम्पा भी उनकी बड़ी नहीं थी। पिता किसी दोषी पर भी क्रुद्ध होकर बाद में 'सुलह' करते थे। मां स्वयं गलत होने पर भी यह प्रकट नहीं होने देती थीं और जिसे डांटा होता था उस पर अपनी अप्रसन्नता बनाए रखती थीं।

\+ \+

पिता आवेश में आततायी थे, मां आवेश की कमी के कारण निर्दय। पिता का क्रोध जब बरस जाता था तब शेखर जानता था कि हम फिर सखा हैं, मां जब कुछ नहीं चाहती थी, तब उसे लगता था कि वह मीठी आंच पर पकाया जा रहा है।"

-अज्ञेय : शेखर-एक जीवनी : प्र०भा० १९६१, बनारस, स०सं० पृ० १२१

३- वही, पृ० ६४-५

४- वही, पृ० १३४-५

उसका अहं उसे निरन्तर विजयी बनाता है। वह भय प्रवृत्ति पर भी विजय प्राप्त करता है। अजायबघर के भीमकाय बाघ को देख कर वह भयभीत हो जाता है। किन्तु गृह में उसे देखकर पहले तो वह भयभीत होता है किन्तु कालान्तर में चाकू[1] से खाल उधेड़कर वह समस्त भयानक वस्तुओं से निःशंक तथा निर्भीक हो जाता है। उसके निष्कर्ष ही उसकी असाधारण प्रतिभा के परिचायक हैं। जीवन, मृत्यु, बालक के जन्म के प्रति कुतूहल ही सेक्स सम्बन्धी जिज्ञासा को जाग्रत करता है। शेखर का अहं उसे विद्रोही बनाता है किन्तु नारियों का प्रेम हीं उसे वरदान रूप में प्राप्त है। शीला, फूलां, शारदा, सरस्वती शान्ति, शशि आदि का प्रेम उसे प्राप्त हुआ है। जिनमें से शारदा सरस्वती तथा शशि का प्रभाव उस पर गहरा है। वय: सन्धि के समय उसे शारदा प्राप्त होती है। वह उससे दूर जाकर के भी उसके स्वप्न में समाहित हो जाती है।[2] वह अपनी बहन सरस्वती का पूजक है। वह ही उसके बाल्यजीवन-मरुस्थल का शाद्वल है। उसके जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करती है शशि। उसका महत्व इसलिए नहीं है कि वह उसके जीवन में सर्वप्रथम आई प्रत्युत उसके व्यक्तित्व-निर्माण में उसका महत्वपूर्ण योगदान है।[3] वह ही उसे कर्तव्य के प्रति प्रेरित करती[4] है। कालेज के अध्ययन काल में वह सच्चा कांग्रेसी कार्यकर्ता बनता है, चेतावनी के बावजूद जुआ खेलने वाले अपराधी स्वयंसेवकों की वर्दी उतरवा लेता है।[5] अपराधी विद्यार्थियों के अनुरोध पर सेनापति के हस्तक्षेप सेवह क्षुब्ध होता है।

१- अज्ञेय : 'शेखर: एक जीवनी' : प०भा०, १९६१, बनारस, स०सं० पृ०५१-२

२- वही पृ० १८९, २३०, २३१

३- 'तुम वह सान रही हो, जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज होता रहा है- जिस पर मंज-मंज कर मैं कुछ बना हूं जो संसार के आगे खड़ा होने में लज्जित नहीं है -लज्जित होने का कोई कारण नहीं जानता।'

वही, पृ० १६

४- वही, पृ० वही दू०भा०, १९४७, बनारस, द्वि०सं०, पृ० ३५, १९६आदि

५- वही, पृ० ४१

ऐसी स्थिति में रामकृष्ण के संसर्ग में आकर वह क्रान्तिकारी बनता है।[1] उसके अहं मात्र ने ही उसे क्रान्तिकारी नहीं बनाया। पिता के प्रारम्भिक क्रान्तिकारी संस्कार उसे प्राप्त थे। संसार के वृहत् अनुभवों ने उसे लेखक बनाया। उसका जैसा अहंवादी व्यक्ति का क्रान्तिकारी बनना मनोवैज्ञानिक है। 'कल्याणी' :१९४१: 'संन्यासी' 'पर्दे की रानी' :१९४२: 'प्रेत और छाया' १९४४: 'त्यागपत्र' :१९५०: 'नदी के द्वीप' :१९५१: 'सुखदा' :१९५२: 'विवर्त' :१९५३: 'व्यतीत' :१९५३: प्रभृति उपन्यासों के पात्र असाधारण हैं। कुछ चरित्र तो इतने असामान्य हैं कि वे मनोवैज्ञानिक केस प्रतीत होते हैं। यथा 'प्रेत और छाया' :१९४४: का पारसनाथ। वह सभ्य तथा संवेदनशील व्यक्ति प्रतीत होता है जो नारियों की दुरवस्था से द्रवित होता है। परन्तु अपनी कुंठा के कारण वह उनसे निरन्तर क्रीड़ा करता रहता है। उसे स्त्रियों के सतीत्व पर रंचमात्र भी विश्वास नहीं है। उसका अन्तःकरण उनसे घृणा करता है।[2] यही कारण है कि वह मंजरी के प्रति द्रवित होकर कुछ काल तक रहता है किन्तु उसकी आवश्यकता के क्षण में उसका परित्याग कर देता है। पहाड़ी लड़की से भी प्रेम करते हुए वह भाग जाता है। मुलोरिया-पत्नी नंदिनी को भगाते हुए उसे अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है क्योंकि वह किसी की पत्नी तथा कुलीन नारी को भगाए लिए जा रहा है।[3] नंदिनी को पीड़ित करने के लिए वह हीरा से मेलमेल बढ़ाता है। इस प्रकार का चित्रण मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पूर्व भी हुआ था। परन्तु व्यक्ति का आचरण इस प्रकार का क्यों है, इसका उत्तर केवल इन उपन्यासों में प्राप्त होता है। यही इनके चरित्र-शिल्प की विशेषता है। पारसनाथ के व्यवहार के मूल में है उसके पिता के वचन कि वह उसका पुत्र नहीं है प्रत्युत शिवशंकर वैद्य का पुत्र है।[4] मां के प्रति घृणा का भाव ही समस्त स्त्रियों के प्रति घृणा भाव में परिणत हो गया। किन्तु मृत्यु के क्षण में पिता पारसनाथ के समक्ष स्वीकार करता है कि उसकी माता सती

१- अज्ञेय: 'शेखर : एक जीवनी' :द्वि०भा०, १९४७, बनारस, द्वि०सं०, पृ० १४१-३

२- इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' : १९४४, इलाहाबाद, प्र०सं० पृ० २३

३- वही, पृ० २९६-७

४- वही, पृ० ३१

थी[1]। उसके मन्तित्व की ही प्रतिक्रिया हुई कि उसने उसके चरित्र पर झूठा लांछन लगाया[2]। जिस दिन उसने कहा था कि वह उसका पुत्र नहीं है, उस दिन उसके हृदय में पुत्र के प्रति अत्यधिक स्नेह भाव उत्पन्न हुआ था[3]। इसमें केवल मुख्य पात्र के ही मनोविज्ञान का चित्रण नहीं होता प्रत्युत अन्य पात्रों के मनोविज्ञान पर प्रकाश पड़ा है। इसके शिल्प की विशेषता यह है कि मनोवैज्ञानिक केसों के मनोविज्ञान पर आलोक पड़ा है। सामाजिक, ऐतिहासिक उपन्यासों के चरित्र-शिल्प में पात्र विशेष के कार्यों, चिंतन अथवा संवाद का आधार मनोवैज्ञानिक है। परन्तु उनमें अचेतन में निहित कुंठाओं, इच्छाओं का चित्रण नहीं हुआ है। उसके विपरीत इनमें पात्र के विकास क्रम का उत्स दृष्टिगत होता है। कार्य जो असंगत तथा विचित्र प्रतीत होता है वह मनोविज्ञान की कसौटी पर कंचन-सा खरा उतरता है।

मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता

२६- मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्रों की उन क्रियाओं का चित्रण हुआ करता है जिनके मूल में अचेतन होता है। पात्र का चेतन मस्तिष्कजन्य कथन या कार्य अचेतन की इच्छा के प्रतिकूल हो सकता है। इस कारण इन उपन्यासों में कुछ स्थलों पर मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता दृष्टिगत होती है। यह :मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता: चरित्रों की दमित भावनाओं के विस्फोट में दृष्टिगत होती है यथा-'कल्याणी' का चेतन मस्तिष्क पति का प्रशंसक है, उसके रूप पर मुग्ध है। परन्तु उसका अचेतन मस्तिष्क उससे घृणा करता है। यही कारण है कि जब उसका पति डा० असरानी कल्याणी के पूजापाठ स्नानादि का उल्लेख करता है वह कुछ देर तक शांत बैठी रहती है फिर एकाएक उसका बरसना कि वह सब मूर्तियां तोड़ देगी[4] असंगत प्रतीत होता है परन्तु इसमें

१- इलाचन्द्र जोशी, 'प्रेत और छाया' १९४४, इलाहाबाद, प्र०सं०पृ०३८५

२- वही, पृ० ३८६

३-'विश्वास मानो, जिस दिन कालिम्पांग में मैंने तुम्हारा तिरस्कार करते हुए तुमसे कहा था कि तुम मेरे बेटे नहीं हो, उसदिन तुम्हारे प्रति मेरे मन में सबसे अधिक स्नेह भावना उमड़ी थी' --वही, पृ० ३८७

४- वह पति कीओर चीख कर बोली- तुम साफ साफ कह क्यों नहीं देते हो कि तुम क्या चाहते हो ? मुझे तिल तिलकर पेखना चाहते हो--हो वह तो हो रहा है। आखिरी सांस तक मेरा खिंच जायेगा तब भी मैं इन्कार नहीं करूंगी। लेकिन

मनोवैज्ञानिकता है। कल्याणी आत्मपीड़ित नारी है। वकील साहब के सामने जब डाक्टर असरानी उसकी पूजापाठ तथा कार्यतत्परता का उल्लेख करते हैं उसका मन विद्रोही हो जाता है। फलत: दबा हुआ रोष मात्र प्रकट हो जाता है। चेतन के अन्तराल में निहित वास्तविकता के उद्घाटन का यह सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार शान्ति नन्दकिशोर से कहती है कि वह उसे उसके भाई के यहां भरतपुर पहुंचा दे। वह अध्यापिका है। मैं (नन्दकिशोर) के प्रति आकृष्ट है। वह स्वयं को छलती है। कमलकुमारी के व्यंग्य से आहत होकर वह नन्दकिशोर के साथ निकल जाती है। वह नन्दकिशोर के समक्ष प्रकट यही करती है कि वह उसे भाई के यहां पहुंचा दे परन्तु उसका अन्तश्चेतन यह विश्वास करके ही उसके साथ गया कि वह उसे अन्यत्र ले जायेगा। इसी प्रकार जयन्ती आत्महत्या करने के पूर्व नन्दकिशोर के नाम जो पत्र छोड़ गयी है उससे स्पष्ट हो जाता है कि नन्दकिशोर ने उससे विवाह आनन्द प्राप्ति के लिए नहीं किया था प्रत्युत सामाजिक अधिकार के प्रयोग के लिए क्योंकि विवाह के पूर्व ही उसके चरित्र के प्रति (उसके मन में) सन्देह का जन्म हो गया था[2]। शिल्प की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता के सुन्दर उदाहरण `जलचित्र` :१९४१:[3], पर्दे की रानी :१९४२:[4] सुखदा :१९५२:[5] विवर्त :१९५३:[6] आदि में उपलब्ध होते हैं। मानसिक संघर्ष के क्षण में स्वयं बात कह कर मुकर जाना भुवनमोहिनी तथा सुखदा के चरित्र की विशेषता है।

१--उसने--अत्यन्त

शेष- इसके बाद तुम मुझे अपनी तरह रहने क्यों नहीं देते हो ? ---अच्छा तो मैं अभी अपनी सब मूर्तियां तोड़ देती हूं। बस। इससे तो तुम्हें चैन पड़ेगा ?`

जैनेन्द्र :कल्याणी : १९३२, दिल्ली, पृ० ५०

१- उसने अत्यन्त शांत और गंभीरभाव से कहा-` मुझे पहले ही इस बात की आशंका थी। यह आशंका होते हुए भी मैं तुम्हारे साथ क्यों चली आई, यह मैं स्वयं नहीं जानती। मैं तुम्हें दोष नहीं देती क्योंकि मैंने ही तुम्हें इसके लिए उकसाया है, पर भय मुझे इस बात का है कि इस नई स्थिति को हम दोनों किस हद तक निभा सकेंगे।` --इलाचन्द्र जोशी :`संन्यासी` १९५९, इला०, द्वि०सं०, पृ० ११२

२- वही, पृ० ३६३ :३:पहाड़ी :`जलचित्र`: १९४१, इला०पृ०३८, ६१, ११०, १११, ११२

४- इलाचन्द्र जोशी:`पर्दे की रानी` १९४२, इला० प्र०सं०, पृ०१११, १२६-७, १२९-१३०, २१६, २१७आदि

५- जैनेन्द्र :`सुखदा` दिल्ली, पृ० ७९, ६४, ११५, १२६-१३०आदि।

६- वही `विवर्त` :१९५७, दिल्ली, द्वि०सं० पृ० २६-७, १३८, १६६ आदि

भुवनमोहिनी को ज्ञात है कि जितेन ने रेल की पटरी उखाड़ी है तथा वह मि० सहाय बनकर उनके यहां अतिथि के रूप में रहा है। पुलिस अधिकारी चड्ढा को बैरिस्टर नरेश के अतिथि सहाय पर सन्देह है। परन्तु नरेश की मित्रता के कारण वह सहायक के विषय में प्रश्न पूछता रहता है। सहाय के सम्बन्ध में जांच नहीं कर पाता है। जितेन के जाते ही वह नरेश से कहती है कि वह चड्ढा को भेज दे। मोहनी उन्हें आश्वस्त करते हुए कहती है कि वे नौकरों से पूछ लें सहाय बिना किसी सूचना के अकस्मात् चले गए। मि० चड्ढा के जाते ही वह नरेश से कहती है कि उसने उन्हें अकेले क्यों भेजा था। उसकी विकलता की झलक ही उसमें व्याप्त हो रही है। निर्जन में मोहनी की कार रुकवा कर जितेन साथी सहित कार पर चढ़ जाता है। ड्राइवर को दवाई लाने भेज कर जितेन अपना अभिप्राय प्रकट करता है कि उसे पचास हजार रुपया चाहिए। मोहिनी स्नेहजन्य रोष प्रकट करती है, वह तेजी से कार चलाकर उनके यहां पोर्च में रोकता है। उनके अनुरोध पर वह नरेश और चड्ढा को वह सिनेमा ले आता है। उसके आते ही उसने कहा- कि "बड़ी देर लगा दी"। नरेश ठीक समय पर आया है। उसकी विकलता, मानसिक संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व तथा उत्तेजना उक्त कथन में ध्वनित हो रही है। इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से चरित्र-शिल्प में पूर्णता का समावेश हुआ है। पात्रों की क्रियाएं जो अर्थहीन, असंगत तथा विचित्र प्रतीत होती हैं वे चरित्र शिल्प का अंग बन गयी। लघु घटनाओं -कथाप्रसंगों की झांकियों, पात्रों के लघु कथनों के द्वारा उनके अन्तरतम का परिचय प्राप्त होता है।

सजीवता

२७- चरित्र-शिल्प के समुन्नत होने का यह परिणाम है कि उपन्यासों के पात्र सजीव तथा जीवन्त प्रतीत होने लगे। प्रारम्भिक उपन्यासों के चरित्र-शिल्प में सजीवता का अभाव था। उनमें स्वतः जीवन स्पन्दित होता हुआ नहीं प्रतीत होता था। सन् १९१८ में सुमन जैसी सजीव पात्री की सृष्टि हुई। कालान्तर में अनेक सजीव पात्र उपन्यासों में प्रस्तुत हुए जिनमें शिल्प की दृष्टि से "रंगभूमि": १९२६-७ : का सूर,

---

१-जैनेन्द्र : विवर्त : १९५७, दिल्ली, द्वि०सं० पृ० १३८

२- वही, पृ० १९९

`कंकाल` :१९२९: की घंटी, `परख` :१९२९: की कट्टो, `चित्रलेखा` :१९३४: `गोदान` :१९३६: के होरी-धनिया, मेहता मालती, गोबर, झुनिया आदि `शेखर :एक जीवनी` :१९४०: के शेखर शशि `बाणभट्ट की आत्मकथा` :१९४६: के बाणभट्ट, निपुणिका, भट्टिनी `झांसी की रानी :लक्ष्मीबाई` :१९४६: की लक्ष्मीबाई, झलकारी कोरिन आदि `मृगनयनी` :१९५०: की मृगनयनी, मानसिंह, अटल, लाखारानी आदि `व्यतीत` :१९५३: की चन्द्री, अमित कपिला, `विवर्त` :१९५३: की भुवनमोहिनी, `मैला आंचल` :१९५४: की लक्ष्मी दासिन, बालदेव, बावनदास `यशोधरा जीत गई` :१९५४: की यशोधरा, `रत्ना की बात` :१९५४: के रत्ना तथा तुलसीदास आदि प्रमुख हैं। नयनविहीन भिखारी सूरदास सामान्य भिखारी से भिन्न है। उसकी आदर्शवादिता ही उसे सजीव तथा जीवन्त बनाती है। उपन्यासकार का प्रस्तुतीकरण शिल्प भी इतना समुन्नत है कि आदर्श व्यक्तित्व में प्राण-प्रतिष्ठा हो गयी है। उसका कथन, आचरण तथा व्यवहार ही उसके उदात्त चरित्र का द्योतक है। वह युगावतार गांधी का प्रतिनिधित्व करता है। भैरो की पत्नी सुभागी पति के अत्याचार से त्रस्त होकर सूर की शरण लेती है। भैरो सूर के विरुद्ध आरोप लगाता है। फलत: सूर को ६ मास का कारावास दण्ड मिलता है। तब वह अपनी निर्दोषता की अपील जनता से जिस ढंग तथा स्वर में करता है वह अत्यधिक प्रभावशाली तथा मार्मिक है[1]। सर्वत्र उसके कथन तथा आचरण में विलक्षणता[2]

१- `आप लोगों से मेरी विनती है कि क्या आप भी मुझे अपराधी समझते हैं ? क्या आपको विश्वास आ गया कि मैंने सुभागी को बहकाया और अब अपनी स्त्री बनाकर रखे हुए हूं ? अगर आपको विश्वास आ गया हो तो मैं इसी मैदान में सिर झुका कर बैठता हूं, आप लोग मुझे पांच पांच लात मारें। अगर मैं लात खाते मर जाऊं, तो मुझे दुख न होगा। ऐसे पापी का यही दण्ड है। कैद से क्या होगा। और आपकी समझ में बेकसूर हूं तो पुकार कर कह दीजिए, हम तुम्हें निरपराध समझते हैं। फिर मैं कड़ी से कड़ी कैद भी हंसकर काट लूंगा।`

— प्रेमचन्द : रंगभूमि, इलाहाबाद : पृ० ३५३-४

२- वही, पृ० ३५१, ३५२, ३७०, ३७१, ३७७, ५३१ आदि

है जो उसके विशिष्ट व्यक्तित्व के अनुरूप है। उपन्यासों में विधवाओं का चित्रण आदि से अब तक हुआ है परन्तु इस वर्ग के नारी पात्रों में घंटी अद्वितीय है। वृन्दावन की गलियों में घूमने वाली बालविधवा घंटी अल्हड़पन के साथ स्वभावगत हास्य लिए प्रस्तुत होती है[1] किन्तु उसके चरित्र की सजीवता का कारण है हास्य के साथ हृदय का गांभीर्य[2]/ उपन्यासकार ने उसकी चारित्रिक विशेषता चंचलता का उल्लेख किया है। उसकी वचन पटुता दर्शनीय है। विजय शास्त्री के मन्दिर की आरती देखने नहीं जाता है। किशोरी कहने लगती है तब उसका कथन कि `अच्छा तो आज ललिता की ही विजय है, राधा लौटी जाती है`[3]। वह केवल हंसोड़ मात्र नहीं है। वह प्रेम के अधिकार से वंचित नहीं रहना चाहती इसलिए यमुना के आदेश को स्वीकार कर उससे विवाह न करने वाले विजय से प्रेम करती[4] है। उसके प्रेम में कितना गांभीर्य है इसका भी उल्लेख हुआ है। घंटी के शिल्प में जहां यथार्थता है वहां `परख` :१९२९: की कट्टो का शिल्प आदर्शमूलक होते हुए भी मनोवैज्ञानिक है। जैनेन्द्र कुमार :१९०५: की समस्त नारी पात्र त्याग की प्रतिमा हैं परन्तु इनका शिल्प प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: की नारी-पात्रियों से भिन्न हैं। उनके त्यागी पात्रों का अन्तर तथा बाह्य एक है। उनके त्यागगत सिद्धान्त भी स्पष्ट हैं। इसके विपरीत कट्टो के त्याग के मूल में है

१- जयशंकर प्रसाद : `कंकाल`: १९५२, इला० स०सं० पृ० १०२, १०८, १७७

२- वही, पृ० १७६ -१७७, १८८-९

३-

३- जयशंकर प्रसाद : `कंकाल` १९५२, इला० स०सं० पृ० १०२

४- वही , पृ० १७६-७

मास्टर सत्यधन की कल्याण-कामना। विधवा होते हुए भी मास्टर सत्यधन के संसर्ग में नवजीवन का स्वप्न देखने वाली, अपने लिए टिकुली, हिजिया, कंघा, शीशा, लाल चूड़ियों का क्रय करने वाली कट्टो का त्याग अनूठा तथा अनुपम है। किन्तु सत्यधन और गरिमा के विवाह का औचित्य समझ कर उसके बिहारी के प्रति कथन में आत्ममंथन, पीड़ा और व्यथा का उदात्तीकरण है[1]। कट्टो का शिल्प कलात्मक तथा सांकेतिक है। बिहारी जब गरिमा और सत्यधन के विवाह का औचित्य समझाता है, मूक सहिष्णु धरती सी नारी अचेत हो जाती है[2]। अचेत होना ही उसकी व्यथा का परिचायक है। इसके उपरान्त वह त्याग करती है। इसी त्यागमयी नारी का विकास `विवर्त` १९५३ : की भुवनमोहिनी तथा तिब्बती[3] `व्यतीत` १९५३ की चन्द्री[4] के रूप में हुआ है। ये नारियां वैसा ही जानती हैं आत्मपीड़ा के सिद्धान्त को अंगीकार करने के कारण ये सजीव तथा हृदयग्राही हो गयी हैं। इसीलिए इनके अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह अंकित नहीं होता है। उपन्यासकार पात्रों के क्रियाकलाप के अतिरिक्त उनके अन्तरतम का भी उद्घाटन करते हैं। इसीलिए चित्रलेखा, बीजगुप्त, कल्याणी, शेखर निरंजना, पार्श्वनाथ प्रभृति[5] पात्रों का चित्रण सजीव तथा जीवन्त हुआ है। पात्र केवल आदर्श की प्रतिमूर्ति नहीं हैं उनमें मानवीय सबलता और दुर्बलता दृष्टिगत होती है। उपन्यासकार पात्रों की रूप-रेखा, आकृति-चित्र वेशभूषा, आंगिक चेष्टा तथा भाव-भंगिमा प्रस्तुत करते हैं[4] जिससे पाठक उनके प्रति निश्चित धारणा बना सके। इसके अतिरिक्त,

---

१- `जो कुछ भी तुम चाहते हो सब में कट्टो की खुश राय है। कट्टो भी उसे खूब चाहती है। उसका पूरा पूरा विश्वास रखो। तुम्हारी खुशी में उसकी खुशी है। तुम्हारे सोच में उसकी मौत है। अपने कामों में कट्टो की गिनती मत करो। - वह गिनने लायक नहीं है। उसकी खुशी तुममें शामिल है। जब तुम ब्याह करना चाहते हो, कट्टो तुम्हारी सबसे पहले तुम्हारा ब्याह चाहती है।`
-जैनेन्द्र: `परख` १९६०, बम्बई न०सं० पृ० ६७-८

२- वही : पृ० ८६ ३ -वही, विवर्त, १९५७ दिल्ली, द्वि०सं०, पृ०१७१, १९८आदि

४- वही : `व्यतीत` १९६२, दिल्ली, तृ०सं०, पृ० १०७

५- प्रेमचंद्र : रंगभूमि : इला० पृ० ६, ३७ आदि।
भगवतीचरण वर्मा : चित्रलेखा : १९५५, इला०, बा०सं० पृ० ११, ७६, ६६ आदि
जयशंकर प्रसाद: `तितली` : १९५१ : इला०, छ०सं० पृ० २६, ३१, ३७, ८४ आदि

चरित्र-शिल्प अभिनयात्मक तथा विश्लेषणात्मक है। इनका स्वतः विकास होता है। उदाहरणार्थ-'मैला आंचल' की लक्ष्मी दासिन ज्ञानशून्य है, महन्त सेवादास ने उसे दासी बना लिया, उनकी मृत्यु के अनन्तर रामदास उस पर अधिकार प्राप्त करना चाहता है जिसका वह विरोध करती है। बालदेव जैसे कांग्रेसी के संसर्ग में आकर उसे कुछ सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधि का परिचय प्राप्त हो जाता है जो अपूर्ण तथा अपर्याप्त है। बालदेव के प्रति उसके कथन में सरलता, गांधी जी के प्रति आस्था तथा भोलापन व्यक्त हो रहा है तथा उसके स्वर में साधुओं का परम्परागत स्वर भी ध्वनित हो रहा है[1] कि महात्मा गांधी पर आस्था रखो, तथा अन्य व्यक्तियों के दुर्गुण की अपेक्षा अपने दुर्गुण देखो।[2] यथार्थवाद के प्रति दृढ़ आग्रह के कारण ही इस उपन्यास के समस्त पात्रों का चित्रण विश्वसनीय तथा अपने वर्ग के अनुरूप ही है। उपन्यासों के प्रस्तुतिकरण-शिल्प में भी रम्य आकर्षण है, तथा पात्रों का सम्यक् चित्र स्वतः पूर्ण, सजीव तथा जीवन्त है। इस उपन्यास के पूर्व 'बाणभट्ट की आत्मकथा' १९४६ में भी इसी प्रकार के सजीव पात्रों की सृष्टि हुई है। उसके पात्रों की सजीवता का रहस्य है -- सफल संवादात्मक, चित्रात्मक तथा अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण। आधुनिक काल में प्रसिद्ध कवियों की औपन्यासिक जीवनी के चरित्र भी सजीव तथा जीवन्त हैं।[3] कतिपय मौलिक प्रसंगों की उद्भावना कर इनके व्यक्तित्व को सप्राण बनाया गया है।

शेष- प्रेमचंद:'गोदान' १९४६, बनारस, द०सं०पृ० ४, १९, २३-४ आदि

अज्ञेय: शेखर: एक जीवनी' प०भा०१९६१, वाराणसी, स०सं०पृ०११८, १२०, १३६

उषादेवी मित्रा: 'प्रिया' १९४६, बनारस, च०सं० पृ०८-९२

वृंदावनलाल वर्मा: 'मृगनयनी' १९६२, झांसी, ११वां सं०पृ० १३, ४२, ४९, ७५, १८१

1- फणीश्वरनाथ रेणु: मैला आंचल: १९६१, दिल्ली, पा०बु०ए०द्वि०सं० पृ०२६२, ३८०

2- 'दुनिया की दोष गुन को देखने के पहले अपनी काया की ओर निहारो। मन मैला तन ऊजरो उलटी जग की रीत -- । --पहले मन को साफ करो। मन पवित्र नहीं, इसीलिए वह दुखी होता है, निराश होता है। तुम पंथ पर उदास होकर क्यों बैठ रहे हो ? क्यों ? -इतने डरते क्यों हो।' चलते चलते पग थका नगर रहा नौ कोस, बीचहि में डेरा परा, कहहु कौन का दोष।

—वही पृ० २६२

3- रांगेय राघव: 'यशोधरा जीत गयी' १९५४, आगरा, प्र०सं० पृ० ६२, ६३, १०४, १२६ आदि

वही : रत्ना की बात : १९५४, आगरा, पृ० ८७, ९०, ९१, ९२, १०४

विभिन्नता तथा विषमता

२८- चरित्र-शिल्प में जब व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी तब भी उपन्यासकारों ने उपन्यासों में विभिन्न प्रकार के चरित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था । समस्त प्रारंभिक उपन्यासों में आदर्श :सत्: तथा खल चरित्र दृष्टिगत होते हैं । सत् पात्र सुधारक, कर्त्तव्यनिष्ठ, नारीरक्षक, दृढ़ प्रतिज्ञ तथा धर्मरत हैं अथवा वीर यथा `परीक्षा गुरु` (१८८२) का लाला ब्रजकिशोर, `सौ अजान और एक सुजान` (१८९०) का चन्दू, `वरदान` (१९०६) का प्रतापचन्द्र `मल्लिकादेवी वा बंग सरोजिनी` की मल्लिका, नरेन्द्रसिंह, `शाहआलम की आँखें` (१९१८) का तेजसिंह, कमलादि । इसी प्रकार इनमें अनेक वीरांगनाएं हैं जो अन्याय अत्याचार का सक्रिय विरोध करती हैं यथा `रानी दुर्गावती` `मल्लिकादेवी, मस्तानी, कमला आदि । ये वीर, साहसी, क्षत्राणी हैं । आत्माभिमान इनकी रग-रग में भरा हुआ है । मुसलमान खलनायक की पत्नी बनने की अपेक्षा ये मृत्यु का आलिंगन करना श्रेयस्कर समझती हैं । तारा, कमला, मल्लिका आदि ऐसी ही वीर रमणियां हैं । सत पात्रों के विपरीत खल पात्र हैं यथा- शाहआलम, दारा, तुगरल अलाउद्दीन आदि- अथवा दिग्भ्रमित मानव जिसके सुधार के लिए उपन्यासों की सृष्टि हुई है यथा- लाला मदनमोहन, डाकू सरदार, नन्दू, बलराम चौबे आदि । चरित्र-शिल्प की दृष्टि से ये पात्र जीवन्त नहीं प्रतीत होते हैं । इनमें व्यक्तित्व का अभाव है । इनमें केवल सत् और खल पात्रों के निर्माण का प्रयत्न हुआ है जिनका कालान्तर में वर्गवादी पात्रों के रूप में विकास हुआ । शिल्प के अभाव में भी प्रारंभिक उपन्यासों में विभिन्न प्रकार के पात्रों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न हुआ था यथा- धर्मात्मा, पापात्मा, ठग, राजा रानी, अय्यार तथा अय्यारायें जासूस आदि । तिलस्मी-उपन्यासों के द्वारा अभिनव पात्र की सृष्टि हुई जिसका हिंदी जगत् से परिचय न था । ये पात्र हैं अय्यार तथा अय्यारायें । शिल्प की दृष्टि से `चंद्रकान्ता` (१८८८) `चन्द्रकान्ता संतति` (१८९६) के अय्यार तथा अय्यारायें रोमानी पात्र हैं क्योंकि ये कथा रासायनिक भी हैं । रासायनिक पदार्थ के आश्रय से ये अपनी आकृति परिवर्तित कर सकते हैं तथा इच्छित व्यक्ति की आकृति धारण कर सकते हैं । इसलिए इनके झोले में रासायनिक पदार्थ रहा करता है । क्षण मात्र में मनुष्य का अपहरण करना, गठरी ताकना अचेत करना, लखलखा सुंघाकर सचेत

करना, मृत व्यक्ति को जीवित करना आदि[1] - इनके बाएं हाथ का खेल है । ये मोम के व्यक्तियों की सृष्टि करते हैं जो जीवित मनुष्यों से भिन्न नहीं प्रतीत होते । फलत: इसमें चरित्र-शिल्प की स्वाभाविकता के स्थान पर विलक्षण कृत्य ही दृष्टिगत होते हैं । यूं आदर्श, वीरता तथा साहस की दृष्टि से ये अय्यार मध्ययुगीन क्षात्रियों के निकट हैं । ये अपने स्वामी के प्रति कर्तव्यरत है । ये निरन्तर अपने प्राणों को हथेली पर लिए घूमते रहते हैं । ये प्रतिद्वन्द्वी अय्यार से धर्मयुद्ध करते हैं[2] । इनका रण-कौशल, युद्ध-चातुर्य तथा सतर्कता दक्ष सेनापति के समकक्ष है । वास्तव में मध्यकालीन राजपूतों के साथ अठारहवीं शताब्दी के ठगों और आधुनिक काल के रासायनिक जासूसों का सम्मिलन करके अय्यारों की सृष्टि हुई थी । वास्तव में ये अय्यार हिन्दी साहित्य के अद्भुत अपूर्व आविष्कार है[3] । इनके विलक्षण कृत्यों से ही इनके शौर्य, साहस तथा त्याग का परिचय प्राप्त होता है यद्यपि इनके हृदय पक्ष की सर्वथा उपेक्षा हो गयी है क्योंकि चरित्र-शिल्प कथानक शिल्प का अंग है । हृदय-पक्ष के अभाव के कारण ही ये पात्र स्वाभाविक तथा विश्वसनीय नहीं प्रतीत होते और न इनमें जीवन का स्पन्दन ही प्रतीत होता ह । देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३) तथा उनके समवयस्कों के अनन्तर अय्यार अय्याराओं की परम्परा का विकास नहीं हुआ । `वैशाली की नगरवधू` (१९४८) में विषकन्या कुंडली, छाया पुरुष के प्रवेश के कारण सेट्ठिपुत्र की वाणी तथा व्यवहार आदि के रूपान्तर में अलौकिक तत्व दृष्टिगत होते हैं । इनका अस्तित्व संदिग्ध है । ये रोचक अय्यारों की भांति हैं । विषकन्या के चित्रण का शिल्प भी

१- (क);- गुलाब का फूल पानी में घिसकर किसी को पिलाया जाय तो उसे सात रोज तक किसी तरह की बेहोशी असर न करेगी ।

(ख)- मौतिये का फूल अगर पानी में थोड़ा-सा घिसकर किसी कुएं में डाल दिया जाय तो दो पहर तक उस कुंए का पानी बेहोशी का काम देगा, जो पियेगा वह बेहोश हो जाएगा । इसकी बेहोशी आध घंटे बाद उतरेगी ।

— देवकीनंदन खत्री: `चंद्रकांता`: पु०वि०(१९३२)बनारस; १९वां सं०, पृ०- ७६ ।

२- `महाराज हम लोग ऐयार हैं, हजार आदमियों में अकेले घुसकर काम करते हैं मगर एक आदमी पर दस ऐयार नहीं टूट पड़ते । यह हम लोगों के कायदे के बाहर है

— वही- पृ०- १०

३- डा० श्रीकृष्णलाल :`आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास` (१९५२) इलाहाबाद: तृ०सं०, पृ० - २६५ ।

तिलस्मी उपन्यासों के समान है यद्यपि तिलस्मी उपन्यासों की अपेक्षा विकसित अधिक है। अय्यार अय्यारायें विरोधी पक्ष के व्यक्तियों की गठरी बनाकर बन्दी बना लेती हैं। विषकन्या कुंदनी अपने विष चुम्बन से शत्रु पक्ष को[1] मृत्यु के घाट उतार देती है। कुंदनी का सर्पदंशन लेकर सर्पिणी की भांति लहराना रोचक लगता है। प्रारंभिक उपन्यासों के पात्रों में जासूस भी उल्लेखनीय हैं। इनका शिल्प अय्यार अय्यारियों की भांति रोमानी नहीं है। अपराधी की खोज सम्बन्धी उसका कार्य सूक्ष्म निरीक्षण[2] पर आधारित होता है। उसकी व्यावहारिक बुद्धि, कार्यपटुता तथा चतुर्य का परिचय उसकी खोज के द्वारा प्राप्त होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जासूस की चारित्रिक विशेषता का चित्रण लेखक ने एक दो पंक्तियों में ही किया है। उसकी कार्यशीलता ही उसकी बुद्धि की परिचायक है। किन्तु शिल्प के अभाव के कारण ही जासूस महत्वहीन हो जाता है। उसकी खोज का आधार वैज्ञानिक न होकर संयोग पर आधारित है।

२९- चरित्रों के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा हो जाने पर उपन्यासों के क्षेत्र में शिल्प की दृष्टि से विभिन्नता तथा विषमता दृष्टिगत होने लगी। इस दृष्टि से प्रेमचंद (१८८०-१९३६) का नाम महत्वपूर्ण है। धूप और लू में अनवरत श्रम करता हुआ कृषक खेतों में खेलती हुई परस्पर झगड़ती हुई बालिकाएं, पति के साथ सुख दुख झेलती हुई सच्ची जीवन सहचरी, रखैल होते हुए भी सतवन्ती नारियां, कोठे पर बैठी हुई पवित्रता की मूर्ति पतिता, अन्त:पुर में मान किए हुए प्रियतमा, स्नेहशून्य विमाता, पराश्रयी भिखमंगे, खोंचेवाला ग्वाला सुराविक्रेता, ढोंगी, अवसरवादी सम्पादक, पाखंडी, पुजारी तथा ज्योतिषी वाद-विवाद में पटु और अध्ययनशील पर निष्क्रिय प्रोफेसर जन जीवन का रक्तपान करनेवाले जोंक से शोषक पात्र, बेईमान पूंजीपति,

---

१- चतुरसेन शास्त्री: 'वैशाली की नगरवधू' :पूर्वार्द्ध(१९४९)देहली: पृ०सं०- ७९,१९३, २०५ आदि ।

२- गोपालराम गहमरी : 'जासूस' (१अगस्त,१९१४)बनारस: पृ०सं०-६४-६,७०-७६आदि
वही- 'इसराज की डायरी' : प्रयाग, पृ०सं०- ४०-३, ४४ आदि
,, ,, 'होली का हरमोंग' (१९३८)बनारस, पृ०सं०- १८,२२,३३ आदि
,, ,, 'घटना घटाटोप' (१९३९)बनारस, पृ०सं०- ८८-९१,११७-१२०आदि
,, ,, 'हुन हुन गोपाल' (१९४६)इलाहाबाद: द्वि०सं०, पृ०सं०- ५१, ५८, ६०, ८९ आदि ।

महाजन, दारोगा, डाक्टर, डिप्टी आदि, धर्मभीरु, शोषित एवं विरोध करनेवाले उदीयमान शोषित पात्र, देश के लिए सुख सुविधाओं को तिलांजलि देने वाले त्यागी पात्र, कूटपरामर्शी में लीम गोयन्दे, पटवारी, दारोगा, [illegible], रियासत के महाराज एवं प्रमुख गर्व से पूर्ण विदेशी शासक आदि विभिन्न प्रकार के तथा विविध वर्ग के पात्रों का शिल्प की दृष्टि से सफल चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त, उनके शिल्प की अन्य विशेषता है तुलनात्मक पद्धति। एक ही वर्ग के दो पात्रों के द्वारा दो पीढ़ियों के मनोविज्ञान पर प्रकाश पड़ा है। वृद्ध भीरु तथा सहिष्णु पीढ़ी का चित्रण करते समय उद्धत, असहिष्णु, निश्शंक तथा निर्भीक पीढ़ी का चित्रण करना नहीं भूलते। `प्रेमाश्रम` (१९१८) का मनोहर बलराज, `कर्मभूमि` (१९३२) की सुखदा-सकीना, `गोदान` (१९३६) के होरी-गोबर आदि के शिल्प में दोनों की विभिन्नता स्पष्टत: ज्ञात होती है। गोबर को मालिक की खुशामद करना नापसन्द है जबकि होरी की दृष्टि में आवश्यक है। होरी राय साहब की कठिनाइयों की चर्चा सुनकर द्रवित हो जाता है कि वे दुखी हैं परन्तु गोबर इतना भोला नहीं है। वह व्यंग्य करता है।[१] इन पीढ़ियों का संघर्ष चलता रहता है। कालानन्तर में अनेक उपन्यासों में एक वर्ग के दो तथा कई पात्रों के माध्यम से विभिन्न मानवीय मनोवृत्तियों पर प्रकाश पड़ा है यथा `विदा` (१९२८) की चपला, कुमुदिनी, [illegible] आदि, `रामरहीम` (१९३७) की बिजली, बेला, `नारी` (१९३७) की बीना तथा पार्वती, `झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई` (१९४६) के रघुनाथसिंह, बख्शी, मोतीबाई, जूही, सुन्दर, पीरअली, दूल्हाजू आदि, `मृगनयनी` (१९५०) का बोधन पंडित, विजयाजंगम, मृगनयनी, लाखारानी आदि। पात्रों के विभिन्न संस्कारों के कारण उपन्यासों में विभिन्नता तथा विषमता

१- `होरी ने लोटा-भर पानी चढ़ाते हुए कहा- यही तहसील-वसूल की बात थी, और क्या। हम लोग समझते हैं -बड़े आदमी बहुत सुखी होंगे; लेकिन सच पूछो, तो वे हमसे भी ज्यादा दुखी हैं। हमें अपने पेट ही की चिंता है, उन्हें हजारों चिन्ताएं घेरे रहती हैं।

गोबर ने व्यंग्य किया- तो फिर अपना इलाका हमें क्यों नहीं दे देते? हम अपने खेत, बैल, हल, कुदाल सब उन्हें देने को तैयार हैं। करेंगे बदला? यह सब धूर्तता है, निरी मोटमरदी। जिसे दुःख होता है-वह दर्जनों मोटरें नहीं रखता, महलों में नहीं रहता, हलवा-पूरी नहीं खाता, और न नाच-रंग में लिप्त रहता है। मजे से राज का सुख भोग रहे हैं, उस पर दुखी हैं।— प्रेमचंद:

स्पष्टतया दृष्टिगत होती है । यथा लाखारानी और निन्नी दोनों सखी हैं । दोनों वीरांगनाएं हैं । दोनों साथ-साथ खेलती हैं । परन्तु दोनों की प्रवृत्तियों का अन्तर उपन्यासकार ने कलात्मक ढंग से प्रसंगवश प्रस्तुत किया है[1] । वर्गगत चरित्र के अतिरिक्त, व्यक्तिवादी पात्रों की भी सफल अवतारणा उपन्यासों में हुई है जिनमें सुनीता, हरिप्रसन्न (सुनीता), शेखर, शशि (शेखर:एक जीवनी), निरंजना (पर्दे की रानी), पारसनाथ (प्रेत और छाया), बाणभट्ट, भट्टिनी, निपुणिका (बाणभट्ट की आत्म कथा) आदि पात्र [illegible] विभिन्नता तथा विषमता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । इनके शिल्प की विशेषता है कि इनमें वैयक्तिकता [illegible] अंकुरण है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कुछ पात्र विश्लेषक हैं, कुछ कुंठाग्रस्त प्रत्येक चरित्र की प्रवृत्ति, कुंठा, दर्शन अन्य से भिन्न है । शिल्प की दृष्टि से वर्गवादी पात्रों की तुलना की अपेक्षा व्यक्तिवादी चरित्रों का शिल्प अधिक उच्चतर है । इसका कारण यह है कि वर्ग की अपेक्षा व्यक्ति की चारित्रिक विभिन्नता अधिक प्रदर्शित हो सकती है । विविध प्रकार की पद्धतियों में पात्रों की विभिन्नता तथा विषमता उपन्यासों में स्पष्टतः प्रकट हुई है ।

मौलिकता

३०- उपन्यासों के चरित्र-शिल्प के लिए मौलिकता आवश्यक है । शिल्प की दृष्टि से सफल उपन्यासों में यह विशेषता दृष्टिगत होती है । ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए यह आवश्यक विशेषता है । इस दृष्टि से `झांसी की रानी लक्ष्मीबाई` (१९४६) तथा `आचार्य चाणक्य` (१९५४) द्रष्टव्य है । लक्ष्मीबाई के बाल्यकालीन संस्कारों को देखते हुए[2] ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने स्वराज्य के लिए अंग्रेजों से युद्ध किया था[3] न कि स्वार्थवश राज्यलिप्सा के लिए । यह उपन्यासकार की शिल्पगत

१- वृन्दावनलाल वर्मा : `मृगनयनी` (१९६२) झांसी: म्या०सं०, पृ०सं०- १२५, १२७, १४६ आदि ।

२- वृन्दावनलाल वर्मा : `झांसी की रानी लक्ष्मीबाई` (१९६१) झांसी: न०सं० पृ०सं०- १८, १९ ।

३- वही- पृ०सं०- १६२-४, १६८ आदि ।

मौलिक उद्भावना है कि वे नीति के कारण दत्तक की स्वीकृति की अपील करवाते हैं। वे ऊपर से शांत हैं परन्तु उनका अन्तर योजनारत है[2]। फलत: उनका चित्रण मौलिक रूप में प्रस्तुत हुआ है। वह विश्वसनीय और यथार्थ प्रतीत होता है। 'आचार्य चाणक्य' राजनीतिज्ञ पुरुष थे। वे लक्ष्य देखते थे, साधन नहीं। उपन्यासकार ने उनमें माननीयता की प्रतिष्ठा कर उन्हें मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। उनका लक्ष्य महान् है। वे मगध के शत्रु हैं व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण नहीं। राष्ट्रीय कल्याण की भावना से अभिभूत होकर वे एक ऐसे सुदृढ़ शासन की व्यवस्था स्थापना करना चाहते हैं जिससे विदेशी एकशक्ति आर्यभूमि की ओर दृष्टिपात न कर सके[2]। वे राष्ट्र के कल्याण के लिए चन्द्रगुप्त और यवन बालिका के विवाह का समर्थन करते हैं यद्यपि प्रारंभ में वे मानस पुत्री करभिका के कारण इसका समर्थन नहीं कर पाते हैं[3]। किन्तु वे राष्ट्र के लिए करभिका के स्नेह की बलि देते हैं। किंतु उपन्यासकार का शिल्प इस दृष्टि से श्लाघ्य है कि उनके व्यक्तित्व में पूर्ण मानवीयता की प्रतिष्ठा हुई है[4]। चाणक्य क्रूरकर्मी नहीं है वह स्नेहवत्सल है।

उपन्यासकार ने ऐतिहासिक व्यक्तित्व में मौलिक कल्पना के संयोग से महामानव चाणक्य की सृष्टि की है। वह सुशासन का प्रतिष्ठाता, आर्यावर्त का हितैषी, स्नेही पिता तथा त्यागी ब्राह्मण के रूप में चित्रित हुआ है। इस मौलिक उद्भावना के फलस्वरूप चाणक्य का व्यक्तित्व महान हो जाता है। उनके स्नेही रूप की व्यंजना स्वाभाविक ढंग से हुई है। शिल्प की दृष्टि से सव्यसाची (बहता पानी: १९५५) जैसा मौलिक पात्र उपन्यास के क्षेत्र में अल्प दृष्टिगत होता है। अपनी दुर्बलता और महानता में यह चरित्र अविस्मरणीय है। वह प्रथम क्रांतिकारी है, कालानन्तर में समाज सुधारक है। वृद्ध विवाह के विरोध के फलस्वरूप वह सरला से विवाह कर लेता है। किंतु विवाह मंडप के समय उसे अनुभव होता है कि वह सुजाता से प्रेम करता है। फलत: वह सरला के अस्तित्व तक को स्वीकार नहीं करता। सरला को वह उसके मायके में

१- वृन्दावनलाल वर्मा: 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' (१९६१) झांसी: प्र०सं०, पृ०सं०- १८०, १८१, १९० आदि।

२- सत्यकेतु विद्यालंकार: 'आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य' (१९५७) मसूरी: प्र०सं०, पृ०सं०- १९८।

३- वही- पृ०सं०- २२६।

४- ,, ,, पृ०सं०- २२८, २३०।

मामा के यहाँ छोड़ देता है[1]। वह उसका आर्थिक भार ग्रहण कर कभी किसी मित्र के यहाँ या नौकरानी के साहचर्य में छोड़कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है। सुजाता हरिकिशन का गर्भ लेकर जब उसकी शरण आती है वह शीघ्र ही उससे विवाह करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है[2]। घटनाओं तथा परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उसका चरित्र उभरा है जो विश्वसनीय तथा यथार्थ है। इसके अतिरिक्त, शिल्प की दृष्टि से जो उपन्यास उल्लेखनीय है, उनमें प्रस्तुत चरित्र मौलिक हैं। किन्तु यह भी आवश्यक है कि प्रस्तुतीकरण-शिल्प मौलिक हो। उपन्यासकारों ने मौलिक पात्रों का चित्रण चरित्र-चित्रण की विविध प्रणालियों के द्वारा किया है। मौलिक पात्रों का चित्रण उनके संस्कार, रुचि, प्रवृत्ति तथा बाह्य परिस्थिति के अनुरूप हुआ है। इसी कारण यह अविश्वसनीय अथवा लेखकों के हाथ की कठपुतली नहीं प्रतीत होता है

अस्वाभाविकता

३१- उपन्यासकारों की असावधानी अथवा कतिपय अन्य कारणों से चरित्र-चित्रण में शिल्पगत दुर्बलता दृष्टिगत होने लगती है। फलतः चरित्र का वांछित प्रभाव का ह्रास होता है। चरित्र-चित्रण अविश्वसनीय प्रतीत होते हैं।

शिल्पगत दुर्बलता

३२- प्रारंभिक उपन्यासों के चरित्र-शिल्प में अस्वाभाविकता दृष्टिगत होती है। इसके कारण अनेक हैं। उपन्यासकार अभीप्सित उद्देश्य के लिए पात्र-चित्रण करता है जो स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। यथा- विनायक (नूतन ब्रह्मचारी: १८८६) की सरलता तथा ब्रह्मचर्य में इतनी शक्ति नहीं प्रतीत होती कि वह सब पात्र डाकू के हृदय को परिवर्तित कर दे[3]। डाकू के परिवर्तन में असाधारण त्वरा है क्योंकि

१- मन्मथनाथ गुप्त : 'बहता पानी' (१९५५) इलाहाबाद: पृ०सं०, पृ०सं०-१६२।

२- वही- पृ०सं०- १८३-४।

३- बालकृष्ण भट्ट : 'नूतन ब्रह्मचारी' (१९११) प्रयाग : द्वि०सं०, पृ०सं०-२५-३१।

वृत्ति का त्याग इतनी सरलता से नहीं हो सकता । उपन्यासकारों के सिद्धांतों के प्रति अत्यधिक आग्रह है जिसके कारण हृदयपक्ष सर्वथा उपेक्षित हो गया है । पात्रों में प्राणों का स्पन्दन नहीं हो रहा है । पात्र-चित्रण बाह्य धरातल पर हुआ है । इसलिए चरित्र-शिल्प अस्वाभाविक तथा अविश्वसनीय प्रतीत होता है । यथा- सलावत खां के सम्बन्ध में तारा अमरसिंह से कहती है कि उसका प्रतिरोध कीजिए अथवा उसके प्राण की आशा का परित्याग कर दीजिए । किन्तु वह मित्रता की डोर में इतना बंधा हुआ है कि वह पुत्री के कथन पर ध्यान न देकर मित्र के कृत्य का औचित्य स्वीकार करता है[1] । कन्या का अभिभावक अपना उत्तरदायित्व जानता है । वह इतना निश्चिन्त नहीं हो सकता है । मित्र के प्रति विश्वास होना सम्भव है परन्तु पुत्री के कथन पर ज़रा भी सतर्क न होना अस्वाभाविक तथा अविश्वसनीय है । तारा को विश्वस्त कर सलावत खां पर दृष्टि रखता तो चरित्र-शिल्प स्वाभाविक होता । इसी प्रकार कोई भी स्त्री सपत्नी को सहन नहीं कर सकती है । परन्तु यहां स्त्रियां स्वेच्छा से सपत्नी को अंगीकार करती हैं[2] । कोई भी पत्नी उस नारी को क्षमा नहीं कर सकती जिसके कारण उसका पति बन्दी बनाया जाये । आस्मानी बेगम के संरक्षण में मस्तानी पोषित होती है । उसी के कारण उसका पति निजाम बाजीराव के द्वारा पराजित होता है तथा बन्दी बनाया जाता है । किंतु वह उससे रुष्ट नहीं होती क्योंकि उसने उसके पति के प्राण नहीं लिए । मस्तानी का पत्र प्राप्त कर वह दुआओं के साथ पांच लाख का जेवर भी दहेज में भेजती है[3] । यहां ऐसा प्रतीत होता है कि पात्र की मनोभावनाओं का चित्रण नहीं हुआ है अथवा

१- `सलावतखां बहुत ही नेक और सच्चा मुसलमान है- यदि उसने तारा के पास कुछ सौगातें भेजीं तो इससे क्या ? यदि सलावत के लड़की होती तो क्या उसके लिए मैं कुछ न भेजता ? क्या मित्र की कन्या अपनी ही क्या नहीं है ?`

— किं०ला०गो०स्वामी: `तारा व क्षात्र-कुलकमलिनी` प०भा०(१९२४) मथुरा: पृ०सं०- ७६ ।

२- वही- `मल्लिकादेवी वा बंग सरोजिनी` : प्र०भा०,श्री०सु०ग्रं०मथुरा:पृ०-१११ ।

वही- `कनक कुसुम वा मस्तानी` : मथुरा, पृ०सं०- ७२ ।

वही- `सद्गुणी सुशीला` : (?) पृ०सं०- ५३ ।

उपन्यासकार ने जिस रंग में चाहा है उसमें उसे रंग दिया है। नारी पात्र का पुरुष वेष में निरन्तर शत्रु के साथ रहना भी अस्वाभाविक लगता है। शत्रु उसके नारीत्व के विषय में सन्देह भी नहीं कर पाता और वह उस पर पूर्ण विश्वास करता है। स्त्री के द्वारा ही वह पराजित होता है। इससे उपन्यास रोचक अवश्य लगता है, परन्तु चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वह अस्वाभाविक है। 'मल्लिका देवी' तथा 'मस्तानी' ऐसी ही नारियाँ हैं। इसके अतिरिक्त, शत्रु बालकों की भाँति सरल हैं जिन्हें सरलता से फुसलाया जा सकता है। तुगरल मल्लिका को प्राप्त करना चाहता है। सरला भैरवी के रूप में जाकर कहती है कि मल्लिका उसके पास है। तुगरल से अनुनय विनय करने पर वह उससे अपनी अभिलषित आज्ञा प्राप्त कर लेती है कि वह उसकी सेना में स्वेच्छा से विचरण कर सकती है। वह उससे कहीं भी जाने का निषेध करती है। वह उसे झूठा आश्वासन दे देती है कि यहाँ शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता[1]। उसके कथन पर विश्वास कर तुगरल का तथावत् आचरण करना नितांत अस्वाभाविक है। इसी प्रकार जयश्री का विश्वास कर नूर खलीफा अपने ईमानदार सूबेदार का प्राण ले लेता है[2]। शारीरिक दृष्टि से स्त्री पुरुष की तुलना में निर्बल है। परन्तु इस काल के उपन्यासों में नारी अत्यधिक सरलता से पुरुष से रक्षा कर लेती है। सामान्य नारी दारोगा से ही आत्मरक्षा नहीं करती प्रत्युत दुष्कर्म का दण्ड देने के लिए उसके कान में छेद कर देती है। उपन्यासकार ने अस्वाभाविकता के परिहार के लिए उसके रुग्ण पति के मुख से भगवत्कृपा का उल्लेख कराया है[3]।

- [illegible] मथुरा: पृ०सं०-७४ ।

1- तुगरल- 'लेकिन अगर दुश्मन हमारे पकड़ने के लिए यहाँ घुस आवें- तब ?
भैरवी- 'कुछ भी न होगा, तुम डरना मत।

2- वही- 'मल्लिकादेवी वा बंग सरोजिनी' द्वि०भा०,क०ला०वु०प्र०(१६२६)मथुरा: पृ०सं०- ५४ ।

- बलभद्र सिंह: 'जयश्री वा वीर बालिका' (१६१२) काशी, पृ०सं०- ६५ ।

3- 'तूने बड़ा साहस किया है। तेरे अप्रतिम साहस, तेरी पति भक्ति और तेरा दृढ़व्रत देख कर मुझे बड़ा हर्ष हुआ है। + + +
यदि वह सहायक न होता तो कभी संभव न था कि तू अबला एक बलवान पुरुष की छाती पर ऐसा भारी काम कर सकती। यह ईश्वर की लीला है।'
लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श दम्पती' (१६१४) बम्बई; पृ०सं०- २५ ।

इसके अतिरिक्त, कोई भी वीर तथा स्वाभिमानी पुरुष दूसरे के समक्ष अपनी पत्नी को प्रदर्शित नहीं कर सकता है, परन्तु भीमसिंह चित्तौर की रक्षा के लिए अपनी पत्नी को अलाउद्दीन को दिखाने के लिए प्रस्तुत हो जाता है[1]। अलाउद्दीन भी इतना सरल हृदय है कि पद्मिनी के आगमन का संवाद सुनकर ही राजपूतों की प्रार्थना पर भीमसिंह को मुक्त कर देता है। कतिपय आदर्शों को मूर्तिमान करने के लिए पात्रों की अवतारणा हुई है। पात्रों में प्राणों का स्पन्दन नहीं हो रहा है। पात्र-परिवर्तन में क्षिप्रता तथा अस्वाभाविकता है। वृजरानी ने कमलाचरण की पतंगें फाड़ दीं, चर्खियां तोड़ दीं, कमलाचरण शोर मचा रहा था, उसे वृज का पत्र मिला कि अपराधिनी वह है जो चाहें उसे दण्ड दें। यह पत्र ही उसे परिवर्तित कर देता है। वह स्वत: कन्कौवे फाड़ डालता है तथा चर्खी तोड़ डालता है। वह प्रतिज्ञा करता है कि अब वह पतंग नहीं उड़ाएगा[3]। भावावेश में की हुई प्रतिज्ञा का महत्व नहीं होता। परन्तु दुर्व्यसनी कमलाचरण वृजरानी की इच्छा से परिचित होकर पतंग न उड़ाने की प्रतिज्ञा करता है, उसका निर्वाह भी करता है।

३३- आज उपन्यास-शिल्प का विकास हो गया है। परन्तु चरित्र शिल्प की अस्वाभाविकता कुछ स्थानों पर दृष्टिगत होती है। इसके अनेक कारण हैं। उपन्यास-कारों की आदर्शवादिता के कारण भी चरित्र अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। पात्रों का आदर्शवाद उन्हें अस्वाभाविक बना देता है। `निर्मला` (१९२३) में दुश्चरित्र पति की अपेक्षा मिसेज सिन्हा का वैधव्य को श्रेयस्कर समझना तथा पति की मृत्यु पर दुखी न होना[4], एकमात्र पुत्र विनय के निधन पर रानी जाह्नवी का सोफिया को भाषण देना[5], ख्वाजा का उस अहल्या की स्तुति करना[6] जो अपनी प्रतिष्ठा को

१- किशोरीलाल गोस्वामी: `सोने की राख`: इ०ला०ब०मथुरा, पृ०सं०-५१-५२।
२- वही- पृ०सं०- ६६।
३- प्रेमचन्द: `वरदान` (१९४५) बनारस: द्वि०सं०, पृ०सं०- ६५।
४- ,, `निर्मला` (१९२३) बनारस: प्र०सं०, पृ०सं०- १८७।
५- ,, `रंगभूमि` इलाहाबाद: पृ०सं०- ५१३, ५१४।
६- ,, `काया कल्प` (१९५३) बनारस: न०सं०, पृ०सं०- २०४।

रक्षा में सक्षम है और प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए ही वह उसके पुत्र का वध करती है ये चरित्र शिल्पगत अप्रौढ़ता के कारण अस्वाभाविक तथा अविश्वसनीय प्रतीत होते हैं। सामान्य मानव अपने इष्ट मित्रों के वियोग से विकल हो जाता है। पुत्र कुपुत्र ही क्यों न हो, उसके निधन से माता-पिता का हृदय हाहाकार कर उठता है। रानी उन्मादिनी ख्वाजा और रानी जाह्नवी का चित्रण शिल्प की दृष्टि से अस्वाभाविक है। अजीत जमना से प्रेम करता है। एक दिन उससे घर बसाने की इच्छा प्रकट करता है। जमना के पुत्र हल्ली के अदृश्य हो जाने पर वह प्राण हथेली पर लेकर खोजता है। जब उसकी निस्वार्थ सेवा तथा मूक प्रेम से प्रभावित होकर वह विवाह के लिए प्रस्तुत हो जाती है तब अजीत अवसर का लाभ उठाकर विवाह करने के लिए सन्नद्ध नहीं होता है जिससे उसके कार्य में स्वार्थ की गन्ध न आए। इसलिए वह अपने हृदय की बलि सरलता से दे देता है। त्याग के लिए जिस भावभूमि की आवश्यकता है, उसका यहां अभाव है। उसके त्याग का चित्रण उतने ही सहज रूप में हुआ है जितना कि प्रारंभिक उपन्यासों में हुआ करता था, उसके मानसिक जगत की हलचल का चित्र नहीं प्राप्त होता, इसी कारण शिल्प की दृष्टि से यह चरित्र विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता। जिसके लिए जीवन में एक बार दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है, उसके प्रति आकर्षण बना रहता है और वही जब उसके प्रस्ताव को मान्यता प्रदान करने लगे तब हृदय भावनाओं से आन्दोलित होने लगता है। ऐसे क्षण में भी व्यक्ति त्याग कर सकता है परन्तु मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के अभाव में यहां चरित्र-शिल्प अस्वाभाविक प्रतीत होता है। इसी प्रकार आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए डा० खन्ना का चरित्र अस्वाभाविक रूप में प्रस्तुत हुआ है। डा० खन्ना अपनी पत्नी राज के प्रेम के कारण सम्पर्क में आनेवाली किसी भी नारी से प्रेम न कर सका, जब भारत आने पर उसे ज्ञात होता है कि उसका विवाह बड़ी बाबू से हो गया तो वह रंचमात्र दुखी या क्षुब्ध नहीं होता। राज के विवाह को वह जिस सहज स्वाभाविक ढंग से ग्रहण करता है शिल्प की दृष्टि से वह अस्वाभाविक प्रतीत होता है। `सेवासदन` (१९१८) में मदनसिंह सदन तथा शांता के विवाह से इतने असन्तुष्ट हैं कि वह अपनी सम्पत्ति सदन को न देकर कृष्णार्पण करने

१- सियाराम शरण गुप्त : `नारी` (१९३०) झांसी : प्र०सं०, पृ०सं०- १२६।

को प्रस्तुत हैं, उसका सिर काटने को घोषणा करते हैं किंतु वही पौत्र जन्म का संवाद सुनकर मदन के पास जाने के लिए तत्पर हो जाते हैं-[1] उनका प्रस्तुत होना अस्वाभाविक प्रतीत होता है । मदनसिंह गौण चरित्र है परन्तु उसका आचरण संस्कारों के अनुरूप नहीं है । इस प्रकार की अस्वाभाविकता झांसी की रानी लक्ष्मीबाई (१९४६), `मृगनयनी` (१९५०) आदि में एक दो स्थलों पर दृष्टिगत होता है । लक्ष्मीबाई दूरदर्शी, गंभीर तथा सुयोग्य शासक है । बरहामुद्दीन जब पीरअली तथा दीवान से सावधान रहने के लिए कहता है तब रानी का उसकी बात पर कान न देकर मूर्ख कहना[2] समीचीन नहीं प्रतीत होता, जवाहरसिंह और मोती बाई की सन्देह भावना देखकर भी तत्क्षण उनका पीरअली के विरुद्ध कार्रवाई न करना उनके चरित्र के अनुकूल नहीं है । `मृगनयनी` (१९५०) में मानसिंह को ज्ञात होता है कि एक योगी ग्वालियर में ठहरा हुआ है, वह अनशन कर रहा है कि जब तक राजा उससे आकर नहीं मिलेगा, वह नीम की पत्तियां भी न खाएगा । ऐसी स्थिति में राजा मानसिंह का उससे मिलने जाना तो स्वाभाविक है परन्तु उसका युद्ध के तैयारी के सम्बन्ध में प्रश्न करना, मानसिंह का सैनिकों, चौकियों और सुरंग के विषय में बुझा देना[3] तथा योगी का उपदेश सुनकर कि- `युद्ध की तैयारी की अपेक्षा भजन और पूजा में अधिक लगा रह और अपने सैनिकों को भी लगा । इसीसे कल्याण होगा ।`[4] उसका योगी के प्रति सन्देह न करना अस्वाभाविक ही नहीं विचित्र प्रतीत होता है क्योंकि यहां वह योग्य शासक के रूप में न आकर भोला-भाला वृद्ध मानव प्रतीत होता है ।

३४- अन्तर्द्वन्द्व के अभाव में चरित्र-चित्रण अस्वाभाविक प्रतीत होता है । पात्र परिवर्तन के मूल में है केवल बाह्य परिस्थितियां । अत: यह परिवर्तन कुछ ऐसा प्रतीत

१- प्रेमचन्द: `सेवासदन` : बनारस, पृ०सं०- २३७ ।

२- वृन्दावनलाल वर्मा : `झांसी की रानी लक्ष्मीबाई` (१९५१) झांसी: न०सं०, पृ०सं०- ३८६ ।

३- वृन्दावनलाल वर्मा: `मृगनयनी` (१९५२) झांसी: ग्या०सं०, पृ०सं०- ४४६ ।

४- वही- पृ०सं०- ४४७ ।

होता है जैसे कौड़ी खुदाई देखे और बन्द दाणों के पश्चात् वहां सुन्दर उद्यान । पाठक मध्यवर्ती शृंखला खोजता है और उसके अभाव में उसे पात्र-परिवर्तन में शिप्रता प्रतीत होती है । उदाहरणार्थ - `कर्मभूमि` (१९३२) का काले खां चोरी का माल बेचता है, परन्तु अमरकान्त की अनुपस्थिति में अमर सस्ते मूल्य पर कड़ा नहीं लेता है, बस इसी घटना से उसका पुनर्जीवन हो जाता है । जेल में वह शांति, प्रेम और सहिष्णुता का दूत प्रतीत होता है[1] । इसी प्रकार अतिशय भावुक चंचल सविता की उत्तरार्ध में नीलाकाश सी गंभीरता[2], पाश्चात्य सभ्यता की प्रतिमूर्ति मिस मालती का मेहता के संसर्ग में आते ही त्यागमयी एवं सेवापरायण नारी के रूप में रूपान्तर[3], क्रोधी, क्रूर, कृपण[4] तथा स्नेह विहीन जयनाथ का मोतीहारी जाते समय हृदय में वात्सल्य का फूटना शिल्प की दृष्टि से स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है । इसी प्रकार दैवी विधानजन्य अथवा वाचन या भाषण जन्य पात्र परिवर्तन[5] भी अविश्वसनीय प्रतीत होता है ।

१- प्रेमचन्द: `कर्मभूमि` (१९६२) इलाहाबाद: च०सं०, पृ०सं०- ३५२, ३५८ ।

२- उषादेवी मित्रा : `जीवन की मुस्कान` (१९३९) बनारस: पृ०सं०- २०८, २०७, ८, २१०, २११ आदि ।

३- प्रेमचन्द: `गोदान` (१९४९) बनारस: द०सं०, पृ०सं०- ४१०, ४५३, ४५४, ४५५, ४५९ आदि ।

४- नागार्जुन: `रतिनाथ की चाची` (१९४८) इलाहाबाद: प्र०सं०, पृ०सं०-१०७ ।

५- प्रेमचन्द: `रंगभूमि` : भा०पु०, इलाहाबाद: पृ०- ३२७-३३१ ।
वही- `कायाकल्प` : स०पु० बनारस: ६वां सं०, पृ०सं- २४८-९ ।
भ०प्र० वाजपेयी: `दो बहनें` (१९५२) प्रयाग: द्वि०सं०, पृ०सं०- ८४४-५ ।
कन्हगोपाल शेवड़े : `मृगजल` : प्रयाग, पृ०सं०- २७९, २८९, ३०७-८ आदि
रा०रा०प्रसाद सिंह : `राम रहीम` ; शाहाबाद: पृ०- ५७८ ।
उषादेवी मित्रा : `पिया` (१९४६) बनारस: च०सं०, पृ०सं०- १-३
भ० प्र० वाजपेयी : `चलते चलते` (१९५१), दिल्ली : पृ० सं०- २८५-६ ।

असंगति

३५- उपन्यासकारों की असावधानी के कारण कहीं-कहीं चरित्र-शिल्प में असंगति दृष्टिगत होती है । प्रेमचन्द जैसे सजग उपन्यासकार भी अपने उपन्यासों में कहीं-कहीं पात्र चित्रण- ऐसा कर गए हैं जो उनके स्वभाव एवं संस्कार के विरुद्ध दृष्टिगत होता है । सुमन स्वाभिमानी तथा तेजस्वी नारी है । वह चपल तथा शरारती लड़की नहीं है । इसलिये वेश्यालय से आते समय प्रेमियों के साथ शरारत करना[१] सुमन के स्वभाव के विपरीत प्रतीत होता है । इसके द्वारा हास्य की छटा अवश्य दृष्टिगत होती है परन्तु चरित्र-शिल्प की दृष्टि से यह असंगत ही प्रतीत होता है । `पिया` (१) में हरिमोहिनी और पिया में परस्पर सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध नहीं है । कालानन्तर में लेखिका ने हरिमोहिनी को पिया के प्रति स्नेहशील प्रदर्शित किया है । लेखिका का वक्तव्य — `कब और कौन से दिन उन दोनों के बीच वाली उस प्रबल विरक्ति के स्थान में स्नेह का कलेवर पुष्ट हो गया था, इसकी खबर उन दोनों को थी नहीं[२] ।`- चरित्र-शिल्प की असंगति का परिहार करने में सर्वथा असमर्थ है । मृत्यु का प्रभाव दर्शक के अन्त:करण पर अत्यधिक पड़ता है । मृणाल के सन्देह के कारण ही रुग्ण पिया की मृत्यु हो जाती है । पिया की मृत्यु के अनन्तर एकाएक मृणाल के हृदय में पिया के प्रति भक्ति मिश्रित प्रेम जागृत हो जाता है । यह परिवर्तन आकस्मिक लगता है । संभवत: मृत्यु ने उसकी चेतना को झकझोर दिया हो । परन्तु पिया के प्रति भक्ति में यथार्थ की अपेक्षा भावात्मकता का प्राधान्य है । इस प्रकार मर्यादा पर प्राण देने वाला होरी का मर्यादा के विरुद्ध चिंतन,[३] ऋण लेने के विरुद्ध व्यावहारिक धनिया का सोना के विवाह में ऋण लेने को[४] प्रस्तुत

१- प्रेमचन्द: `सेवासदन`: बनारस, पृ०सं०- १३१-८ ।

२- उषादेवी मित्रा: `पिया` (१९४६) बनारस: प्र०सं०, पृ०सं०- १३२ ।

३- `क्यों मर्यादा की गुलामी करें ? मर्यादा के पीछे आरती का पुण्य क्यों छोड़ें ?`
प्रेमचन्द: `गोदान` स-प्रे- बनारस: दसवां संस्करण सन् १९४९ : पृ०सं०- २५४ ।

४- वही- पृ०सं०- ३५६ ।

होना आदि चरित्र-चित्रण की असंगति का प्रमाण है। लेखक स्वत: इस असंगति से परिचित होता है। इसलिए उसने लोरों से कहला दिया है कि वह उसके आचरण को समझने में असमर्थ है। मुंह देखकर बीड़ा दिया जाता है यह उत्तर उसकी जैसी व्यावहारिक नारी के के उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। यह ठीक नहीं लगता है कि जब दहेज मांगा जा रहा था, तब देने को प्रस्तुत नहीं है और जब वे लेना नहीं चाहते हैं, तब वह देने को तत्पर हो जाती है। जब कि धन उसके पास नहीं है। इसी प्रकार सामान्य विधवा चाची को प्रगतिशील दिखाने के प्रयास में भी उनके चरित्र में असंगति आ गई। सूत प्रतियोगिता में सर्वप्रथम पदक प्राप्त कर पच्चीस रुपए से अधिक प्राप्त न कर सकना, इस पर सोचना कि गांधी जी के चेले इस प्रकार की बेईमानी क्यों करते हैं।[1] धनी तथा निर्धन के स्वराज्य का अन्तर समझना,[2] चाची का कम्युनिस्ट होना तथा रूस के प्रति अडिग विश्वास और विजय की कामना प्रकट करना,[3] असंगत प्रतीत होता है क्योंकि वह सामान्य नारी है। इतना विवेक उसे कैसे प्राप्त हुआ? कम्यूनिस्ट पात्र को सजग तथा प्रबुद्ध दिखाने के प्रयत्न में भी चरित्र-शिल्प में असंगति-दोष आ गया है। चाची और 'मनुष्य के रूप': १९४९: के धन सिंह के चरित्र की असंगति का कारण यही है। धनसिंह एक सामान्य ड्राइवर है। खूनी होते हुए भी वह सत्याग्रही बन कर कारावास में जीवन व्यतीत करता है। वह स्वराज्य के लिए अत्यधिक विकल है क्योंकि तभी वह अपनी प्रेमिका से मिल सकेगा।[4]

१- नागार्जुन : 'रतिनाथ की चाची' : १९४८, इलाहाबाद, पृ० ९९

२- वही, पृ० १०१

३- वही पृ० १६७

४- 'धनसिंह को अपने ऐसे-वैसे साथियों की अपेक्षा स्वराज्य की आवश्यकता कहीं अधिक थी। वह उसी आशा पर जी रहा था। अंग्रेजी राज का मतलब उसके लिए जीवन भर का घर से निकाला और सोमा से जुदाई थी और पकड़े जाने का मतलब आयु भर की जेल या फांसी। अंग्रेजों के पराजय और स्वराज्य के लिए उसकी उत्सुकता पागलपन बन जाती। समाचारों के लिए वह बावला हो जाता। राजनैतिक कैदियों के हाते के बाहर आने वाले कैदी नम्बरदारों से समाचार पूछता और उर्दू का अखबार पाने के लिए यह सब कुछ करने के लिए तैयार रहता।
-यशपाल : 'मनुष्य के रूप', १९५२, वि०का०लखनऊ, द्वि०सं०पृ० १३४

उसके इस पागलपन का कारण असंगत प्रतीत होता है, यह तर्कसम्मत तथा विश्वसनीय है। 'मृगनयनी' :१९५०: में लाखी के चरित्र-शिल्प में एक स्थान पर असंगति दृष्टिगत होती है। लाखी नट नटों के कृत्य में अत्यधिक रुचि लेती है। वह स्वयं इसका अभ्यास करती है[1]। परन्तु यह कार्य उसका व्यर्थ का प्रतीत होता है। उसके चरित्र के साथ नट कार्य की संगति नहीं बैठती है।

यांत्रिकता

३६- प्रारम्भिक उपन्यासों में चरित्रों का विकास स्वत: नहीं होता था। इस कारण चरित्रशिल्प यांत्रिक हुआ था। ~~चरित्र स्वत: विकास नहीं होता~~। पात्र के कथन और आचरण में स्वाभाविकता का अभाव है। कथानक की आवश्यकतानुरूप ही चरित्र का विकास होता है। महाराज जयसिंह अपनी पुत्री चन्द्रकान्ता का विवाह राजा सुरेन्द्र सिंह के पुत्र कुंवर वीरेन्द्र सिंह के साथ करना अस्वीकार कर देते हैं किन्तु वे ही राजा सुरेन्द्र सिंह के दीवान जीतसिंह के पुत्र तेजसिंह की मांग आवश्यकता के समय करते हैं। परन्तु राजा सुरेन्द्रसिंह जयसिंह की दुर्बलता का लाभ उठाकर उसे पुत्र के विवाह के लिए विवश कर सकते थे अथवा उनकी भर्त्सना कर सकते थे या तेजसिंह को देना अस्वीकार कर सकते थे जो नितान्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया होती। किन्तु इसके विपरीत सुरेन्द्रसिंह सहर्ष उन्हें तेजसिंह प्रदान कर देते हैं[2]। ऐतिहासिक उपन्यासों में भी यह दुर्बलता दृष्टिगत होती है। संकट के क्षण में पद्मिनी त्राण के लिए

१- वृन्दावनलाल वर्मा : 'मृगनयनी' : १९६२, झांसी, ग्या०सं०, पृ० १२४, १३२, १४१ आदि।

२- 'मेरा राज्य महाराज जयसिंह का है, जिसे चाहें बुला लें, मुझे कुछ उज्र नहीं, तेजसिंह आपके साथ जाएगा...।'

--- देवकीनन्दन खत्री : 'चन्द्रकान्ता' : १९३२, बनारस, १९ वां सं०

बालकोचित कल्पना करती है[1]। पात्र-चित्रण में गंभीरता का अभाव है। हमीदा हृदय में देश और व्यक्ति का संघर्ष होता है परन्तु उसके चित्रण में सजीवता नहीं अभाव है। उसका न तो प्रेमी रूप और न देशभक्त-रूप ही उभर कर स्पष्ट हो सका है। निहालसिंह को विदा देते हुए वह अपनी देशभक्ति तथा प्रेमी हृदय का परिचय देती है[2] किन्तु उसका स्वर हृदय के स्पन्दन से अनुप्राणित नहीं प्रतीत होता, उसके वचन रटे हुए तोते की भांति हैं। शिल्प की दृष्टि से सफल उपन्यासों में भी कुछ स्थानों पर चरित्र-चित्रण यांत्रिक हो गया है[3]। चपला अपनी सखी कुमुदनी के पति से प्रेम करने लगी है। निर्मल भी उससे प्रेम करता है। सखी के प्रति स्नेहजन्य उसके त्याग में स्वाभाविकता की अपेक्षा यांत्रिकता अधिक है। वह सोचती है कि प्रेम को कलंकित करना समीचीन नहीं है। कुमुदनी अबोध है। उसके धन का अपहरण करना अनुचित है। उनकी मैत्री ही उसके लिए पर्याप्त है[4]। भोग और त्याग दोनों ही सबल मानवीय वृत्तियां हैं। किंतु यहां चपला को

1- 'पद्मिनी ने सोचा कि बादशाह से एक प्रस्ताव करना चाहिए। कहानियों में राजकन्याएं किसी दैत्य अथवा लम्पट के हाथ में पड़जाने से छल करके कह दिया करती थीं कि उनका अमुक व्रत है, इतने दिनों तक वह निर्जन में रहेंगी-तब तक उनके पास कोई न जाय।'

-किशोरीलाल गोस्वामी-'सोने की राख' कु०ला०गो०,मथुरा,पृ०६१

2- 'लेकिन मैं जहां तक सोचती हूं, यही बेहतर समझती हूं कि चाहे अपने दिल का खून करूं,लेकिन अपने वालिद,अपने मजहब,अपना मुल्क और आजादी हर्गिज़ न छोड़ूं। ऐसी हालत में प्यारे निहालसिंह। मैं निहायत मजबूर हूं, और बड़ी आजिजी के साथ अब रुखसत हुवा चाहती हूं। मैं यह बात कह चुकी हूं और फिर से मैं कहती हूं कि हर हालत में हमीदा तुम्हारी ही रहेगी और आखिर दम तक इसका हाथ कोई गैर शख्स नहीं पकड़ सकेगा।'

- वही,'यमज सहोदरा',वा याकूती तख्ती': मथुरा : पृ० ६७

3- प्रतापनारायण श्रीवास्तव :'विदा', १९५७,लखनऊ,न०सं०,पृ० ३५४-५,४२६-७
विश्वम्भरनाथ शर्मा : कौशिक : भिखारिणी : १९५२ :आगरा :तृ०सं० पृ०१८३,१८८
प्रेमचन्द :कायाकल्प: १९५३, बनारस, न०सं०, पृ० २२१,२२४
वही :'कर्मभूमि' १९६२, इलाहाबाद, च०सं०,पृ० ८२,१८१,१८२
यशपाल :मनुष्य के रूप' १९५२, लखनऊ, द्वि०सं०,पृ० १८५
चतुरसेन शास्त्री :वैशाली की नगरवधू :पूर्वार्द्ध,१९४९,देहली,प्र०सं० पृ० ४७१-२

भोगमूलक भावनाओं का चित्रण नहीं हुआ है, इसी कारण उसके चित्रण में यांत्रिकता प्रतीत होती है। मृगनयनी आदर्श प्रतिमा प्रतीत होती है। वह सपत्नियों की ईर्ष्या द्वेष की कहानी सुनाकर मानसिंह के चित को क्षुब्ध नहीं करना चाहती। वहीं महारानी सुमन मोहिनी इस चिन्ता से विकल है कि मानसिंह के उपरान्त शासन का अधिकारी उसका पुत्र होगा या मृगनयनी का। मृगनयनी मानसिंह के हाथ में पत्र देती है कि सुमन मोहिनी का पुत्र ही राजा होगा, उसके पुत्र राजसिंह और लालसिंह भाई के प्रति कर्तव्य का निर्वाह करेंगे[2]। उपन्यासकार के प्रस्तुतीकरण-शिल्प में यांत्रिकता है। वह केवल कर्तव्य की मूर्ति प्रतीत होती है। भावना का उसके जीवन में महत्व है, इस ओर ध्यान नहीं जाता। मनोविज्ञान की दृष्टि से जैनेन्द्र (१९०५) के पतिसंज्ञक प्राणियों का चित्रण यांत्रिक रूप में हुआ है। उन्होंने नारी भावनाओं का आरोपण उनमें कर दिया है। उनकी कष्ट-सहिष्णुता, उदारता, क्षमाशीलता पत्नीवत है[3]। पत्नी को प्रेमी की उपस्थिति में छोड़ने के लिए ये विकल भी प्रतीत होते हैं[4]। इस सम्बन्ध में जैनेन्द्र ने अपना मंतव्य प्रकट किया था कि इस प्रकार के पति संभावित पात्र हैं। इनका अस्तित्व काल्पनिक नहीं है। आत्मपीड़ा के सिद्धान्त को स्वीकार करनेवाले ये पात्र यांत्रिक प्रतीत होते हैं। इनका विश्लेषण नहीं होता। प्रारम्भ में जिस रूप में आते हैं, अन्त तक वैसे ही बने रहते हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा, `मृगनयनी`, १९६२, झाँसी, ११ वाँ सं०, पृ० ४८६, ४८७ आदि

४- `उसकी मूर्ति तो मेरे मन में अंकित रहेगी, बस! मेरे लिए इतना भी यथेष्ट है। निस्वार्थ प्रेम के लिए बस इतना ही काफी है।`

- प्रतापनारायण श्रीवास्तव : `विदा` १९५७, लखनऊ, न०सं० पृ० ३५४-५

१- वृन्दावनलाल वर्मा : `मृगनयनी`, १९६२, झाँसी, ११ वाँ सं०, पृ० ३८५, ३९१ आदि।

२- वही , पृ० ४८६

३- जैनेन्द्र : `सुखदा` : १९५२, दिल्ली, प्र०सं० पृ० ३१, ४९

`विवर्त` १९५७, दिल्ली, द्वि०सं० पृ० ६९, ७२, ७३ आदि

जैनेन्द्र : `व्यतीत` १९६२, दिल्ली, तृ०सं० पृ० १४, ७४

४- वही : `सुनीता` : १९६२, दिल्ली, पा०बु०पे० द्वि०सं०, पृ० २२१-२

वही : `व्यतीत`, १९६२, दिल्ली, तृ० सं० पृ० ११७

ऐतिहासिक व्यक्तित्व का ह्रास

३७- प्रारंभिक उपन्यासों में उपन्यासकारों का इतिहास सम्बन्धी ज्ञान नगण्य था। इसलिए उपन्यासों में ऐतिहासिक व्यक्तित्व की रक्षा नहीं हो सकी है। अकबर न्यायप्रिय, कर्तव्यरत तथा निष्पक्ष शासक था। नौरोज का मेला उसकी दुर्बलता अवश्य थी किन्तु उसका चित्रण कलत पुरजा तथा ऐयाश के रूप में हुआ है जो समीचीन नहीं प्रतीत होता। शिवाजी स्त्री पूजक हैं। उनके लिए विख्यात है कि उन्होंने शत्रु-स्त्री का भी क्षणैक के लिए अपमान नहीं किया। परन्तु उनका चित्रण कामुक, रसिक तथा अत्याचारी मुगल शासक से भिन्न नहीं हुआ है। वे औरंगजेब की पुत्री रोशन आरा से विवाह करना चाहते हैं। उसे बन्दी बना लिया जाता है। किन्तु वह पहाड़ी लुटेरे की पत्नी बनने को सन्नद्ध नहीं है। तब शिवाजी का कथन 'प्रिये! यह तो आपकी भूल है। तनिक ध्यान देकर विचारिए। मैं पहाड़ भूमि का एक उच्च वर्ण राजा हूं। + + थोड़े दिन और यूं ही रहिए, फिर आपको ज्ञात हो जाएगा कि मैं डाकू हूं या चोर अथवा राजा। फिर कभी मिलूंगा। इतना कह मुस्कुराते हुए चल दिया[१]। शिवाजी के प्रसिद्ध चरित्र के प्रति यह अन्याय है। ऐतिहासिकता के अभाव में यह चित्रण निर्जीव तथा निष्प्राण है।

३८- शिल्प की दृष्टि से सफल उपन्यासों में भी कुछ स्थानों पर ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रति उपन्यासकार न्याय नहीं कर सके हैं। तात्यां टोपे के नाम से अंग्रेज भयभीत हो जाते थे। वह आंधी के सदृश आता था, मोर्चाबन्दी की ओर अक्सर देख कर भाग निकलता था। उसके उस तेजस्वीरूप की छटा दृष्टिगत नहीं होती है। आसन्न शत्रु-संकट की उपेक्षा कर वह राव साहब के साथ राग-रंग में लीन हो जाता है[३]। इसी प्रकार राजा मानसिंह इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तित्व है। उसने सिकन्दर लोदी से लोहा लिया

१- जयरामदास गुप्त : 'किशोरी वा वीरबाला', १९१७, उ०ब०आ०, काशी, पृ०३६

२- रामप्यारे त्रिपाठी : 'पील प्रकाशक' : दिल्ली की शाहजादी, पृ० १६

३- वृन्दावनलाल वर्मा : 'झांसी की रानी'-लक्ष्मीबाई' : १९५१, झांसी, न०सं० पृ०४३६, ४५२

था और उसने उसे पराजित भी किया था । वह, विक्रम और अजित में वह अद्वितीय था । वह कला प्रेमी भी था । उसके शासनकाल में कला की प्राप्ति हुई थी । प्रारम्भ में उसके वीर रूप का चित्रण हुआ है[1]। किन्तु उत्तरार्ध में वह निष्क्रिय तथा विलास प्रिय व्यक्ति नहीं प्रतीत होता । निहाल सिंह और लोचन पंडित के वध के समाचार को मानसिंह सहज भाव से ग्रहण करता[2] है, सिकन्दर के अत्याचार को देख कर उसका उत्तेजित न होना आश्चर्य है । इन ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र की पूर्ण प्रतीति नहीं हो पाती है।

निष्कर्ष

३६- प्रारंभिक उपन्यासों का चरित्र-शिल्प नगण्य था । वह घटनामूलक है । घटनाओं के आश्रय से पात्रों का चरित्र प्रस्तुत नहीं हो सकता था, केवल उनके प्रकार की झांकी मिला करती थी । प्रेमचन्द :१८८०-१९३६:,जयशंकर प्रसाद :१८८९-१९३७:,भगवतीप्रसाद वाजपेयी :१८९९:भगवतीचरण वर्मा :१९०३: अमृतलालनागर :१९१६: यशपाल :१९०३: वृन्दावनलाल वर्मा :१८८९: फणीश्वरनाथ रेणु :१९२१: प्रभृति उपन्यासकारों के पात्रों का चरित्र-शिल्प जटिलता विहीन सरल है । चार्ल्स डिकेंस,वाल्टरस्काट के पात्र की भांति ही ये अधिकतर सरल स्पष्ट तथा वर्ग विशेष के प्रतिनिधि हैं । यहां यह प्रश्न उठता है कि ये पात्र केवल वर्ग विशेष के प्रतिनिधि हैं ? क्या इनमें व्यक्तित्व का अभाव है ? प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा,यशपाल प्रभृति ने पात्रों के मानसिक जगत की ओर दृष्टिपात कम किया है । उन्होंने चरित्र के अन्तर्मन में प्रवेश करने का प्रयत्न नहीं किया है । पात्रों के क्रियाकलाप व्यवहार, चिंतन का जो चित्र उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह कर्मठ मानव का है, जो सोचता कम है परन्तु कार्य में व्यस्त अधिक है । जहां कहीं पात्रों के मानसिक जगत् का चित्र अंकित भी हुआ है वह भी सतही ही है । इसके कारण अनेक हैं । पात्रों की अधिक संख्या,उनकी कार्यव्यस्तता के कारण ही उपन्यासकार को अवकाश नहीं मिल सका है कि वह उनके अन्तर्मन का चित्रण कर सके । यही कारण है कि बाह्य दृष्टि से ये पात्र टाल्स्टाय के पात्रों से मिलते जुलते हुए भी आन्तरिक दृष्टि से

१- वृन्दावनलाल वर्मा :"मृगनयनी" १९५२,झांसी,म्या०सं०, पृ० ४२,४३

२- वही, पृ० ४८

भिन्न है । उनकी `अन्ना कैरेनिना` वर्गमात्र की प्रतिनिधि नहीं है । वैयक्तिक विशेषताओं तथा मानसिक संघर्ष के कारण वह सजीव पात्री हो गयी है । इस दृष्टि से होरी, धनिया :गोदान : सुमन :सेवासदन : लक्ष्मीबाई :फांसी की रानी-लक्ष्मीबाई: मृगनयनी, हरीश :दादाकामरेड : डा०खन्ना :देशद्रोही : सीमा :मनुष्य के रूप : आदि दुर्बल चरित्र प्रतीत होते हैं । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इन पात्रों का महत्व ही नहीं है, इसका कारण यह है कि ये चिर-परिचित तथा आत्मीय प्रतीत होते हैं । ये केवल सिद्धान्तों की प्रतिमूर्ति नहीं हैं इनमें व्यक्तित्व है । संसार के समस्त मानव विचारक तथा दार्शनिक हों, यह आवश्यक नहीं है । मानव का अस्तित्व जितना असंदिग्ध है उतना ही इनका भी। इनके सामाजिक व्यक्तित्व का चित्रण इतने सरल तथा आत्मीयतापूर्ण रूप में हुआ है कि उनकी सत्ता अविस्मरणीय हो गयी है। शिल्प की दृष्टि से ये पात्र रूसी कलाकारों के निकट हैं । इन पात्रों का स्वत: विकास हुआ है । `गोदान` :१९३६: का होरी, `बाणभट्ट की आत्मकथा`:१९४६: के बाणभट्ट, निपुणिका भट्टिनी, `बहतापानी`:१९५५: के सव्यसाची प्रभृति अनेक पात्र सजीव हैं । पाठक को प्रभावित करने में ये सक्षम हैं ।

४०- आधुनिकतम उपन्यासों में जटिल मानव की अवतारणा में शिल्प-सौन्दर्य दृष्टिगत होता है । डी०एच०लारेंस, तुर्गनेव, दास्तायवास्की, वर्जिनिया वुल्फ, मैरिडिथ के पात्रों की भांति ही इलाचन्द्र जोशी :१९०२:, जैनेन्द्र :१९०२:तथा अज्ञेय :१९११: के पात्र हैं । ये सामान्य मानव से भिन्न हैं । इनका आचरण, व्यवहार, कार्य आदि विचित्र हैं । इनका शिल्प भी पूर्ववर्ती उपन्यासों के सरल शिल्प से भिन्न है । इनके उपन्यासों में जटिल मनोविज्ञान का चित्रण जिस रूप में होता है उसे समझने के लिए पाठक को मनोविज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है अन्यथा निराधार प्रत्यक्षीकरण, स्वप्न, असंगत, आचरण उनके लिए पहेली हो जाएगा । क्या ये पात्र तिलस्मी उपन्यासों के पात्रों की भांति विलक्षण प्रतीत होते हैं ? यह शिल्पगत अन्तर ही है कि ऐय्यार ऐय्यारायें जहां अविश्वसनीय प्रतीत होते होती हैं वहां ये पात्र मनोवैज्ञानिक केस होने के कारण विश्वसनीय प्रतीत होते हैं । इसके अतिरिक्त , उपन्यासकारों के व्यक्तित्व के अनुरूप ही इनमें विविधता दृष्टिगत होती है । शिल्प की दृष्टि से इलाचन्द्र जोशी :१९०२:के पात्र

अज्ञेय :१६११: और जैनेन्द्र :१६०५: के पात्रों की अपेक्षा दुर्बल हैं । उनके चित्रण में व्याख्याओं का योगदान उल्लेखनीय है । व्याख्याओं के कारण ही ये कुछ स्थानों पर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के उदाहरण प्रतीत होने लगते हैं । यूं उन्होंने समस्त मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग चरित्र के प्रस्तुतिकरण शिल्प में किया है । किन्तु व्याख्याओं के प्राधान्य के कारण ये पात्र शेखर, हरिप्रसन्न कल्याणी की भांति जीवन्त तथा सजीव नहीं हो पाये हैं । जैनेन्द्र कुमार: १६०५: ने पात्रों के मानसिक जगत् का उद्घाटन जिस रूप में किया है वह रोचक आत्मीयतापूर्ण तथा आकर्षक है । स्वभावगत उनकी दार्शनिकता ने ही पात्रों के व्यक्तित्व में गरिमा का समावेश कर दिया है । उनके समस्त उपन्यास में कोई न कोई पात्र दार्शनिक हैं । पात्रों की स्वभावगत, दार्शनिकता चिन्तन या वाणी के रूप में व्यक्त हुई है ।[१] इससे चरित्र गरिमामय हुए हैं । स्वभावगत दार्शनिकता के कारण ही जैनेन्द्र के पात्र पृथक् पहचाने जा सकते हैं । 'सुखदा' सामान्य नारी नहीं है, उसकी अनन्त सम्बन्धी धारणा से उसके बौद्धिक स्तर का परिचय प्राप्त होता है[२] । दार्शनिकता जहां पात्र के अन्तर्मन से छन कर आई है, वहां इससे चरित्र-शिल्प में सौन्दर्यवृद्धि हुई है । जिस व्यक्ति ने जीवनमें कर्तव्य-पालन नहीं किया, उसकी वेदना और पीड़ा असह्य होती है । मृत्यु की छाया में सुखदा को इस लोक की करुणा ही भविष्य की आशा प्रतीत होती है ।[३] यदि उनमें व्यक्तित्व के मनोविश्लेषणाके साथ साथ सामाजिक

१-जैनेन्द्रकुमार :'कल्याणी': १६३२दिल्ली, पृ० १६,४४-५, ८८-६ आदि

'विवर्त' : १६५७,द्वि०सं०, पृ० २२६-२३० आदि

'व्यतीत' : १६६२, दिल्ली, तृ०सं०, पृ० ५, १०-११,२६आदि

२-'बरामदे में पड़ी-पड़ी इस अनन्त दूर तक खिंचे चित्र को देखती रहती हूँ । कहां अनन्त लेकिन अनन्त को क्या मैं जानती हूं ? क्षितिज हमारा अन्त है । जहां मेरी आंखों की सामर्थ्य समाप्त है वहां सब कुछ मेरे लिए समाप्त है । पर समाप्ति क्या वहां है ? अन्त कहां है ? क्या वह अन्त कहीं भी है ? नहीं है और चित्र बनता जाता है, मिटता जाता है, और फिर बनता जाता है । चित्रपटी तो खुली ही रहती है और चित्रकार की लीला नए-नए रूप में सम्पदा होती है । उसके इस चलचित्र -जगत् में सभी कुछ के लिए स्थान है ।'

जैनेन्द्र :'सुखदा' १६५२,दिल्ली,प्र०सं०,पृ० १०

तथा राजनीतिक परिवेश का चित्रण होता और पुरुषपात्र नारियों को प्रेमियों के संपर्क में त्यागने को समुद्यत न होते तो उनका चरित्र-शिल्प अद्वितीय होता । `अज्ञेय` :१९११: ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति का चित्र `शेखर :एक जीवनी` :१९४०: में अंकित कर उपन्यास के अध्ययन में एक नवीन अध्याय की सृष्टि की । उनका चरित्र-शिल्प प्रेमचन्द :१८८०-१९३६:से सर्वथा भिन्न है । प्रेमचन्द ने मानव के बाह्य जीवन तथा बाह्यस्थितियों का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत किया । इसके विपरीत अज्ञेय ने `शेखर` के आन्तरिक जीवन का उद्घाटन किया है । राजनीतिक,सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का चित्र शेखर के अन्तर्मन से छन कर आया है । फलत: इनमें दार्शनिकता भी है । किन्तु यह आरोपित तथा कृत्रिम नहीं प्रतीत होती । भय, ईश्वर,जीवन-मृत्यु आदि के सम्बन्ध में वह जिस निष्कर्षों पर पहुंचता है यही दार्शनिकता विश्लेषणात्मक रूप में उपन्यास में प्रस्तुत हुई है[१]। इस कारण यह उपन्यास-शिल्प की महत्वपूर्ण कड़ी प्रतीत होती है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जटिल मानव का चित्रण विविध शैलियों के आश्रय से ही बोधगम्य हो सका है ।कथा तथा कथानक के अभाव में उपन्यासकार चरित्र के प्रस्तुतीकरण के शिल्प की ओर विशेष रूप से सचेष्ट रहते हैं । इस कारण इनमें शिल्पगत वैविध्य अधिक दृष्टिगत होता है ।

४१- जहां तक चरित्र-शिल्प की विविधता का प्रश्न है, हिन्दी के उपन्यासों में विविध प्रकार के पात्रों का चित्रण हुआ है, गतिशील,गत्यात्मक,सत्,खल, कुंठाग्रस्त, विश्लेषक आदि । ये पात्र विभिन्न वर्ग के हैं और विभिन्न प्रकार के हैं । शिल्प की दृष्टि से उन्हीं पात्रों का महत्व है जिनमें कुछ विशिष्टता होती है जिसके कारण वे पाठकों की स्मृति में दीर्घ समय तक रह सकें । इस दृष्टि से जब चरित्रों का परीक्षण किया जाता है तो कुछ चरित्र हैं जो अविस्मरणीय हैं तथा जिनके चित्रण में शिल्पगत

२- `सुनती हूं परलोक की पूंजी धर्म है ।वह धर्म मैंने कुछ नहीं जाना, कुछ नहीं किया। पर इस पार की करुणा वहां उस पार भी काम आती होगी । इस आश्वासन को भी छोड़ना नहीं चाहता ।` --जैनेन्द्र :`सुखदा`:१९५२,दिल्ली,प्र०सं०पृ०११

१- अज्ञेय :`शेखर :एकजीवनी`:प०भा० १९६१,वाराणसी, स०सं० पृ० ५१-२,६१, ६१-२आदि ।

सौन्दर्य है यथा- प्रेमचन्द :१९३६:,के गोदान :१९३६: के होरी, धनिया, नागार्जुन १९५०: का बलचनमा, अज्ञेय :१९४१:के 'शेखर:एक जीवनी' के शेखर,शशि,फणीश्वरनाथरेणु :१९५४: का मैला आंचल के बावन, बालदेव, लक्ष्मीदासी प्रभृति। यदि इन पात्रों की प्रवृति का विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि चरित्र-शिल्प आदर्श से यथार्थ की ओर अग्रसर हो रहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आज आदर्श पात्रों का प्रणयन नहीं हो रहा है। किन्तु उनका प्रस्तुतीकरण-शिल्प यथार्थमूलक तथा मनोवैज्ञानिक है। पात्र महान संस्कारों को लेकर प्रस्तुत होता है। बाह्य परिस्थितियों के कारण उसे संस्कारों के अनुरूप संघर्ष करना पड़ता है। वह कभी विजेता भी बनता है, कभी पराजित भी होता है। 'गोदान' :१९३६: के अतिरिक्त, प्रेमचन्द के उपन्यास तथा उनसे प्रभावित उपन्यासों का चरित्र-शिल्प का विकास क्रम सरल है। गत्यात्मक तथा गतिहीन पात्रों का सुधार के मूल में विशिष्ट व्यक्ति का तेजस्वी एवं त्यागी व्यक्तित्व होता है। खल पात्रों का या तो सुधार हो जाता है अथवा उनकी मृत्यु, किन्तु आधुनिक उपन्यासों का चरित्र-शिल्प भिन्न हो गया है। सत् पात्र की विजय निश्चित नहीं है। 'गोदान' :१९३६: का होरी 'बलचनमा' :१९५२: 'मैला आंचल' १९५४: के बावनदास विकट परिस्थितियों से संघर्ष करते हैं। इस संघर्ष में उनका बलिदान हो जाता है। किन्तु उनके चरित्र-शिल्प को देख कर यह अनुभव नहीं होता कि ये पात्र चिरपरिचित भारतीय नहीं हैं। दादा कामरेड :१९४१: की शैल, 'वे नदी के द्वीप' :१९५१: की रेखा, भुवन, हेमेन्द्र आदि पात्र भारतीय नहीं प्रतीत होते हैं। इस पर अधिक विचार करना विषयान्तर होगा क्योंकि इसका शिल्प से सम्बन्ध नहीं है। किन्तु इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है कि ये पात्र सुमन, (सेवासदन) शशि, (शेखर :एक जीवनी) शेखर, श्रीमती कपिला, चन्द्री ('व्यतीत') मृगनयनी, लाखी, मानसिंह (मृगनयनी : १९५०) आदि की भांति स्वाभाविक और सजीव नहीं होते हैं।

४२- आज उपन्यास के क्षेत्र में ऐसे अनेक :नवीन तथा पुराने : उपन्यासकार चरित्र-शिल्प की दृष्टि से विविध प्रयोग कर रहे हैं। इनकी शिल्प सम्बन्धी मान्यताएं

निजी तथा वैयक्तिक हैं। वे मौलिक पात्र का ही सृजन नहीं कर रहे हैं प्रत्युत उनका प्रस्तुतीकरण-शिल्प भी मौलिक है।पुरातन तथा नवीन पद्धतियों में निरन्तर संशोधन परिवर्तन तथा विकास हो रहा है। शिल्प की दृष्टि से वही पद्धति समीचीन होगी, जिसमें उसका विकास स्वयंभू प्रतीत हो। यदि होरी जैसा सामान्य कृषक के लिए मनोविश्लेषणात्मक, स्वप्न तथा निराधार प्रत्यक्षीकरण शैली का आश्रय ग्रहण किया जाएगा तो उसके वास्तविक चरित्र का ह्रास हो जायगा। इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि उपन्यास का श्रेष्ठत्व इस आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि उसका शिल्प अभिनव है। शिल्प की सार्थकता इस तथ्य में निहित है कि पात्र-चित्रण स्वाभाविक,पूर्ण,तर्कसम्मत,विश्वसनीय,स्वाभाविक तथा सजीव प्रतीत हो। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों का चरित्र-शिल्प अन्य उपन्यासों की तुलना में महत्वहीन, असमृद्ध तथा असफल नहीं है।साहित्योपवन में यह नाना रूप के पुष्पों की सुगन्ध के कारण ही आकर्षक प्रतीत होता है।

अध्याय ६

कथोपकथन-शिल्प

१- सृष्टि के आरम्भ में मानव ने जब मलयानिल की मस्ती का अनुभव किया होगा, नील गगन को विभिन्न रागरंजित रंगों में रंगते देखा होगा, उसकी वाणी उल्लास से फूट पड़ी होगी । पुरुष ने नारी से कहा होगा और प्रत्युत्तर में नारी हृदय से मानवीय राग का सौंदर्य अटपटी वाणी में व्यक्त हुआ होगा । तब से कथोपकथन का क्रम जो प्रारम्भ हुआ है वह आज तक अक्षुण्ण चल रहा है। वाणी का वरदान प्राप्त होते हुए भी भाषाजन्य अक्षमता के कारण प्रारंभिक कथोपकथन में ~~भाषाजन्य अक्षमता के कारण~~ जो अटपटापन होगा वैसा ही प्रारंभिक उपन्यासों में पात्रों के परस्परकथोपकथन या संवादों में दृष्टिगत होता है। आज उपन्यासों में पात्रों के कथोपकथन की तुलना यदि प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रस्तुत पात्रों के संवादों से की जाये तो ज्ञात होगा कि शिल्प की दृष्टि से इनका कितना विकास हो चुका है । प्रारम्भिक उपन्यासों के पात्रों का कथोपकथन शिल्प विहीन, साधारण, दृष्टान्तमूलक, उपदेशात्मक है जिसके द्वारा उपन्यास के कलेवर की केवल वृद्धि हुई है । शिल्प की दृष्टि से सफल आज के उपन्यासों में जो वार्तालाप प्राप्त होता है, उसका महत्व है । इनके द्वारा कथानक की सहज स्वाभाविक प्रगति हुई है । अब देश-काल का ज्ञान नीरस विवरणात्मक स्थलों से ही नहीं होता प्रत्युत पात्रों के परस्पर वार्तालाप के द्वारा भी होता है । फलत: इनके द्वारा उपन्यास में सौंदर्य का समावेश हो गया है । चरित्र-चित्रण में भी इनका योगदान उल्लेखनीय है । उपन्यासोपवन विविध रंग तथा सुगन्धि के पुष्परूपी कथोपकथन से सुशोभित हो रहा है । इनकी विविध रूपरंगमयी आभा दर्शनीय है । आज स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक, सुन्दर, सरस, वैयक्तिक, चरित्र व्यंजक कथोपकथन उपलब्ध होते हैं ।

स्वाभाविकता तथा मनोवैज्ञानिकता

विशेषताएं:-

२- शिल्प का निरन्तर विकास होता है । उपन्यासकारों ने कथोपकथन के क्षेत्र में विविध प्रयोग किए हैं । वे निरन्तर प्रयत्न करते हैं, उनके कथोपकथन में नवीनता, मौलिकता, तथा सुन्दरता है । फलत: कुछ उपन्यासों ~~के इक्कार~~ में शिल्पगत सौंदर्य दृष्टिगत होता है ।

३- कथोपकथन शिल्प की स्वाभाविकता की दृष्टि से प्रारम्भिक उपन्यास महत्वहीन हैं। इनका स्वाभाविक विकास नहीं हुआ है। `भाग्यवती` (१८७७) `परीक्षा गुरु` (१८८२), `सौ अजान और एक सुजान` (१८९०) आदि उपन्यासों में के कथोपकथन में स्वाभाविकता दृष्टिगत नहीं होती है यद्यपि एक दो स्थलों पर केवल इसकी झलक मात्र दृष्टिगत होती है[1]। सिद्धान्तों के प्रति आग्रह के कारण ही इनका स्वाभाविक विकास नहीं हो सका है। प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) के प्रारम्भिक उपन्यास `वरदान` (१९०६) के कथोपकथन साधारण[2] हैं यद्यपि अन्य प्रारंभिक उपन्यासों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। वार्तालाप का स्वत: विकास इसमें नहीं दृष्टिगत होता। जरा सी बात के लिए लम्बी लम्बी भूमिकाएं प्रस्तुत होती हैं, फलत: इसका शिल्प दुर्बल है।

४- प्रारम्भिक उपन्यासों के कथोपकथनों में चारित्रिक विशेषताओं पर थोड़ा-सा प्रकाश पड़ा है। किन्तु इसमें स्पष्टता तथा सरलता है। `चपला वा नव्य समाजचित्र` (१९०३) में कमलकिशोर का कथन उसकी शठता के उपयुक्त है। भोली सौदामिनी को

१- श्रद्धाराम फिल्लौरी : `भाग्यवती`, १९६०, वाराणसी, प्र०सं० पृ० ७६-७८, ८३, ८७-८ आदि।
श्रीनिवासदास : `परीक्षा गुरु`, १९५८, दिल्ली, पृ० ६८, ११९

२- `सुवामा ने एक दिन उसकी माता से कहा- `बहिन, विरजन स्यानी हुई। क्या [कुछ गुन ढंग?] कहूं जी तो चाहता है कि, लग्गा लगाऊं, परन्तु कुछ सोचकर रुक जाती हूं।

सुवामा- क्या सोच कर रुक जाती हो ?

सुशीला- कुछ नहीं आलस आ जाती है।

सुवामा- तो यह काम मुझे सौंप दो। भोजन बनाना, स्त्रियों के लिए आवश्यक बात है।

सुशीला- अभी चूल्हे के सामने उससे बैठा नहीं जाएगा।

सुवामा- काम करने ही से आता है।

सुशीला- (झेंपते हुए) फूल से गाल कुम्हला जाएंगे।

सुवामा- (हंसकर) बिना फूल के मुर्झाए कहीं फल लगते हैं ?

--प्रेमचन्द : `वरदान`, १९४५, द्वि०सं० पृ० २२-३

~~३- किशोरीलाल गोस्वामी : `चपला वा नव्य समाज चित्र`, पूना: १९१५, पृ० ६८~~

अपने जाल में बिद्ध करने के लिए वह स्वयं को उसके पिता का परिचित बताता है । वह उसे उसके गृह का विगत इतिहास सुनाता है । वह उससे अधिक बात नहीं करता है क्योंकि वह कहता है कि यदि कोई उससे बात करते देख लेगा तो उसकी व्यर्थ में निन्दा होगी । वह नहीं चाहता कि उसके कारणसौदामिनी की निन्दा हो । वह उससे कहता है कि जब उसे उसके पिता का समाचार मिलेगा तो वह मनोबिन से इंगित करेगा ।`फिर तुम यहां से तो बदस्तूर जैसे अपने घर जाती हो चली जाना और फिर दो घड़ी रात गए,ठीक इसी जगह हमसे आकर मिलना । देखो,बाग़ के पिछवाड़े का जो दर्वाजा है, वह हम खुला रक्खेंगे, उसी रास्ते से तुम आना,हम यहीं तुमको मिलेंगे[1]कमलकिशोर के कथन में उसकी धूर्तता व्यक्त हो रही है । उसके लम्पट चरित्र का उद्घाटन उपर्युक्त कथन में होता है । पात्र अत्यधिक सरल है । अतएव उनके वार्तालाप में भी सरलता है ।`प्रतिज्ञा`(१६०४) अमृतराय और प्रेमा का परस्पर वार्तालाप[2] तथा`वरदान`(१६०६)कमलाचरण के मित्रों[3] तथा प्रतापविरजन के वार्तालाप में स्वाभाविकता की हल्की झलक है । प्रेमचन्द (१८८०-१६३६) ने`प्रतिज्ञा`(१६०४)में कथोपकथन के आश्रय से पति-पत्नी के मान का कितना स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है।----

`कमला- अनर्थ हो जायेगा सुमित्रा,अनर्थ हो जायगा । कहे देता हूं ।

सुमित्रा- जो कुछ जी में आये कर लेना । यहां बाल बराबर परवाह नहीं है।

कमला- तुम अपने घर चली जाओ

सुमित्रा- मेरा घर यही है । यहां से और कहीं नहीं जा सकती ।

कमला- लखपती बाप का घर तो है ।

सुमित्रा- बाप का घर जब था तब था - अब यही घर है । मैं अदालत से लड़कर ५००) महीना ले लूंगी लाला, इस फेर में न रहना । पैर की जूती नहीं हूं कि नयी थी तो पहना पुरानी हो गयी तो निकाल फेंका ।[4]

१- कि० ला० गोस्वामी: चपला वा नव्य समाज चित्र' [illegible] द्वि० सं० पृ० ६८

२- प्रेमचन्द :`प्रतिज्ञा`, १६६२,इलाहाबाद,पृ० ७१

३- वही `वरदान`,१६४५,बनारस,द्वि०सं०, पृ० ६२-३

४- वही पृ० ८१

५- वही`प्रतिज्ञा`: १६६२ इलाहाबाद, पृ० ६६

कालान्तर में प्रेमचन्द के उपन्यासों में कथोपकथन में जो स्वाभाविकता दृष्टिगत होती है उसके बीज यहीं सन्निहित हैं । पात्रानुरूप कथोपकथन होने के कारण यह स्वाभाविक प्रतीत होता है ।

५- सेवासदन (१९१८)में ही सर्वप्रथम सुन्दर तथा स्वाभाविक वार्तालाप[1] दृष्टिगत होते हैं जो प्रसंगानुकूल पात्रानुरूप तथा सुन्दर हैं । इसके अनन्तर अनेक उपन्यासों में स्वाभाविक तथा व्यावहारिक कथोपकथन उपलब्ध होते हैं[2] । मंदिर में एकत्र भक्तजनों के परस्पर वार्तालाप[3] में एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या -द्वेष सहज स्वाभाविक रूप में व्यक्त हो रहा है । ये वार्तालाप बिना किसी आडम्बर के सहज स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत हुए हैं । पात्रों[4] का व्यक्तित्व भी इनमें प्रतिफलित हुआ है । इसीलिए ये पात्रानुरूप है । पात्र का कथन[5] ही उसके व्यक्तित्व का द्योतक है ।फलत: इनमें विविधता दृष्टिगत होती है । विभिन्न स्तर के

१- प्रेमचन्द :`सेवासदन` (?) बनारस, पृ० ३२,३४,६२,१२२आदि

२- जयशंकरप्रसाद :`तितली`:१९५१,प्रयाग,कु०सं०,पृ० ३१-२,४५,१२०-१,२३५-६आदि

भगवतीचरण वर्मा:`चित्रलेखा`:१९५५,प्रयाग,बा०स०पृष्ठ ६,१०,७८,८६-७आदि

प्रेमचन्द:`गोदान`१९४६,बनारस,द०स०पृ०४-५,२५,२६,४०-१,६७आदि।

वृन्दावनलाल वर्मा:`झांसी की रानी-लक्ष्मीबाई`:१९६१,झांसी,न०स० पृ० २०-१,३७,१६४-५आदि

,, `मृगनयनी`१९६२,झांसी,ग्या०स०पृ० ३०-१,५६-६०,८३-४आदि

फणीश्वरनाथ रेणु:`मैला आंचल`,१९६१,दिल्ली,पा०बु०द्वि०स०पृ०३४,८१,११८आदि

३- ठाकुरदीन- पान भगवान के भोग के साथ खाआजाता है । बड़े-बड़े जनेऊधारी मेरे हाथ का पान खाते हैं । तुम्हारे हाथ का तो कोई पानी नहीं पीता

नायकराम- ठाकुरदीन,यह बात तो तुमने बड़ी खरी कही ।सच तो है पासी से कोई घड़ा तक नहीं छुआता।

भैरो- हमारी दुकान पर एक दिन आकर बैठ जाओ,तो दिखा दूं कैसे कैसे धर्मात्मा और तिलकधारी आते हैं।ढोंगी जती लोगों को भी किसी ने पान खाते देखा है ? ताड़ी,गांजा,चरस पीते चाहे जब देख लो ।एक-ए - एक आकर खुशामद करते हैं ।

पात्रों के विभिन्न स्तर उपन्यासों में सुनाई पड़ते हैं यथा-

`आज रोटी न बनेगी क्या ? लड़की अभी भूख-भूख चिल्लाती आती होगी ।`
हरिमोहिनी ने बाहर से पुकार कर कहा।

किन्तु जब उत्तर न मिला तब द्वार पर से उसने झांका। बोली- `दिन-पर-दिन तू अन्धेर कर रही है नीला, अभी सोने की कौन-सी ज़रूरत पड़ गयी ?`

शेष- नायकराम- भैया, मुझ पर हाथ न उठाओ । दुबला-पतला आदमी हूं । मैं तो चाहता हूं जलपान के लिए तुम्हारी ही खोंचे से मिठाइयां लिया करुं मगर उस पर इतनी मक्खियां उड़ती हैं, ऊपर इतना मैला जमा रहता है कि खाने को जी नहीं चाहता।

जगधर- :चिढ़कर: तुम्हारे न लेने से मेरी मिठाइयां सड़ तो नहीं जातीं कि भूखों मरता हूं। दिन भर में रुपया-बीस आने पैसे बना ही लेता हूं । जिसे सेंतमेंत से रसगुल्ले मिल जांय वह मेरी मिठाइयां क्यों लेगा ?

ठाकुरदीन-पंडाजी की आमदनी का कोई ठिकाना है जितना रोज मिल जाय, गांठ का पूरा फंस गया तो हाथी-घोड़े -जगह -जमीन, सब दे गया । ऐसा भागवान और कौन होगा ? - प्रेमचन्द : `रंगभूमि`, इलाहाबाद, पृ० ९८-९

४- प्रेमचन्द : `सेवासदन`, बनारस, पृ० ३४-५, ८५, १८४, २८२आदि
प्रतापनारायण श्रीवास्तव : `विदा` १९५७, लखनऊ, ३०सं० पृ०७४, ९६१, ७७३-४आदि
वि०ना०शर्मा कौशिक : `मां` १९३४, लखनऊ, दि०सं०, पृ० ३६, ३७, ४५, ४६ आदि
,, : `भिखारिणी`, १९५२, तृ०सं०, आगरा, पृ० ६०, १०६-७, २३५आदि
भगवतीचरण वर्मा : `चित्रलेखा`, १९५५, इलाहाबाद, बा०सं०, पृ० ३२, ३३, ३४-५, ८६, ८७आदि

५- उषादेवी मित्रा : `पिया`: १९४६, बनारस, च०सं०, पृ० ४-६, ११२-४, १३३, आदि
हजारीप्रसाद द्विवेदी : `बाणभट्ट की आत्मकथा`: १९६३, बम्बई, पृ० १२-३, १२१, १३२-३, ३०६ आदि ।
वृन्दावनलाल वर्मा : `झांसी की रानी -लक्ष्मीबाई`, १९६१, न०सं०, पृ० ५६-७, २२४-५, २४२ आदि ।
जैनेन्द्रकुमार : `विवर्त`, १९५७, दिल्ली, दू०सं०पृ० ६२-३, ७३, १२१ आदि
इलाचन्द्र जोशी : `जहाज का पंछी`, १९५५, बम्बई, प०. पृ० १०६-७, १२५-६, २४७ आदि ।

`सोना भी क्या अपराध है ? इस घर की क्या मैं महरी या महराजिन हूं जो रोज़ मुझे ही रोटी बनानी पड़ेगी ? कवि रोटी नहीं बना सकती क्या ?`

हरमोहिनी नरम पड़ गयी - 'वह अभी लड़की है बेटी, स्कूल से लौट कर थक जाती है । जबरन उसे बाहर भेजा, वह जाती कहां थी ? कहने लगी, पढ़ने को बहुत है । मैंने कहा- इससे स्वास्थ्य बिगड़ जायगा । जरा घूम फिर आओ । बाहर की हवा अच्छी होती है।`

`वह पढ़ती है तो इससे मुझे क्या ? पढ़ेगी तो अपने लिए । बड़े घर में ब्याह हो जायेगा ,मोटर पर घूमती फिरेगी । क्यों -क्यों मैं उसके कपड़ों में साबुन लगाऊं,बासन मांजूं,रोटी बनाऊं ? किसलिए मैं यह सब करूं ? क्या मेरा स्वास्थ्य न बिगड़ेगा ? अपने को विदुषी समझती है,ज़रा सी लड़की,सबके सामने मेरा अपमान करती है । उसने मुझे आज क्या न कहा ? - हाथ से मुंह ढांक कर नीलिमा रोने लगी ।[1] मां का कविता के प्रति स्नेहपूर्ण नीलिमा का समवयस्क बहन कविता के प्रति आक्रोश पूर्ण स्वर उक्त कथन में ध्वनित होता है ।पात्रों के सहज स्वाभाविक कथोपकथन के द्वारा सबके चरित्र का परिचय प्राप्त होता है । यदि उपन्यासकार वर्णन के द्वारा पात्रों की विशेषताओं को स्पष्ट करना चाहता तो भी इसका इतना स्पष्ट चित्र प्रस्तुत न होता ।इसमें प्रारम्भिक उपन्यासों की भांति एक स्वर नहीं सुनाई पड़ता ।

६- मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में के संवाद मनोवैज्ञानिक हैं । एस०पी०चड्ढा को मोहिनी के अतिथि पर सन्देह है । अतिथि जितेन्द्र के जाने के उपरान्त मोहिनी चड्ढा को आमंत्रित करती है । उन दोनोंके वार्तालाप में मनोविज्ञान का गहरा पुट है ।[2] चड्ढा अतिथि सहाय के विषय में प्रत्यक्ष बात न छेड़ कर उन युवकों की प्रशंसा करते हैं जो प्राण हथेली पर लेकर देश के लिए घूमते हैं ।अपने विभाग की भर्त्सना करते हुए तब वे अतिथि का नाम पूछते हैं । उनका उनकी प्रशंसा करना अधिक मनोवैज्ञानिक है ।

१- उषादेवी मित्रा :`पिया`: १९४६,बनारस,च०सं० पृ० ६

२- जैनेन्द्र :`विवर्त`, १९५७, दिल्ली , द्वि०सं० , पृ० १३०-१३६

इसके द्वारा वह प्रयत्न करता है कि मोहिनी अतिथि की प्रशंसा करते हुए स्वीकार कर ले कि वह भी वैसा ही क्रान्तिकारी युवक है किन्तु मोहिनी का अपराधी मन उसे विश्वस्त करना चाहता है कि मि० सहाय पर उनका सन्देह व्यर्थ है। अत: वह पुलिस का महत्त्व स्वीकार करती है तथा अपनी कोठी पर पुख्ता प्रबन्ध चाहती है। मोहिनी सहाय के अचानक चले जाने की क्रिया को स्वाभाविक सिद्ध करना चाहती है। वह कहती है कि सहाय उसके सहपाठी तथा व्यापारी हैं। आते ही सहाय अस्वस्थ हो गए। कल सायंकाल ही जाने वाले थे किन्तु रात्रि में किसी समय चले गए। उसके कथन में वस्तुत: उसका अपराधी मन ही व्यक्त हो रहा है जो स्वयं को निर्दोष सिद्ध करना चाहता है। इसीलिए वह उनकी बीमारी का निरन्तर उल्लेख करती है[1]। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक संवाद हिन्दी उपन्यासों में कम प्राप्त होते हैं। जैनेन्द्र :१९०५: इस कला में सिद्धहस्त हैं कि उनके पात्र के अन्तर में निहित भावनाएं सहज स्वाभाविक कथोपकथन के माध्यम से व्यक्त हो जाती हैं[2]। 'सुखदा' १९५२ : में उसकी भावनाओं के आरोह-अवरोह के कारण मनोवैज्ञानिक कथोपकथन दृष्टिगत होते हैं जो उसके जटिल चरित्र के परिचायक हैं[3]। वह अपने पुत्र को नैनीताल भेजना चाहती है उसका पति विरोध करता है। --'उन्होंने क्षण भर मेरी ओर देखा, और कहा, 'गलती हुई है सुखदा, तुम्हारी शादी ऊंची जगह होनी चाहिए थी।' मैं चीख कर बोली- 'कहो तो अब कर लूं।'

ठंडे लहजे में उन्होंने कहा- 'हां, कर लो।'

तुम्हें शर्म नहीं आती है कहते हुए ?[4]'

यह कथोपकथन सहज स्वाभाविक है। पात्रों की भावनाओं तथा व्यक्तित्व से

१- उसने कहा-'आते ही उन्हें बुखार हो आया था, निमोनिया के आसार दिखाई दिए, बीच में तो सरसाम का डर हुआ, डा० कपूर ने वह तो बात सम्भाल ली और नर्स ने भी अच्छी तीमारदारी की, जल्दी रोग काबू में आ गया और चौथे पांचवें रोज़ हालत सम्भली दिखाई दी।' --जैनेन्द्र :'विवर्त':१९५७, दिल्ली, द्वि०सं०पृ०१३६

२- वही :'सुनीता', १९६२, दिल्ली, पा०बु०२०, द्वि०सं०पृ०१६६-७, १६६, १७७
'कल्याणी':दिल्ली, पं० सं०, पृ० ३३-४, ५०, १२२-३ आदि
'त्यागपत्र':१९५०, बम्बई, पं०सं०, पृ० १०, ४७

३- वही : सुखदा :१९५२, दिल्ली, प्र०सं० पृ० ७९, १२९-३०

४- वही, पृ० ७९

अनुप्राणित है । अतएव यह मनोवैज्ञानिक है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के कथोपकथन में जहाँ मनोवैज्ञानिकता का रंग गहरा है वहाँ इसके द्वारा चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। सुखदा के पति कांत की सरलता तथा सुखदा का आवेश उपर्युक्त सहज स्वाभाविक कथोपकथन में व्यक्त हो रहा है । अनेक उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक कथन प्राप्त होते हैं।[1]

कथानक-प्रगति और कथोपकथन

७- कथोपकथन के द्वारा कथानक का सहज स्वाभाविक विकास होता है । विगत घटनाओं की सूचना, वर्तमान स्थिति का परिचय तथा भविष्य की योजना ~~के विषय में~~ पात्रों के परस्पर कथोपकथन के द्वारा ज्ञात होती है । प्रारंभिक उपन्यासों में शिल्प का विकास नहीं हो सका था । इसकारण शिल्प की दृष्टि से सफल कथोपकथन नहीं प्राप्त होते हैं यद्यपि कथोपकथन का बाहुल्य उनमें देखा जा सकता है । छोटी-सी बात को बढ़ाकर कहने की प्रवृत्ति के कारण कथोपकथन का सौन्दर्य नगण्य हो जाता है । पंडित जी की पत्नी का उस व्यक्ति ने अपहरण कर लिया जिसके साथ उन्होंने भलाई की थी, इसकी सूचना सहज स्वाभाविक लघु कथोपकथन के द्वारा न प्राप्त होकर पौराणिक आख्यान के आश्रय से मिलती है ।[2]

१-भगवतीचरण वर्मा: `चित्रलेखा` १९५५, इलाहाबाद, छ०सं० पृ० ३७, १६८-९ आदि
हजारीप्रसाद द्विवेदी: `बाण भट्ट की आत्म कथा` १९६३, बम्बई, पं०सं० पृ० १६८, १९०, १९१, ३०६
वृन्दावनलाल वर्मा: `कचनार`, १९६२, झाँसी, ष०सं०, पृ० १९७, २२०-१ आदि
इलाचंद्रजोशी: `जिप्सी` १९५२, इलाहाबाद, पृ० ३०-३१, ३५, ३६ आदि
,, `संन्यासी` : १९५९, इलाहाबाद, ह०सं० पृ० १९८, १९९, २११, २३८ आदि

२- आप लोगों ने आज मेरा असाधारण आदर किया । भगवान भूत भावना से वरदान पाकर भस्मासुर के समान जगज्जननी अम्बिका को छीन लेने की पापवासना से अपने उपकारक, इष्टदेव के मस्तक पर हाथ फेरने वाले सैकड़ों हैं किन्तु आजकल आपके समान उपकार बिन्दु के उपकार महासागर मानने वाले विरले हैं । भस्मासुर की क्या कथा कहूं, मुझे ही इस लघु जीवन में ऐसे ऐसे अनेक भस्मासुरों से पाला पड़ चुका है किन्तु दुष्ट यदि अपनी दुष्टता से न चूके तो न चूके, उसका स्वभाव है, सज्जनों को अपना सौजन्य क्यों छोड़ना चाहिए ? मैं अपना अनुभव क्या कहूं ? पंडित जी आप ही सोच लो । आपने एक समय विपत्ति से जिस व्यक्ति को बचाया था वही आपकी स्त्री-माता के समान नारी को भ्रष्ट करने और आपको सताने पर उतारू हो गया । इससे बढ़कर कृतघ्नता होगी ?

फलत: यह प्रभावहीन हो जाता है । इन उपन्यासों में कथानक का ही अभाव है । अतएव कथोपकथन के द्वारा कथानक का विकास संभव न था । आधुनिक उपन्यासों में पात्रों के परस्पर कथोपकथन के द्वारा कथानक की प्रगति होती है[1] । सुन्दर उपयुक्त तथा मार्मिक कथोपकथन के द्वारा अतीत वर्तमान की श्रृंखला ही नहीं बनता प्रत्युत उपन्यास में सौंदर्य का समावेश हो जाता है । जयशंकर प्रसाद (१८८९-१९३७) का कवि - हृदय ही उपयुक्त स्थलों पर सुन्दर कथोपकथन के रूप में प्रकट हुआ है[2] । तारा आत्महत्या करना चाहती है । संन्यासी उसे बचा लेता है । वेदना, व्यथा से पूर्ण तारा और संन्यासी का कथोपकथन सुन्दर[3] है तथा इसी द्वारा यह सूचना भी प्राप्त हो जाती है कि वह जीवित है । तारा (यमुना) ने मंगलदेव को सच्चे हृदय से प्रेम किया। विजय उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट करता है । उसका विजय का परस्पर कथोपकथन अति सुन्दर है [4] जो उनके पवित्र प्रेम का परिचायक है । शिल्प की दृष्टि से `बाणभट्ट की आत्मकथा` (१९४६) में अभिनव

१- जयशंकर प्रसाद: `कंकाल` :१९५२, इलाहाबाद, सं०सं० पृ० १८, २६, ५२ आदि
जैनेन्द्रकुमार : `कल्याणी`: १९४१ दिल्ली, पृ० ३८, ८२ , ८३, ८४ आदि
वृन्दावनलाल वर्मा: `झांसी की रानी-लक्ष्मीबाई` :१९६१, झांसी, न०सं० पृ०९७, १८४-५, १८६, २१०आदि।

२-जयशंकरप्रसाद: `कंकाल` :१९५२, इलाहाबाद, उ०सं०, पृ०५६। ७०, १११, २४२आदि।

३-`उसने छटपटाकर पूछा- तुम कौन हो जो मेरे मरने का भी सुख छीनना चाहते हो ?
`अवश्य होगा, आत्महत्या पाप है ।' -एक लम्बा संन्यासी कह रहा था ।
`पाप कहां। पुण्य किसका नाम ? मैं नहीं जानती । सुख खोजती रही -दुख मिला, दुख ही यदि पाप है तो मैं उससे छूटकर सुख की मौत मर रही हूं -पुण्य कर रही हूं करने दो ।`

--वही, पृ० ५६

४-`मैं आराध्य देवता बना चुकी हूं -मैं पतित हो चुकी हूं मुझे -----
`यह मैंने अनुमान कर लिया था , परन्तु इन पवित्रताओं में भी मैं तुम्हें पवित्र, उज्ज्वल और ऊर्जस्वित पाता हूं -जैसे मलिन वस्त्र में हृदयहारी सौन्दर्य ।`
किसी के हृदय की शीतलता और किसी के यौवन की उष्णता-मैं सब झेल चुकी हूं । उसमें सफल नहीं हुई, उसकी साध भी नहीं रही । विजय बाबू । मैं दया की पात्री एक बहन होना चाहती हूं । है किसी के पास इतनी नि:स्वार्थ स्नेह-सम्पत्ति, जो मुझे देवे- कहते-कहते यमुना की आंखों से आंसू टपक पड़े ।` --जयशंकरप्रसाद: `कंकाल` १९५२ इलाहाबाद, उ०सं०पृ० १११

कथोपकथन दृष्टिगत[1] होते हैं जो प्रथम असंगत तथा असम्बद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु कालान्तर में इनकी संगति तथा सौन्दर्य का अनुभव होता है[2]। `झांसी की रानी लक्ष्मीबाई` (१९४६) में सुन्दर कथोपकथन के द्वारा कथानक का विकास हुआ है। इसके शिल्प की अन्य विशेषता है यह है कि वक्ता के कथन से अन्य पात्र के वक्तव्य का परिचय प्राप्त होता है। गंगाधर राव के दत्तक पुत्र को मान्यता ब्रिटिश सरकार ने नहीं दी। मोरोपन्त के `ओफ`, दीवान की `हाय` दरबारियों की `अनहोनी हुई`[4] से, इसकी व्यंजना[3] होती है। इस सम्बन्ध में फलकारी कोरिन की टीका बहुत सुन्दर है जो रानी की लोकप्रियता का उज्ज्वल प्रमाण है। अंग्रेजों की कूटनीति तथा धूर्तता भारतीयों की स्थिति तथा उनकी तैयारी की योजनाओं की सूचना, पात्रों के परस्पर वार्तालाप के द्वारा प्राप्त[5] होती है। इसके अतिरिक्त, देश-काल द्योतक कथोपकथन भी उपन्यासों में मिलते हैं[6]।

१- हजारीप्रसाद द्विवेदी :`बाणभट्ट की आत्मकथा :` १९६३, बम्बई, पं०सं० पृ०७३-४ ७५,७८,७९,१३२-३,२२१-२,२२४

२- देखिए - पृ० १५३-१५४

३- वृन्दावनलाल वर्मा :`झांसी की रानी-लक्ष्मीबाई` : १९६१, झांसी, न०सं० पृ०१९०

४-`फलकारी ने जब सुना अपने पति पूरन से कहा, `छाती बर जाय इन अंगरेजन की, गुटक लई झांसी।`

- वही, पृ० १९१

५- वही पृ० १९०, २३२, २३३-४, २४८-९ आदि।

६- किशोरीलाल गोस्वामी :`चपला वा नव्य समाज चित्र` : चौ०प्रा० मथुरा, पृ०७७

प्रेमचन्द :`कर्मभूमि` १९६२, इलाहाबाद, च०सं० पृ० २६-७, ३०० आदि।

वृन्दावनलाल वर्मा :`झांसी की रानी : लक्ष्मीबाई`, १९६१, झांसी, न०सं०, पृ० ७८, ११५, ११६, १३८, १८७ आदि

वही, `मृगनयनी` १९६२, झांसी, ग्या०सं०, पृ० १६९-७०, २५६, ३०१-२

विचार-विनिमय और कथोपकथन

८- कथोपकथन के द्वारा पात्र परस्पर विचार-विनिमय करते हैं । प्रत्येक उपन्यास में कम या अधिक मात्रा में ऐसे कथोपकथन मिलते हैं जिनके द्वारा पात्रों की विचार-धारा एवं उपन्यासकार के दृष्टिकोण का ज्ञान हो जाताहै । यहां यह भी आशंका होती है कि इनके बाहुल्य के कारण उपन्यास नीरस तथा प्रभावहीन न हो जाए । शिल्प की दृष्टि से इस प्रकार के कथोपकथन वे ही श्रेष्ठ समझे जाते हैं जिनमें कलात्मक सौन्दर्य तथा प्रचारात्मकता का अभाव हो । `कंकाल`[1], `चित्रलेखा`[2] तथा `दिव्या`[3] और `चीवर`[4] के कुछ स्थलों पर ऐसे कथोपकथन प्राप्त होते हैं । `चित्रलेखा` (१९३४) में पाप-पुण्य की विवेचना हुई है । इसके विचारमूलक कथोपकथन दार्शनिकता के कारण सजीव तथा सप्राण हो रहे हैं । इसमें प्रचारात्मक स्वर की अपेक्षा कलात्मक स्वर अधिक मुखरित हो रहा है । श्वेतांक और चित्रलेखा के परस्पर वार्तालाप[5] के द्वारा संयम और जीवन के लक्ष्य की जो विवेचना हुई है उसमें नाटकीय सौन्दर्य है ।

१- जयशंकरप्रसाद : `कंकाल`: १९५२, इलाहाबाद स०सं० , पृ० ७६,७७,७८ आदि

२- भगवतीचरण वर्मा : `चित्रलेखा`, १९५५, इलाहाबाद, बा०सं०, पृ० १४,२५,२६,३६ आदि

३- यशपाल : `दिव्या` १९५६: पं.सं. लखनऊ, पृ० १७,२३७, 221, 222 आदि

४- रांगेयराघव : `चीवर`: १९५१, इलाहाबाद, पृ० २४७

५- `श्वेतांक ने धीरे से उत्तर दिया- `देवि । संयम जीवन का एक आवश्यक अंग है , और मदिरा और संयम में विरोध है ।`

`और संयम का क्या लक्ष्य है ?`

`सुख और शान्ति ।`

चित्रलेखा ने मदिरा के पात्र को अपने अधरों से लगाते हुए पूछा -`और जीवन का लक्ष्य ?`

चित्रलेखा की आंखें मादकता से कुछ-कुछ लाल होने लगी थीं । श्वेतांक ने चित्रलेखा के स्वर में एक प्रकार के संगीत का अनुभव किया, उसके वार्तालाप में कविता का । उसने उत्तर दिया --`जीवन का लक्ष्य ? सुख और शान्ति ।`

--- यहीं पर तुम भूलते हो नवयुवक ।`

चित्रलेखा संभल कर बैठ गयी । `सुख तृषित है और शान्ति अकर्मण्यता । पर जीवन

बाणभट्ट संस्कृत के विख्यात कवि हैं। रवि कीर्ति पुलकेशिन के महाकवि हैं। इन दोनों का वार्तालाप कवित्वमय, सुन्दर तथा सरस है। यथा रविकीर्ति का कथन—

" युद्ध रोका जा सकता है।

" कैसे ?"

"देवी बताएंगी। अहंकार को मिटाकर।"

" वह कहां नहीं है ?"

" जहां मनुष्यता है।"

" और यश !"

" वह स्थायी तभी है जब कल्याणरत है।"[1]

इस प्रकार के सरस, हृदयग्राही विचारमूलक कथोपकथन कम उपन्यासों में मिलते हैं, जिनमें उद्देश्य या ~~कथोपकथन-~~ उपन्यासकार का दृष्टिकोण प्रच्छन्न रूप में प्रकट हो। इनके द्वारा कथानक के विकास में रोचकता बनी रहती है।

कथनोपकथन द्वारा नाटकीयता

६- प्रारम्भिक उपन्यासों के वार्तालाप नाटकीयता विहीन थे। कथोपकथन को प्रभावशाली बनाने के लिए पात्रों की आंगिक क्रियाओं के चित्रण के द्वारा उपन्यास में नाटकीयता का प्रवेश हुआ है तथा इससे वे सजीव भी हुए हैं।[2] 'मृगनयनी' में अटल के स्वर के द्वारा नाटकीयता का समावेश हुआ है।[3] 'क्षीण स्वर' तथा 'दबी हुई ०कन

शेष -

अविकल कर्म है, न बुझने वाली पिपासा है। जीवन हलचल है, परिवर्तन है और हलचल तथा परिवर्तन में सुख और शान्ति का कोई स्थान नहीं" इतना कहकर उसने मदिरा का पात्र श्वेतांक के होठों से लगा दिया।

—भगवतीचरण वर्मा: 'चित्रलेखा' १९५५, इलाहाबाद, न०सं०पृ० २६

१-रांगेयराघव :'चीवर' १९५१ इलाहाबाद, पृ० २४७

२- प्रेमचन्द :'गोदान' : १९४९ : बनारस, द०सं० पृ० ३, ४, ७, ६१ आदि।
जैनेन्द्र : 'कल्याणी' दिल्ली पृ० ५४, ६३, ६८ आदि
वृन्दावनलाल वर्मा : विराटा की पद्मिनी : १९५७, झांसी, स०सं० पृ०६६, १२४, १२५

३-" क्षीण स्वर में अटल ने उत्तर दिया —'अभी तो ऐसा कुछ नहीं सोच पाया। नट ने कहा-'दो ही उपाय हैं —या तो यहां से भाग चलो, या लाखी का साथ छोड़ो।"

— क्रमश

गरज के द्वारा उपन्यास में नाटक का सा आनन्द आने लगता है। इसी प्रकार निम्नलिखित कथोपकथन में पात्रों की आंगिक क्रियाओं के चित्रण के कारण सजीव नाटकीय दृश्य की अवतारणा हो गई है -

जितेन ने दांत पीस कर कहा-" कौन आता है तुम्हारी राह ? अपने को इतना समझती हो ?"

विषाद के स्वर में मोहिनी बोली-"मेरे पास नहीं है पचास हजार, मेरे पास नहीं है एक पैसा भी। मुझे और सताओ मत खुले घूमते हो और ख्याल नहीं है तुम्हारे सिर पर क्या है ?"

" मौत है, यही न ?" जितेन पिस-पिसाकर बोला-"तुम पर तो सारे कानून की रक्षा का हाथ है। वक्त नहीं है, जल्दी करो।" इस प्रकार के नाटकीय कथोपकथन के द्वारा कथोपकथन -शिल्प समृद्ध हुआ है।

कथोपकथन की लघुता

१०- शिल्प की दृष्टि से लघु कथोपकथन का ही महत्व होता है। प्रारंभिक उपन्यासों में लघु वार्तालाप कम दृष्टिगत होते हैं। इनमें लघु वार्तालाप जो मिलते

शेष -- "क्या !" अटल के कण्ठ से दबी हुई गरज सी फूटी।

पोटा ने अनुनय की," मैंने राजजी, आपके हित की बात कही। माफी देना। लेकिन, कही मैंने सच्ची बात।"

-- वृन्दावनलाल वर्मा :"मृगनयनी": १९६२, झांसी, ग्या० सं०, पृ० २१८

१- जैनेन्द्रकुमार :"विवर्त" : १९५७ : दिल्ली, द्वि० सं०, पृ० १६३

हैं, वे शिल्प की दृष्टि से महत्वहीन हैं। `वरदान` में सखियों के हास-परिहास से न मनोरंजन होता है और न कथानक की प्रगति ही, और न तो चरित्र पर प्रकाश ही पड़ता है। इस प्रकार के प्रारम्भिक कथोपकथन शिल्प की दृष्टि से असफल हैं। कालान्तर में उपन्यासों में सफल लघु कथोपकथन दृष्टिगत होने लगे[2] जिनमें शिल्पगत सौन्दर्य है। उपन्यासों में कुछ स्थानों पर लम्बे-लम्बे कथन भी मिलते हैं जो प्रारंभिक उपन्यासों की भांति उपदेश मात्र नहीं हैं तथा वे दूसरों के उद्धरण मात्र : श्लोक, दोहे, कवितादि नहीं हैं। उनके द्वारा कथा व चरित्र पर प्रकाश पड़ता है[3]। परन्तु उपन्यासों में सामान्यत: लघु कथोपकथन का ही प्राधान्य है।

१- चन्द्रा- उंह, कौन, जाय, अभी कपड़े नहीं बदले।

सेवती- तो बदलती क्यों नहीं, सखियां तुम्हारी बाट देख रही हैं।

चन्द्रा- अभी मैं न बदलूंगी।

सेवती- यह हठ तुम्हारी अच्छी नहीं लगती। सब अपने मन में क्या कहती होंगी?

चन्द्रा- तुमने तो चिट्ठी पढ़ी थी, आज ही आने को लिखा था न?

सेवती- अच्छा, तो यह उनकी प्रतीक्षा हो रही है, यह कहिए। तभी योग साधा है।

चन्द्रा- दो पहर तो हुई, स्यात अब न आयेंगे।

इतने में कमला और उमादेवी दोनों आ पहुंची। चन्द्रा ने घूंघट निकाल लिया और फर्श पर आ बैठी। कमला उसकी बड़ी ननद होती थी।

कमला- अरे, अभी तो इन्होंने कपड़े भी नहीं बदले।

सेवती- भैया की बाट जोह रही है इसीलिए यह भेष रचा है।

कमला- भूले हैं। उन्हें गरज होगी आप आयेंगे।

सेवती- इनकी बात निराली है।" --प्रेमचन्द :`वरदान` १९४५, बनारस, द्वि०सं० पृ०३६-७

२-जैनेन्द्रकुमार : `परख` १९६०, बम्बई, न०सं० पृ० ६, १०, ४५, ६८आदि
जयशंकरप्रसाद: `कंकाल` १९५२, इला०, स०सं०, पृ० १६४-५, १७६, २७७आदि
ह०प्र०द्विवेदी: `बाणभट्ट की आत्मकथा` १९६३, बम्बई, पं०सं०, पृ०६०, ७३, ७४
वृन्दावनलाल वर्मा : `मृगनयनी`, १९६२, झांसी, ग्या०सं०, पृ० ५, ६, २४, १२४आदि

३-प्रेमचन्द : `रंगभूमि` : इला०, पृ० ९०, ९१-२, ५३१ आदि

--क्रमश:

प्रतीकात्मक कथोपकथन

११- प्रतीकात्मक कथोपकथन से उपन्यास के सौंदर्य की वृद्धि होती है तथा [illegible] इसका प्रभाव द्विगुणित हो जाता है। सर्वप्रथम प्रतीकात्मक कथोपकथन का प्रयोग "सेवासदन" में हुआ।[1] यह वार्तालाप प्रासंगिक, सुन्दर तथा सजीव है। ईमानदार दारोगा कृष्णचन्द्र को रिश्वत लेते भय लगता है। किन्तु पुत्री के विवाह के लिए धन की आवश्यकता है अतः वह प्रतीक के आश्रय से अपनी पत्नी से संकट की चर्चा करते हैं। कालान्तर में अनेक उपन्यासों में प्रतीकात्मक कथोपकथन का प्रयोग हुआ।[2] कुमुद की अनुपस्थिति में निर्मल चपला के प्रति आकृष्ट हो गया। इस प्रसंग में म्यान और तलवार के माध्यम से निर्मल तथा कुमुद की मार्मिक लज्जा का

शेष- प्रेमचन्द : "गोदान" : १९४९ : बनारस, द०सं० पृ० ६३, ६४-६, २६६ आदि
इलाचन्द्र जोशी : "जहाज का पंछी" : १९५५, बम्बई, पृ० ४३-५, १८९, ३९६-७ आदि

१- " अन्त में कृष्णचन्द्र बोले- यदि तुम नदी के ~~किस~~ किनारे खड़ी हो और पीछे से एक शेर ~~तुम्हा~~ तुम्हारे ऊपर झपटे तो क्या करोगी ?
" गंगाजली इस प्रश्न का अभिप्राय समझ गई। बोली- नदी में चली जाऊंगी।
कृष्णा- चाहे डूब ही जाओ।
गंगा० - हां, डूब जाना शेर के मुंह में पड़ने से अच्छा है।
कृष्णा- अच्छा, यदि तुम्हारे घर में आग लगी हो और दरवाजों से निकलने का रास्ता न हो तो क्या करोगी ?
गंगा- छत पर चढ़ जाऊंगी और नीचे कूद पडूंगी
--प्रेमचन्द : "सेवासदन" बनारस, पृ० ११

२- प्रतापनारायण श्रीवास्तव : "विदा" : १९५७, लखनऊ, न०सं०, पृ० ४२
विनोदशंकर शर्मा कौशिक : "भिखारिणी" : १९५२, आगरा, तृ०सं० पृ० २
प्रेमचन्द : "गोदान" : १९४९, बनारस, द०सं० पृ० २६५
इलाचंद्र जोशी : मुक्तिपथ : १९५० : इलाहाबाद : पृ० २४३-४
अज्ञेय : "नदी के द्वीप" : १९५१, दिल्ली, प्र०सं०, पृ० १८-१९

हास-परिहास स्वाभाविक, सजीव और प्रभावशाली है। यदि प्रत्यक्ष रूप प्रश्न कर वे वार्तालाप करते तो उपन्यास में सस्तापन आ जाता। इस पद्धति द्वारा कुमुद का निर्मल के प्रति विश्वास व्यक्त हो रहा है। इसी प्रकार 'मुक्तिपथ' : १९५०: में भी प्रतीकात्मक संवाद-शिल्प दृष्टिगत होता है। विधवा सुनन्दा राजीव को खाना और गर्म चाय पिलाया करती थी। परिवार और मुहल्ले में बदनामी हो रही है। प्रमीला युक्ति से सुनन्दा को राजीव के गृह लाती है और प्रश्न करती है कि क्या यह घर अधिक उपयुक्त न होगा ? राजीव अपने यहां जलपान का आयोजन करता है। वह चाय के प्याले के द्वारा पुराना हिसाब किताब चुकाना चाहता है इसके प्रत्युत्तर में जो सहज स्वाभाविक प्रतीकात्मक वार्तालाप होता है वह अभिनव तथा बड़ा आकर्षक[2] है। चाय के प्यालों के माध्यम से वे यह निश्चय कर लेते हैं,

---

१- 'निर्मल - पहली तलवार तो लो गयी थी। साल भर तो म्यान सूनी रही। अब क्या दूसरी तलवार भी न आवे।

लज्जा- 'म्यान इतनी दगाबाज थी, यह तलवार को न मालूम था।'

निर्मल - 'अगर मालूम होता, तब ?'

लज्जा- 'तलवार कभी न जाती। म्यान अच्छी देख कर दूसरी तलवार आपसे आप आ गयी लेकिन जो अधिकार जिसका है, उसी को मिलना चाहिए

- प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' १९५७, लखनऊ, न०सं० पृ०४२३

२- 'यदि यही बात थी तो मैं पहले ही से सचेत कर देना चाहती हूं कि वे ऐसे सस्ते प्याले नहीं थे जैसा, कि लोग समझ बैठे हैं। उनका हिसाब देते-देते जीवन बीत जायेगा।

' मैं यही तो जानना चाहता था प्रमीला, कि उन प्यालों का यथार्थ मूल्य क्या है ? इसीलिए मैंने जानबूझकर यह प्रश्न उठाया हिसाब में मैं बराबर कच्चा रहा हूं। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई यह जानकर कि उन असाधारण प्यालों का मूल्य चुकाने में मुझे अपना सारा जीवन बिता देना होगा। मैं उस महा ऋण को पूरे उत्तरदायित्व के साथ स्वीकार करता हूं और विश्वास दिलाता हूं कि निश्चय ही अपना सर्वस्व तन, मन और आत्मा तक उसे चुकाने में लगा दूंगा।'

इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' १९५०, इलाहाबाद, पृ० २४३-१

चिराजीव सुनन्दा का उत्तरदायित्व ग्रहण करने को प्रस्तुत है और सुनन्दा भी अपने प्रेम की स्वीकृति तथा उसकी महत्ता को प्याले के मिस व्यक्त कर देती है। इस प्रकार का अभिव्यक्तिकरण बिना प्रतीक के सहज न था। प्रतीकात्मक कथोपकथन उपन्यासों में कम दिखाई देते हैं और जो मिलते हैं, वे सरल, स्पष्ट तथा प्रभावशाली हैं।

१९- कुछ उपन्यासों में ऐसे कथोपकथन दृष्टिगत होते हैं जिनकी योजना विशिष्ट उद्देश्य से होती है। प्रारम्भिक उपन्यासों में उपदेशात्मक संवाद मिलते हैं जो नीरस तथा कलाविहीन हैं। इसके विपरीत 'आचार्य चाणक्य' :१९५७: में मां-बेटे के सहज स्वाभाविक वार्तालाप के द्वारा चाणक्य और चन्द्रगुप्त की भूल पर प्रकाश पड़ा है। यह कथोपकथन प्रतीकात्मक है। महापुरुषों के कृत्यों और कार्यों की चर्चा सर्वत्र होती है। इसी प्रवृत्ति का चित्रण उक्त वार्तालाप में हुआ है। चन्द्रगुप्त और चाणक्य पराजित होकर ग्रामणि के यहां ठहरे हैं। वहां खिचड़ी बनती है। बालक बीच में हाथ डाल देता है। उसके हाथ जलने पर मां का पुत्र से कथन कि उसका कार्य चाणक्य चन्द्रगुप्त जैसा है। बालक की जिज्ञासा का शमन करने के लिए वह चाणक्य और चन्द्रगुप्त की गलती बताती है कि उसने सीमाप्रान्तों के बिना वश में किए मगध पर आक्रमण किया। फलत: वे पराजित हुए[१]। इसके द्वारा चन्द्रगुप्त और चाणक्य को संकेत भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की सांकेतिक प्रतीक योजना सोद्देश्य है। फलत: उपदेश नीरस न होकर व्यंजनामूलक हो जाता है।

१- 'बालक को रोते देख कर उसकी मां ने कहा-' तू तो ठीक वैसे करता है जैसे कि विष्णुगुप्त और चन्द्रगुप्त ने किया था, जो कि नन्दराज कोपरास्त कर राज्य प्राप्त करने के लिए चले थे।

'मां, यह क्या बात हुई। मैं क्या कर रहा हूं और चन्द्रगुप्त ने क्या किया था?

'प्यारे बच्चे, तुम्हें खिचड़ी किनारे से खानी चाहिए। खिचड़ी किनारे पर ठंडी होती है और बीच में गरम। यदि तुम किनारे से खिचड़ी खाना शुरू करते तो तुम्हारा हाथ न जलता। पर तुमने तो एकदम बीच में हाथ डाल दिया इसलिए वह जल गया।'

'विष्णुगुप्त और चन्द्रगुप्त ने क्या किया मां?'

' वे नन्द को मार कर मगध साम्राज्य पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहते थे। पर उन्होंने सीमाप्रान्त को आधीन किए बिना ही सीधा पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मगध के सीमाप्रान्त की सेना उनके विरुद्ध युद्ध के लिए आ गई और वे परास्त हो गए।'

-सत्यकेतु विद्यालंकार : 'आचार्य चाणक्य' :१९५७, मसूरी, तृ०सं०, पृ०१७९-८०।

१२- प्रारंभिक उपन्यासों का कथोपकथन शिल्प सरल था । इसमें उस क्षमता का अभाव था जो व्यंगात्मक कथोपकथन के लिए आवश्यक है । फलत: व्यंगात्मक कथोपकथन कम मिलते हैं और जो मिलते भी हैं वे सरल हैं । साधारण व्यक्ति जीवन में जिस प्रकार का व्यंग करता है वैसे ही इनमें भी मिलते हैं । उदाहरणार्थ— 'मल्लिका देवी वा वंगसरोजिनी (?) में—

'तुगरल, —'बदमाश, काफ़िर ! मैंने आज तक कोई बुरा काम किया ही नहीं ।' रघुनाथ—'सच है, मियां मगरुद्दीन ! सच है ! भला, तुम्हारे जैसे धर्मावतार कभी कुकर्म कर सकते हैं ।[1] यह व्यंगात्मक कथन नहीं प्रतीत होता । 'धर्मावतार' शब्द ही व्यंगात्मक है । प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) का वार्तालाप-शिल्प इतना शक्ति सम्पन्न हो गया था कि इसमें सफल व्यंगात्मक कथोपकथन दृष्टिगत होते हैं ।[2] ऐसे कथोपकथनों की अवतारणा प्रसंगवश हुई है तथा यह केवल व्यक्ति मात्र के प्रति नहीं होता प्रत्युत पद्धति, वर्ग अथवा विशिष्ट सम्प्रदाय के प्रति होता है । दातादीन जब गोबर से अपने पुत्र की नौकरी के लिए कहता है, तब गोबर ब्राह्मण वर्ग की दानाश्रयी प्रवृत्ति पर तीखा व्यंग्य करता है ।[3] इसके अनन्तर अनेक उपन्यासों में

१- कि०ला०गोस्वामी 'मल्लिका देवी वा वंगसरोजिनी', दू०भा०(१९१६):मथुरा, पृ०सं०- ९७ ।

२- प्रेमचंद 'रंगभूमि':इलाहाबाद : पृ०सं०- १२७, १३७ ।
प्रेमचंद 'कर्मभूमि', (१९६२),इलाहाबाद: च०सं०, पृ०सं०- २००-१ ।
,, 'गोदान' , (१९५९),बनारस : द०सं०, पृ०सं०- २८६,३३५, ३६२ ।

३- 'तुम्हारे घर में किस बात की कमी है महाराज, जिस जजमान के द्वार पर जा कर खड़े हो जाओ, कुछ न कुछ मार ही लाओगे । जनम में हो, मरन में हो, सादी में हो, गमी में हो; खेती करते हो, लेन-देन करते हो- दलाली करते हो, किसीसे भूल चूक हो,जाय तो डांड़ लगाकर उसका घर लूट लेते हो; इतनी कमाई से पेट नहीं भरता ? क्या करोगे बहुत सा धन बटोरकर? कि साथ ले जाने की कोई जुगत निकाल ली है ?'
— प्रेमचंद 'गोदान'(१९५९), बनारस: द०सं०, पृ०सं०- २८६ ।

वार्तालाप के रूप में व्यंगात्मक कथन उपलब्ध होते हैं जिनमें से शिल्प की दृष्टि से 'चित्रलेखा' (१९३४), 'शेखर: एक जीवनी' (१९४०), 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' (१९४६), 'मृगनयनी' (१९५०), 'विवर्त' (१९५३) का महत्व है। 'चित्रलेखा' के व्यंग्य में कलात्मकता और पैनापन है।[१] यह लघु है परन्तु श्रोता अथवा पाठक के मर्म को विद्ध करने में समर्थ है। योगी कुमारगिरि का कथन है कि स्त्री माया मोह तथा अन्धकार है। 'चित्रलेखा' का उत्तर- 'प्रकाश पर लुब्ध-पतंग को अंधकार का प्रणाम है।'[२] -उसकी प्रखर बुद्धि तथा व्यंगात्मक प्रतिभा का परिचायक है। 'शेखर:एकजीवनी' (१९४०) के व्यंगात्मक कथन-शिल्प में नवीनता तथा मौलिकता है। शशि-शेखर का सहज स्वाभाविक वार्तालाप जिस निष्कर्ष पर पहुंचता है वह आशातीत है। शेखर पुस्तक लिखने में शिथिलता कर रहा है। शशि उसे उत्साहित कर रही है। भोजन रसोइया से बात प्रारंभ होती है जो प्रकाशक के प्रति व्यंग्य पर समाप्त होती है।[३] वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९) के उपन्यासों में जो व्यंगात्मक

१- भगवतीचरण वर्मा: 'चित्रलेखा' (१९५५) इलाहाबाद: बा०सं०, पृ०सं०-२२७, ३२१।

२- वही- पृ०सं० - ३२ ~~पृ०स- ३२~~।

३- 'सुधारक, तुम्हारा ध्यान समाज की तरफ़ कम और भोजन की तरफ़ ज्यादा होता जा रहा है--- तय करलो, पहले सुधारक हो कि रसोइया।'

'क्यों ? और सब की तरह हमारा पाकशास्त्र भी सुधार मांगता है- वह भी तो शास्त्र है।'

'और उसमें भी रचनात्मक अभिव्यंजना की गुंजाइश है- क्यों न ? पर सवाल यह है कि तुम्हारे अनुकूल कौन-सा माध्यम है---कलम और कागज या बेलन और आटा।'

'तुम यह तुलना करती हो तो देखता हूं, दोनों एक ही बात है। रोटी बनाता है रसोइया, खाते हैं मेहमान, तारीफ़ होती है गृहस्वामी की। किताब लिखता है लेखक, मजा लेती है जनता, और मुनाफ़ा पाता है प्रकाशक।

अज्ञेय: 'शेखर : एक जीवनी' दू०भा० (१९४७) बनारस: द्वि०सं०, पृ०सं०- १९४।

कथोपकथन दृष्टिगत होते हैं, उनमें व्यंग्य तीखा तथा पैना है यद्यपि यह स्पष्ट है तथा बिना किसी कलात्मकता या आडम्बर के यह वार्तालाप के रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसके अतिरिक्त, इसके शिल्प की एक अन्य विशेषता है कि यह केवल व्यंग्य मात्र नहीं है प्रत्युत चरित्र का परिचायक भी है। लक्ष्मीबाई को नाटक की अपेक्षा घुड़सवारी, कुश्ती आदि अधिक पसन्द है। राजा गंगाधर राव कलात्मक रुचि का व्यक्ति है। राजा का कथन है कि यदि स्त्रियां नृत्य सीखें तो यह उनके शरीर और मन का व्यायाम होगा। रानी व्यंग्य करती है कि स्वराज्य स्थापित हो गया, अब नाचने गाने के अतिरिक्त दूसरा काम शेष नहीं है। अंग्रेजों ने नाचते-गाते पूरे भारत पर अधिकार कर लिया। राजा का कथन है कि अपने यहां फूट है तथा अंग्रेजों के पास हथियार अच्छे हैं। रानी का नाटकशाला[1] तथा राज्य व्यवस्था के प्रति व्यंग्य[2] निर्मम तथा तीखा है परन्तु उनके उदात्त चरित्र का द्योतक है। इसी प्रकार 'मृगनयनी' की लंखुली को देखकर

१- रानी— नाटकशाला में जो हथियार बनते हैं, उनसे क्या अंग्रेज नहीं हराए जा सकते हैं —'

— वृन्दावनलाल वर्मा :'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' (१९५०): झांसी : न०सं०, पृ०सं०- ७२ ।

२- 'कुछ सोचकर पूछा, 'क्या सचमुच आपको नाटकशाला का मेरा मनोरंजन नापसन्द है ?'

रानी ने तुरन्त उत्तर दिया, 'इन दिनों अब इससे अधिक और हो ही क्या सकता है ? राज्य का काम चलाने के लिए दीवान हैं। डाकुओं का दमन करने और प्रजा को ठीक पथ पर चालू रखने के लिए अंग्रेजी सेना है ही। इस पर यदि कोई गलती हो गई तो कम्पनी के एजेण्ट की खुशामद कर ली। बस सब काम ज्यों का त्यों मनमाना चलता रहा।'

वही - पृ०सं०- ८०-१ ।

बड़ी रानी की व्यंगोक्ति में[१] सपत्नी के प्रति ईर्ष्या भाव व्यक्त हो रहा है। यह उक्ति स्वाभाविक प्रतीत होती है। 'मृगनयनी' साधारण परिवार की लड़की थी जो राजरानी बनी तथा जिसे राजा का प्रेम भी सर्वाधिक प्राप्त है। इसी कारण रानियाँ उसके प्रति व्यंग्य करती हैं। इस व्यंग्य में ग्रामीण नारी का सजीव चित्र अंकित हो गया है। कुंठित पात्र भी कहीं-कहीं व्यंग्य करते हैं। इसमें उनके हृदय की कटुता स्पष्टत: प्रतिबिम्बित होती है। जितेन्द्र कुंठित पात्र है। वह ड्राइवर के रूप में उसके पति को घर ले आता है। मोहिनी उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करती है। फलत: उसके हृदय की कटुता तथा उच्च वर्ग की मध्यवर्ग के प्रति मिथ्या सहानुभूति के प्रति आक्रोश व्यक्त हुआ है[२]। उपन्यासों में व्यंगात्मक कथोपकथन विभिन्न रूपों के तथा विभिन्न प्रकार के प्राप्त होते हैं। कहीं यह (व्यंग्य) किसी व्यक्ति विशेष के प्रति है, कहीं यह किसी वर्ग के प्रति है

१- 'बड़ी रानी ने छोटी की हँसी को उत्तेजित किया, "हंसुली को बिचारी छोड़े भी कैसे ! जब मिट्टी के घड़ों में पानी भरकर नदी से सिर पर धरकर लाती होगी, तब यह हंसुली गले में हिलती डोलती होगी, गाय भैंस दोहने के समय और मट्ठा भावने के समय हंसुली नाचती होगी, उपले पाथने के समय गले से टन्नाती-खन्नाती होगी और खेतों के रखाने के लिए मचान पर से जब लम्बी भारी घुमाओं से गुफने घुमा घुमाकर चिड़ियों को भगाने के लिए 'हरिया ! हरिया !!' करती होगी तब हंसुली खट से कभी ठोड़ी को और पट से कभी गले की नसों को गांव के गीत सुनाती होगी ।
— वृन्दावनलाल वर्मा : 'मृगनयनी' (१९६२) :झांसी : ग्या० सं०,पृ०सं०-३१६ ।

२- 'कहा- "मैं बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ" ।
जितेन्द्र ने कडुवेपन से कहा- "इनाम में कुछ बख्शीश दीजियेगा ? गरीब का भला होगा"
मोहिनी कष्ट से घट आई, बोली—"पैदल जाओगे ?"
"जी प्लेन में जाऊंगा" — जैनेन्द्र : "विवर्त" (१९५७) दिल्ली : द्वि०सं० पृ०सं०- १९६ ।

यथा साम्यवादी उपन्यासों में कांग्रेसियों के प्रति[1] तो कहीं यह किसी पद्धति विशेष[2] के प्रति है।

आत्मगोपनपूर्ण कथोपकथन

१३- मानव का अभ्यान्तर तथा बाह्य रूप में अन्तर है। जो वह अनुभव करता है उसे व्यक्त नहीं करना चाहता है। फलत: उपन्यासों में ऐसे कथोपकथन दृष्टिगत होते हैं जिनमें उमड़ते हुए भावों को रोककर पात्र बात बनाता है अथवा उसकी बात का जो सामान्य अर्थ होता है, उससे भिन्न उसका अभिप्राय होता है। इस प्रकार के आत्मगोपनपूर्ण संवाद कुछ उपन्यासों में मिलते[3] हैं। ऐसे वार्तालाप

१- यशपाल : "पार्टी कॉमरेड" (१९४७): लखनऊ, द्वि०सं०, पृ०सं०-१२२, १२५।
नागार्जुन : "रतिनाथ की चाची" (१९४८) इलाहाबाद: पृ०सं०- २३।
रांगेय राघव: "घरौंदे" (१९४६) बनारस : पृ०सं०- ३२५।
यशपाल : "मनुष्य के रूप" (१९५२), लखनऊ: द्वि०सं०, पृ०सं०-१४७, २२७।
नागार्जुन : "बाबाबटेसरनाथ" (१९५४), दिल्ली : पृ०सं०-९०, ९१, १०१।

२- जयशंकर प्रसाद : "कंकाल" (१९५२), इलाहाबाद: छ०सं०, पृ०सं०-२४३।

३- विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक : "भिखारिणी" (१९५२), आगरा : तृ०सं०, पृ०सं०-२७।
प्रेमचन्द : "रंगभूमि" : इलाहाबाद : पृ०सं०- ५४६।
उषादेवी मित्रा : "पिया" (१९४६), बनारस : च०सं०, पृ०सं०-७४।
इलाचन्द्र जोशी : "संन्यासी" (१९५६), इलाहाबाद : छ० सं०, पृ०सं०- ६५, १०३, १०८।
वृन्दावनलाल वर्मा : "कचनार" (१९६२), झाँसी : सा०सं०, पृ०सं०- १९७।
,, : "मृगनयनी" ,, ,, चा०सं०, पृ०सं०- २८३, २८७।

स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। नारी प्रेम की कठिनाई को स्वीकार करती है। जस्सो रामनाथ के आगे स्वीकार करती है कि "मैं तो आप को ही सब कुछ समझती हूं।" परन्तु वह जैसे ही विश्वस्त होता है वह लज्जावश कह देती है "आपने जो मेरे साथ भलाई की है, वह कोई दूसरा कर सकता है ? इसीलिए तो आप ही सब कुछ हैं।"[1] जस्सो का कथन मनोवैज्ञानिक है। इसी प्रकार नरेन्द्र अपनी पत्नी शकुन्तला तथा कमलनयन को देख लेता है तथा शकुन्तला भी उसे देख लेती है। नरेन्द्र देखकर भी अनदेखा हो जाता है। वह बाहर चला जाता है और घर आने पर अपने मनोभाव को दबाकर वह इस तरह बात करता है जैसे एक बीमार पत्नी से स्वस्थ तथा चिंतित पति बात करता है।[2] पति-पत्नी के कथोपकथन में स्वाभाविक मनोभाव नहीं प्रकट होता। किंतु कथोपकथन की स्वाभाविकता की दृष्टि से इस प्रकार के वार्तालाप में शिल्पगत सौंदर्य दृष्टिगत होता है। इसका सुन्दर उदाहरण "मृगनयनी" (१९५०) में प्राप्त होता है। पिल्ली लाखी से कहती है कि मांडू का सुल्तान उसे बेगम बनाने के लिए प्रस्तुत है। अटल को वह कुंवर बना लेगा। लाखी उसे विश्वस्त करती है।[3] लाखी इस परिस्थिति को

१- विoनाoशoकौशिक : "भिखारिणी" (१९५२) आगरा: द्वoसंo, पृoसंo-२७।

२- "उसने आते ही स्वंय पूछा- "क्यों कैसी तबियत है ?"

+ +

अनुतप्त होकर भी अत्यन्त संयत और स्वाभाविक प्यार से शकुन्तला बोली- "तुमने आने में इतनी देर क्यों कर दी ? देखो जरा बदन पर हाथ धरके देखो।

नरेन्द्र बदन छूकर चौंक पड़ा। बोला, -"ओह ! आज तो तुम्हें कल से ज्यादा ज्वर है।"

— भगवतीप्रसाद वाजपेयी: "पिपासा" (१९५३), पृoसंo- ६४।

३- लाखी ने बहुत धीरे से कहा,-"मैं उनको चलने के लिए तैयार कर लूंगी। अभी भेद की कोई बात नहीं बतलाऊंगी। पक्की रही ?"
"बिल्कुल पक्की।" पिल्ली ने लाखी का हाथ ठोंका।
लाखी ने गर्दन मोड़ी। फुसफुसाते हुए स्वर में बोली, "यदि सब बातें ठीक-ठीक होती चली गईं तो नरवर का आधा राज तुमको।"
वृन्दावनलाल वर्मा : "मृगनयनी" (१९६२) फांसी : ग्या० सं०, पृ०सं०-.

सुनकर विकल नहीं होती । वह शांत रहती है तथा मन में योजना बना लेती है । उसके और पिल्ली के कथोपकथन में लाली की व्यावहारिक बुद्धि, गांभीर्य तथा धैर्य का परिचय प्राप्त होता है । यदि वह इस प्रकार से उसे आश्वस्त न करती तो संभवतः अटल और विपत्ति में फंस जाते । इस प्रकार के संवादों का शिल्पगत वही महत्व है जो जीवन में नीति का है । कथानक तथा चरित्र-शिल्प दोनों ही दृष्टि से इनका महत्व है । आधुनिक सभ्य जीवन तथा चरित्रों की यथार्थ प्रतीति में ये सहायक हैं । इनके द्वारा कथोपकथन की स्वाभाविकता अक्षुण्ण रहती है ।

चरित्र व्यंजक कथोपकथन

१४- प्रारंभिक उपन्यासों में शिल्प की दृष्टि से सफल चरित्र व्यंजक कथोपकथन कम मिलते हैं । कुछ स्थलों पर कथोपकथन के द्वारा पात्रों की हल्की झलक प्राप्त होती है[1] । इनमें शिल्पगत सौंदर्य का अभाव है । चरित्र व्यंजक कथोपकथन दो रूपों में मिलते हैं — आत्मव्यंजक तथा आलोचनात्मक । प्रारंभिक आत्मव्यंजक कथोपकथन सरल हैं । पात्र के कथन में सरलता है[2] । वार्तालाप के माध्यम

१- श्रद्धाराम फिल्लौरी :'भाग्यवती'(१९६०),वाराणसी: प्र०सं०, पृ०सं०- ६-१३, ४४, ११७-१२१ आदि ।
किशोरी० गोस्वामी :'प्रणयिनीपरिणय':मथुरा: पृ०सं०- ६,६-१०,१३-४आदि
,, ,, 'तरुणा वा चत्र कुसुममालिनी',प०भा०मथुरा: पृ०सं०- ५३-४ ।
किशोरी० गोस्वामी :'कनक कुसुम वा मस्तानी': मथुरा,पृ०सं०- ६७ ।
प्रेमचंद :'वरदान'(१९४५),बनारस: द्वि०सं०, पृ०सं०- १०,१४४,१५२ आदि
,, :'प्रतिज्ञा'(१९६२),इलाहाबाद: पृ०सं०-५६,७०,७२,९६ आदि ।
२- सुवामा- कर-मुक्ति के लिए प्रार्थना-पत्र मुझसे न लिखवाया जायगा और न मैं अपने स्वामी के नाम पर ऋण ही लेना चाहती हूं । मैं सबका एक एक पैसा अपने गांवों ही से चुका दूंगी ।
प्रेमचंद :'वरदान'(१९४५) बनारस: द्वि०सं०, पृ०सं०- १० ।

से वह अपने सिद्धान्तों की घोषणा कर देता है । इस प्रकार के कथोपकथन उपन्यासों में मिलते हैं । इसके अतिरिक्त, वक्तागण अपने चरित्र की विशेषताओं का उल्लेख नहीं करते प्रत्युत उनके कथन के द्वारा मानसिक स्तर का परिचय प्राप्त होता है । प्रथम प्रकार के कथोपकथन की अपेक्षा इस प्रकार में शिल्पगत सौंदर्य अधिक प्रतीत होता है क्योंकि प्रथम प्रकार में पात्र की स्वीकृति अस्वीकृति के सम्बन्ध में स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है ।[१] प्रारंभिक उपन्यासों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि जहां वह केवल वक्ता की घोषणा मात्र हैं वहां इनमें वक्ता की चारित्रिक विशेषता पर स्वतः प्रकाश पड़ने लगा । द्वितीय प्रकार में वक्ता के कथोपकथन के द्वारा उसका चरित्र स्वतः पूर्णतः प्रकाशित हो रहा है ।[२] शेखर अध्ययन की बात भूल कर शशि के दुख में ही लीन हो गया है । शशि शेखर के वार्तालाप में शशि की महानता, शेखर के प्रति कल्याण-भावना स्वतः प्रकाशित हो रही है ।[३] हास्य उपन्यासों में कथोपकथन के द्वारा हास्य की सृष्टि हुई है ।

१- प्रेमचन्द :'सेवासदन' :बनारस, पृ०सं०- ३४-५, १२२ आदि ।
 ,, 'रंगभूमि' : इलाहाबाद, पृ०सं०- १२,१५,१८,१६ आदि ।
 जैनेन्द्र कुमार :'परख'(१६६०) बम्बई : च०सं०, पृ०सं०-८७,६७-८ आदि ।
 वृन्दावनलाल वर्मा :'विराटा की पद्मिनी'(१६५७)लखनऊ: स०सं०, पृ०सं०- ४४, ४५, ११४, ११५ आदि ।

२- अज्ञेय :'शेखर:एक जीवनी' द्वि०भा०(१६४७) बनारस : द्वि०सं०, पृ०सं०- ३४-३५, १६४, २६६ आदि ।
 रांगेय राघव :'चीवर'(१६५१) इलाहाबाद: पृ०सं०-२४७, २७६-७आदि ।
 इलाचन्द्र जोशी :'जहाज का पंछी'(१६५५) बम्बई: प्र०सं०, पृ०सं०- २२६-२३२, ४७४, ४७५ आदि ।
 भगवतीचरण वर्मा :'चित्रलेखा'(१६५५)इलाहाबाद: बा०सं० , पृ०सं०- २६, २७, ६३ आदि ।

३- "क्यों ?"
 "दुःख की छाया एक तरह की तपस्या ही है - उससे आत्मा शुद्ध होती है ।
 "क्या आपको निश्चय है ?"
 कुछ विस्मित-सा होकर शेखर ने कहा, "क्यों ?"

पात्र विशेष के कथन उनके चरित्र के सूचक हैं तथा उनके द्वारा उनकी स्वाभावगत विशेषता भी प्रकट होती है।[१] अमृतलाल नागर (१९१६) के "नवाबी मसनद" (?) के कथोपकथन में सफल तथा शिष्ट हास्य की उद्भावना हुई है। आधुनिक सभ्यता की प्रगति की पृष्ठभूमि में सभ्यता से अनभिज्ञ नवाब की मूर्खता के द्वारा हास्य की सृष्टि हुई है। नवाब साहब ट्रेन में पहली बार यात्रा कर रहे हैं। उत्सुकता, चिंता तथा भय के कारण वे सल्याजी बात करते हैं जो रोचक तथा शिष्ट हास्य का सुन्दर उदाहरण हैं। यथा— "जी हां ! अब समझ में आया, तो इस सिगनल से क्या होता है, जनाब ?"

"इससे गाड़ी नहीं लड़ती जनाब !"

"तो अब ये यहां खड़ी क्यों है ?"

"किसी गाड़ी से भिड़ने का इंतजार कर रही है।"[२]

शेषांक —

"दु:ख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है और किसीका नहीं।"

"तो... मैं समझा नहीं।"

"आप हमारे दु:ख में आकर मिल गए, हमें उसमें सान्त्वना भी मिली, पर आपका कर्तव्य क्या वहीं तक था ? दु:ख सब जगह है। आप उसे एक ही जगह समझकर उसकी छाया में रहना चाहते हैं, और आपका जो काम है उसमें अनिच्छा दिखा रहे हैं। आप कालेज जाइए —"

— अज्ञेय : "शेखर:एक जीवनी" द्वि०भा०(१९४७)बनारस: द्वि०सं०,पृ०सं०-३४-५ ।

१- जी०पी०श्रीवास्तव : "मर्दुवा वकील बहादुर" (१९५३),बनारस: द्वि०सं०, पृ०सं०- ४६, ५३, ५७, ५८ आदि ।

अमृतलाल नागर : "नवाबी मसनद" (?),लखनऊ: प्र०सं०, पृ०सं०- ६, ७, ३५-६, ६०, १११, ११२ आदि ।

अमृतलाल नागर: "सेठ बांकेमल" (१९५५), इलाहाबाद: प्र०सं०, पृ०सं०- ५८-९, ६०-१, ८० आदि ।

२- अमृतलाल नागर : "नवाबी मसनद" (?),लखनऊ: पृ०सं०- १११ ।

नवाब रोते हुए बोले- "अजी साहब, आप तो पढ़े लिखे हैं, जरा जाकर ड्राइवर को समझाइए कि आखिर ये क्यों सबकी जान लेने पर तुला है। अरे हां, जान है तो जहान है। मैं ही उसे अपने यहां नौकर रख लूंगा। बड़ी मेहरबानी होगी, जरा जाकर समझाइए उसे।"
"मगर साहब, वह मानेगा नहीं। बहुत ही खैरख्वाह नौकर है। लेकिन शायद चार-पांच सौ रुपया देखकर मान जाय।"[1] इस कथोपकथन में स्वाभाविकता और सजीवता है। दोनों ही वक्ताओं के चरित्र पर प्रकाश पड़ जाता है।

१५- आलोचनात्मक कथोपकथन के द्वारा चरित्र पर आलोक पड़ता है।[2] ऐसे वार्तालाप भी स्वाभाविक होते हैं। इससे यह भी लाभ होता है कि अन्य व्यक्तियों की दृष्टि में पात्र का वास्तविक मूल्यांकन हो जाता है। शिल्प की दृष्टि से "बाणभट्ट की आत्मकथा" (१९४६) में सुन्दर आलोचनात्मक कथोपकथन के द्वारा बाण भट्ट के उज्ज्वल चरित्र पर प्रकाश पड़ा। मदनश्री ने निपुणिका से कहा-था कि बाण भट्ट जैसे सैकड़ों यहां तलवे चाटने आते हैं। निपुणिका भट्ट को बताती है कि वह बाणभट्ट से मिलने दूसरे दिन गई थी और लौटकर उसका मुख उतर गया था। उसने सूखी हंसी के साथ कहा- "बाण भट्ट आदमी नहीं है, हला।

१- अमृतलाल नागर : "नवाबी मसनद" (?) लखनऊ : पृ०सं०- ११२।
२- प्रेमचन्द : "प्रतिज्ञा" : इलाहाबाद : पृ०सं०- ५६।
भगवतीचरण वर्मा : "चित्रलेखा" (१९५५) इलाहाबाद : बा०सं०, पृ०सं०- ११७, १२०, १६८-९ आदि।
प्रेमचंद : "गोदान" (१९४९) बनारस : द०सं०, पृ०सं०- २४-५, ११३, ११७ आदि।
हजारीप्रसाद द्विवेदी : "बाणभट्ट की आत्मकथा" (१९६३) बम्बई : पं०सं०, पृ०सं०- १२१, २२७, ३०६ आदि।
वृन्दावनलाल वर्मा : "झांसी की रानी लक्ष्मीबाई" (१९६१) झांसी : न०सं०, पृ०सं०- १००, १४७, ३५२।
चतुरसेन शास्त्री : "वैशाली की नगरवधू" : उत्तरार्द्ध (१९५५) प०आ० पृ०सं०- २०१, २०२ आदि।
जैनेन्द्र कुमार : "विवर्त" (१९५७) दिल्ली : द्वि०सं०, पृ०सं०- २०७, २०९.

मैंने गर्वपूर्वक उत्तर दिया- 'वह देवता है, सखी !' भट्ट, मैंने तुम्हारा नाम कलंकित किया था, पर तुमने मेरा मान रख लिया ।'[1] उक्त कथोपकथन प्रासंगिक है । निपुणिका जो भट्ट की नर्तकी थी, वह उनके यहां से चली गई थी और उसका बाणभट्ट को अनुभव सुनना नितांत स्वाभाविक है । इसी प्रकार चाणक्य के त्याग और महानता की सूचना भी पात्रों के सहज स्वाभाविक वार्तालाप के द्वारा प्राप्त होती है ।[2] सेनापति और सेल्युकस के परस्पर कथोपकथन के द्वारा चाणक्य के त्याग का ही परिचय नहीं प्राप्त होता प्रत्युत भारतीय संस्कृति का ज्ञान भी हो जाता है ।[3]

१- हजारी प्रसाद द्विवेदी: 'बाण भट्ट की आत्मकथा' (१९६३) बम्बई: पृ०-१२१ ।

२- सत्यकेतु विद्यालंकार : 'आचार्य चाणक्य' (१९५७) मसूरी: तृ०सं०, पृ०सं०- २८१, २८२, ३०४-५ ।

३- इस देश की संस्कृति बड़ी अजीब है, सम्राट ! यहां एक ऐसा वर्ग है, जो धन-वैभव को तुच्छ समझता है, राजशक्ति को हेय मानता है और त्याग के जीवन को ही अपना आदर्श समझता है । विष्णुगुप्त इसी वर्ग का व्यक्ति है, सम्राट ! यवनों को भारत से निकाल कर और मगध के नन्दकुल का विनाश कर यह विष्णुगुप्त स्वयं भारत का सम्राट नहीं बना । आप सुनकर आश्चर्य करेंगे, सम्राट ! यह विष्णुगुप्त अब भी एक पर्णकुटी में निवास करता है, तृण-शय्या पर शयन करता है, और कंद-मूल-फल खाकर अपना पेट भरता है । भारत-भूमि में धन-वैभव की कमी नहीं है । पाटलिपुत्र के राज प्रासाद की शान अनुपम है । पर यह विष्णुगुप्त राजप्रासाद के बाहर एक छोटी-सी कुटी में निवास करता है । उसके एक इशारे पर संसार के सब वैभव सब सुख उसके सम्मुख उपस्थित हो सकते हैं । पर इन्हें वह हीन और त्याज्य समझता है ।

वही - पृ०सं०- ३०४ ।

संवादात्मक चरित्र-शिल्प के कारण पात्रों का सम्यक् मूल्यांकन हो जाता है तथा उपन्यास की नीरसता का परिहार भी हो जाता है।

कथोपकथन की शिल्पगत दुर्बलता

१६- कथोपकथन-शिल्प के विकास हो जाने पर भी कुछ उपन्यासों में कथोपकथन की शिल्पगत दुर्बलता दृष्टिगत होती है। पात्रों के कथन उनके नहीं प्रतीत होते अथवा वे नीरस होते हैं।

अस्वाभाविकता

१७- प्रारंभिक उपन्यासों में सहज स्वाभाविक कथोपकथन नहीं उपलब्ध होते। पात्रों के वार्तालाप में स्वाभाविकता की अपेक्षा पुरातनता की गंध आती है।[१]

१- रघुवर- "क्या मैं जालसाज़ हूं, दगाबाज़ हूं, झूठा हूं?"
राजेश्वर-"अवश्य!"
रघुवर- "कैसे?"
राजेश्वर-"सुभद्रा का दानपत्र !!!"
पुत्र की बात पिता के हृदय में तीर सी लगी। + + + वे बहुत करुणा-
-मय स्वर में कहने लगे -
"हां बेटा रघुनन्दन। तुम में क्या दोष था जो मैंने तुमको इतना सताया। तुमने जान को हथेली में ले लिया परन्तु मुझसे कुछ न कहा। आप चले गए। हा: तुम किसके उदर के हो! तुम्हारा स्वभाव सुभद्रा के उदर का धर्म है। हा भार्या सुभद्रे! तुमने कभी भी कोई बात मेरी इच्छा के विरुद्ध न कही न कोई कार्य किया। मेरी इच्छा पर तुम्हारा कर्तव्य था। हा- तुम्हारा पुत्र भी तुम्हारे ही तरह था। मैंने वत्स रघुनन्दन को कितना दुःख दिया।"
हा सुभद्रे मैं तेरे निकट कैसा दोषी हूं। मेरा ऐसा कौन पापिष्ठ होगा। तुमने अपनी मृत्यु-शैय्या पर मुझे कितनी शिक्षाएं दी थीं उनमें से एक का भी निर्वाह मुझसे नहीं हो सका।"
जनार्दनारायण :"विमाता" (१९१५) दरभंगा: पृष्ठ०- १८७।

किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२) के पात्रों के कथोपकथन में स्वाभाविकता का अभाव है यथा 'सुखशर्वरी' (?) में अबोध बालक का कथन उसकी वय के उपयुक्त नहीं है तथा भाषा में कृत्रिमता है।[१] उपन्यासकार ने जहां श्लेषयुक्त हास परिहासपूर्ण कथोपकथन प्रस्तुत किए हैं वहां स्वाभाविकता तथा शिष्टता का अभाव है।[२] मालती पुरुष रूप में नरेन्द्रसिंह के समीप रहती है। अन्त में इस रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। मल्लिका मालती के भय की चर्चा करती है यथा—"मल्लिका, (नरेन्द्र का हाथ पकड़कर) "लीजिए अब अपने क्रोध को शांत करिए, क्योंकि आपका भयानक तलवार ने इस बेचारे को सचमुच मर्द से औरत बना दिया।

^ ^ ^

सबों के चले जाने पर नरेन्द्र ने उस बहुरूपए से कहा -"क्या सचमुच तुम स्त्री हो ?" अपरिचित, (हंसकर)"श्रीमान्! इसके पहले तो मैं स्त्री न था, किंतु आपकी तलवार के भय से विधाता ने अब मुझे सचमुच स्त्री बना दिया है"।[३] इनमें शब्दों की क्रीड़ा मात्र है।[४] सिद्धान्तों के प्रतिपादन के कारण भी इनमें अस्वाभाविकता आ गई है।

१- "उसने शव जलते देखकर कहा-"अनल! तुम्हारी सर्व दाहक क्षमता हम जानते हैं। क्षण भर अपनी चाल रोको। एक बेर हमें पिता का मृत कलेवर स्पर्श कर लेने दो। — कि०ला०गोस्वामी :"सुखशर्वरी"(१९१६) मथुरा: द्वि०सं०, पृ०सं०- ५।

२- कि०ला० गोस्वामी:"तरुण तपस्विनी वा कुटीरवासिनी"(१९०५)मथुरा: पृ०सं०- ३।
कि०ला० गोस्वामी :"प्रणयिनी परिणय":मथुरा, पृ०सं०- १२-३,१३-४।
कि०ला० गोस्वामी :"मल्लिका देवी वा बंगसरोजिनी" प०भा०:मथुरा:पृ०-५६।
,, वही- द्वि० भा०, पृ०सं०- १११, ११६।
कि०ला० गोस्वामी :"चपला वा नव्य समाजचित्र": प०भा०(१९१५) मथुरा: द्वि०सं०, पृ०सं०- ४१, ४२, ८८-९ आदि।
,, वही- द्वि० भा०, पृ०सं०- ३६, ६७-८।
,, वही- ती० भा०, पृ०सं०- ५२।

३- कि० ला० गोस्वामी :"मल्लिका देवी वा बंगसरोजिनी": द्वि० भा०, मथुरा: पृ०सं०- १११।

— क्रमशः

विरजन (वरदान: १६०६) आदर्श पत्नी है । महाराजिन के कथन पर कि सेंध उसके पति ने लगाई है, उसका महाराजिन से कथन[1] उसके आदर्श रूप का परिचायक है । इस सूचना मात्र से उसका लक्ष्य न होकर, लम्बा भाषण देने के कारण कथोपकथन-शिल्प अस्वाभाविक हो जाता है । वह प्रभावहीन है । उपन्यास-शिल्प के विकास के पश्चात् भी कुछ उपन्यासों के कथोपकथन-शिल्प में कहीं अस्वाभाविकता प्रतीत होती है यथा— सन्ना के कारण चन्दा पति द्वारा अपमानित होती है । अचेतनावस्था में उसका प्रलाप उसके चरित्र की निष्कलंकता को सिद्ध नहीं कर पाता है ।[2] उसका कथन स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त, मर्यादा के विरुद्ध उसका कथन भाषण प्रतीत होता है ।[3] यदि यह संक्षिप्त होता तो स्वाभाविक हो सकता है । किंतु यह तो प्रचारात्मक वक्तव्य प्रतीत होता है कि चरित्र पति की मिल्कियत नहीं है । इसी प्रकार 'व्यतीत' (१६५३) में बुधिया का कथन उसके उपयुक्त नहीं प्रतीत होता । निम्नवर्ग की बुधिया मनोविश्लेषक

शेष—

४- 'मालती,-'किंतु आपका रंग ढंग देखकर मुझे डर होता है कि कहीं आप मधुकर के समान रस लेकर अन्त में मुझे छोड़ न दें ।'

नरेन्द्र-'आह-प्यारी ! हम वैसे षटपद नहीं हैं ।'

मालती,-'और चतुष्पद भी नहीं हैं । इसी से मुझे भी कुछ आपके प्रेम पर भरोसा होता है । — वही— पृ०सं०- ११६ ।

१- प्रेमचन्द वरदान: १९४५: बनारस, द्वि. सं. पृष्ठ सं. ६०-१

२- यशपाल : 'देशद्रोही' (१६४३) लखनऊ: पृ०सं०- २८६ ।

३- मर्यादा के पालन का विचार था, एक धारणा की रक्षा की जिम्मेवारी थी अब कुछ नहीं । उनका विचार है ; मेरा चरित्र उन्होंने अपनी मिल्कियत और चौकसी से संभाल कर रखा है । मेरे किसी अनुचित काम करने की, मर्यादा की रक्षा न करने की जिम्मेवारी उनकी ही है । मैं अपनी इच्छा नहीं बल्कि उनके भय से सदाचारी रही । ऐसा है तो वे अपनी शक्ति भर अपनी दौलत संभाल कर रखें । उनका जो बस चलता है, घर में... वैसे मेरा बस चलेगा, मैं कर लूंगी । जब मुझ पर विश्वास था, मेरी जिम्मेवारी थी । मेरा विश्वास ही नहीं तो मेरी जिम्मेवारी क्या ?'

यशपाल : 'देशद्रोही' (१६४३) लखनऊ : पृ०सं०- ३३६ ।

नहीं है जो पिता के रोष का कारण समझ सके[1]। बुधिया जयंत से पहली बार मिली है। ऐसी स्थिति में तन की पीड़ा का उल्लेख कर कहना कि वह कह दे कि दोनों दावेदार फिर आएं[2] उचित नहीं प्रतीत होता। बुधिया के कथन में उपन्यासकार का स्वर ध्वनित हो रहा है, उसका नहीं। अकथन के कारण वह आदर्श नहीं हो पाई है प्रत्युत यहां उपन्यास में अस्वाभाविकता आ गई है।

लम्बे-लम्बे संवाद तथा भाषण

१८ प्रारंभिक उपन्यासों के कथोपकथन में शिल्पगत सौंदर्य न था। उपन्यासों के कलेवर वृद्धि के लिए उपन्यासकार इसका आश्रय ग्रहण करते थे। उपन्यासकारों ने पाठकों को उपदेश देने के लिए भी इस माध्यम को ग्रहण किया था। इसीलिए इनमें लम्बे-लम्बे नीरस कृत्रिम उपदेशात्मक तथा वादविवाद-मूलक वार्तालाप दृष्टिगत होते हैं[3]। "परीक्षा गुरु" (१८८२) में तो स्थान-स्थान पर

१- जैनेन्द्रकुमार : "व्यतीत" (१९६२) दिल्ली : तृ०सं०, पृ०सं०- २६।

२- वही- पृ०सं०- २६।

३- श्रद्धाराम फिल्लौरी : "भाग्यवती" (१९६०) हि०पु०पु०वाराणसी, पृ०सं०, पृ०सं०- ६६, ८४, १०३ आदि।

श्रीनिवासदास: "परीक्षा गुरु" (१९५८) ज्ञा०प्र० दिल्ली, पृ०सं०-४५-५२, ५२-६१, १२७-९, १४१-२ आदि।

राधाकृष्णदास : "नि:सहाय हिन्दू" (१९४२) कार्यालय, पृ०सं०- ११-२।

कि०ला०गोस्वामी : "याकूती तख्ती वा यमजसहोदरा" : मथुरा : पृ०सं०- ३१, ४२, ६०-१, ६५-८ आदि।

लज्जाराम शर्मा : "हिन्दू गृहस्थ" :सं०श्री०बम्बई, पृ०सं०-१६, ८२ आदि।

बलदेवप्रसाद मिश्र : "पानीपत" (१९०२)कलकत्ता: पृ०सं०- ३२८-९ आदि।

लज्जाराम शर्मा : "सुशीला विधवा" (?)सं०श्री०बम्बई,पृ०सं०-१५०-५आदि।

लज्जाराम शर्मा : "आदर्श हिन्दू" (१९१४) सन्म वाराणसी : पृ०सं०-१८९-१९०, १९२-३, १९९-२०० आदि।

कि०ला० गोस्वामी : "मल्लिकादेवी वा बंगसरोजिनी" :प०मा० मथुरा : पृ०सं०- ४६, १०७, १०८ आदि।

कि०ला० गोस्वामी : "मल्लिकादेवी वा बंगसरोजिनी" : पु०मा०,ह०ला० गो० उ०प्र०, मथुरा; पृ०सं०- ११८-९, १२०, १२१-२, १२३-४ आदि।

विभिन्न प्रश्नों पर पात्रों के विचार ही व्यक्त हुए हैं । इसलिए वादविवाद तथा भाषणों का तो इसमें बाहुल्य ही है । वक्ता हिन्दी में अपने विचार व्यक्त करता है ,फिर इस पुस्तक में इसका मूल रूप भी फुटनोट मेंदिया हुआ है यथा--

' मैं क्या कहूंगापहले से बुद्धिमान कहते चले आये हैं लाला ब्रजकिशोर ब कहने लगे - 'विलियम कूपर कहता है :

जिन नृपन को शिशुकाल से सेवहिं छली तन मन दिये ।
तिनकी दशा अविलोक करुणा होत अति मेरे हिये ।
आजन्म सों अभिषेक लों मिथ्या प्रशंसा जान करें ।
बहु भांत अस्तुति गाय, गाय सराहि सिर स्हेरा करें ।
शिशुकाल ते सीखन सदा सजधज - दिखावन लोक में ।
तिनको जगावत मृत्यु बहुतिक दिन गए इहलोक में ।
मिथ्या प्रशंसा बैठ घुटनन जोड़ कर मुस्कावहीं ।
छलकी सुहानी बात कहि पापहि परम दरसावहीं ।
छबिशालिनी ,मृदुहासिनी ऊत धनिक नित घेरे रहैं ।
फूंटी फलक दरसाय मनहि लुभाय कुत दिन में लहैं ।
जे हिम चित्रित रथन चढ़ चंचल तुरंग सजावहीं ।
सेना निरख अभिमान कर यों व्यर्थ दिवस गमावहीं ।
तिनकी दशा अविलोक भाखत घरेहूं मनदुख लिये ।
नृप की अगमगति देख करुणा होत अति मेरे हिये ।

I pity Kings whom worship waits upon obsequious from the Cradle to the throne, Before whose infant eyes the flatterer bows And birds a wreath about their body brows whom education stiffens into state. And death awakens from that dream too late. oh ! if servility will supple knees, whose trade it is to smile to crouch to please ! If smooth dissimulation skil'd to grace, A devils purpose with an angel's face, If smiling peeresses, and simpring peers encompassing his throne a few short years; If the gilt carriage, and the pamper'd steed. That wants no driving, and disdains the lead If guards, mechanically formd in ranks, Playing, at beat of drum, their martial pranks, shouldring and standing as if stuck to stone while condescending majesty looks on- If monarchy consists in such base things,sighing I say again, I pity kings.

प्रारम्भिक उपन्यासों में उद्धरणों का बाहुल्य है। फलत: स्वाभाविक कथोपकथन नहीं प्राप्त होते हैं। उपन्यासकारों की उपदेश देने की प्रवृत्ति के कारण भी लम्बे-लम्बे भाषण जैसे संवाद प्राप्त होते हैं। यथा- कमला का सेवती से कथन —

कमला — तो अच्छा है आप न सुनाइए। मैं तो आज यों ही नाच रहा हूं। इस पट्ठे ने आज नाक रख ली। सारा नगर दंग रह गया। नवाब मुन्नेखां बहुत दिनों से मेरी आंखों पर चढ़े हुए थे। एक मास होता है मैं उधर से निकला तो आप कहने लगे, 'मियां, कोई पट्ठा तैयार हो तो लाओ, दो-दो चोंचें हो जायं।' यह कहकर आपने अपना पुराना बुलबुल दिखाया। मैंने कहा,-'कृपानिधान, अभी तो नहीं, परन्तु एक मास में यदि ईश्वर चाहेगा तो आपसे अवश्य एक जोड़ होगी, और बद-बद कर।' आज आगा शेरअली के अखाड़े में बदान की ठहरी। पचास पचास रुपए की बाजी थी। लाखों मनुष्य जमा थे - उनका पुराना बुलबुल, विश्वास मानो सेवती कबूतर के बराबर था। परन्तु जिस समय यह पट्ठा चला है तो इसकी उठी हुई गर्दन, मतवाली चाल और गठीलेपन पर लोग धन्य-धन्य करने लगे। जाते ही जाते इसने उसका टेटुवा लिया। परन्तु वह भी केवल फूला हुआ न था। सारे नगर के बुलबुलों को पराजित किये बैठा था। बलपूर्वक लात चलाई। इसने बार-बार बचाया और फिर झपट कर उसकी चोटी दबाई। उसने फिर फिर चोट की। यह नीचे आया, चतुर्दिक कोलाहल मच गया, मार लिया, मार लिया। तब तो मुझे भी क्रोध आया, डपट कर जो ललकारता हूं तो यह ऊपर और वह नीचे दबा हुआ है। फिर तो उसने कितना ही सिर पटका कि ऊपर आ जाय, परन्तु इस शेर ने ऐसा दाबा कि सिर न उठाने दिया। नवाब साहब स्वयं उपस्थित थे। बहुत चिल्लाये, पर क्या हो सकता है ? इसने उसे ऐसा दबोचा था, जैसे बाज चिड़िया को, आखिर बाम टूट भागा। इसने पाली के उस पार तक पीछा किया, पर न पा सका। लोग विस्मय से दंग हो गए। नवाब साहब का तो मुख मलिन हो गया, हवाइयां उड़ने लगीं। रुपए हारने की तो उन्हें कुछ चिन्ता नहीं। क्योंकि लाखों की आय है। परन्तु नगर में जो उनकी धाक

बचा कुछ था, वह जाता रहा । रात हुए घर को आया । सुनता हूँ, यहाँ से जाते ही, उन्होंने अपने बुलबुल को जीवित ही गाड़ दिया । यह कह कर कमलाचरण ने जेब सनसनाई ।"[1] यह वृहद कथन है जिससे कमलाचरण की बुलबुल-बाजी का परिचय प्राप्त होता है । यह संक्षिप्त होता तो प्रभावशाली होता। इसके अतिरिक्त, उपन्यासकार ने इसे तोड़ने की चेष्टा भी नहीं की है । यदि कमलाचरण बीच में रुकता, बुलबुल को प्यार करता अथवा सेवती टीका-टिप्पणी करती तो कथोपकथन शिल्प में स्वाभाविकता आती ।

१८- उपन्यासकारों के दृष्टिकोण के कारण ही शिल्प की दृष्टि से सफल उपन्यासों में भी लम्बे लम्बे वादविवाद मूलक संवाद तथा भाषण उपलब्ध होते हैं[2] जिनसे कथोपकथन -शिल्प पर आघात हुआ है । कुछ स्थलों पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में लम्बे-लम्बे पात्रों के कथन के द्वारा पात्र के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ा है । परन्तु व्याख्याओं और भाषणों की बहुलता से उपन्यास नीरस हो जाता है तथा कथोपकथन का सौंदर्य समाप्त हो जाता है ।

१- प्रेमचन्द: `वरदान` : १९४५ : बनारस : द्वि०सं०, पृ० ३१-३२

२- वही :`सेवासदन`:बनारस, पृ० १८८,२६४-५, ३११ आदि

प्रतापनारायण श्रीवास्तव :`विदा`:१९५७,लखनऊ,न०सं०,पृ०२३-५,१८३-४, १९२-३आदि

प्रेमचन्द:`कर्मभूमि`:१९६२,इलाहाबाद,च०सं० पृ० ६३-४, १९९-२०१,२१७-८ २२१आदि।

वही : रंगभूमि`:इलाहाबाद :पृ० १५३,२०१-२,३५३-४,४५५आदि

भगवतीप्रसाद वाजपेयी:`पतिता की साधना`:१९४९,इलाहाबाद,नृ०सं०,४७-८ ७४-५आदि

राधिकारमण प्रसाद सिंह:`रामरहीम`शाहाबाद,पृ०१२-१३,२१३-५,२३९-२४१आदि

इलाचन्द्र जोशी:`प्रेत और छाया`:१९४४,इलाहाबाद,पृ० १४६,३०३,३७२-३ ३८८आदि

वही :`जहाज का पंछी`:१९५५,बम्बई,प्र०सं० पृ० १२६-७,१४४-५,१८९-९०आदि

चतुरसेन शास्त्री :`वैशाली की नगरवधू`उत्तरार्द्ध :१९५५,प०हाउस,पृ०११०-१, २०४-५,२०५-६,२०६-७आदि

रांगेयराघव:`घरौंदे के कानून`:१९५३,इलाहाबाद,प्र०सं०,पृ०९३-४,९५,२३७-८ २५४-५आदि

निष्कर्ष :-

२०- आज के उपन्यासों का कथोपकथन शिल्प समृद्ध हो गया है। प्रारम्भिक उपन्यासों में भी पात्रों के वार्तालाप उपन्यासकार के दृष्टिकोण से प्रभावित थे और आज के भी। किन्तु दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण प्रारम्भिक उपन्यासों के कथोपकथन अतिरंजित, अस्वाभाविक तथा अव्यवहारिक थे। समस्त पात्र एक स्तर में बात करते थे जो उपन्यासकार का स्तर था। इसलिए वह खलता था। इसके विपरीत आज के उपन्यासों में उपन्यासकार का दृष्टिकोण पात्र में केन्द्रित हो गया है। इस कारण विचारमूलक कथोपकथन में भी कलात्मकता तथा सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है। 'बाबा बटेसरनाथ' :१९५४: में बट गांधी जी की आलोचना कर रहा है[१]। परन्तु वह इतनी भावात्मक तथा सरस है कि इससे कथोपकथन -शिल्प पर आघात नहीं होता। कथोपकथन पात्रों के स्तर के अनुकूल होते हैं। इसीलिए उपन्यासों में लोकभाषा का भी प्रयोग हुआ है। 'गढ़कुंडार' :१९२८: 'झांसी की रानी-लक्ष्मीबाई :१९४६: 'मैलाआंचल' :१९५४: आदि के कथोपकथन -शिल्प में लोकभाषा के कारण अभिनव सौन्दर्य दृष्टिगत होता है। किन्तु यहां यह भी आशंका रहती है कि कहीं लोकभाषाओं के कारण उपन्यास के कथोपकथन म्युजियम न बन जांय। इन उपन्यासों में इनका प्रयोग कम हुआ है। 'मैलाआंचल' :१९५४: में इनका अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। किन्तु यह भाषा ऐसी है जो दुरूह नहीं है। इसी कारण कथोपकथन की स्वाभाविकता समाप्त नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त

१- "चौरीचौरा कांड से गांधी जी बड़े दुखी हुए और उन्होंने सत्याग्रह तथा असहयोग की उस व्यापक लड़ाई को बिल्कुल स्थगित कर दिया। स्वयंसेवकों के जुलूस, सरकारविरोधी सभाएं, दमन-कानूनों के खिलाफ संघर्ष ----- सब बन्द।

'आन्दोलन एकदम ठप हो गया।

'जनसंग्राम के प्रति महात्माजी का यह खिलवाड़ देश के लिए बहुत बड़ी दुर्घटना थी। गांधीजी के साथ साथी जेल के अन्दर बन्द थे। यह समाचार पाकर वे क्रोध और दुःख के मारे पागल हो उठे।

कथोपकथन -शिल्प आज प्रारंम्भिक उपन्यासों के शिल्प से भिन्न होता है। प्रारंभिक कथोपकथन प्रेम प्रसंगों की हाय हाय की ध्वनि अथवा उपदेशात्मकता से पूर्ण था। आज यह भावानुकूल तथा प्रसंगानुकूल हो गया है। एक उपन्यास के कथोपकथन में एक ही भाषा का प्रयोग होते हुए भी एकरसता तथा एकस्वरता नहीं दृष्टिगत होती, उसमें विभिन्नता है। 'मनोरमा' :१९२४: तथा 'मंगल प्रभात' :१९२६: के कथोपकथन कवित्व से पूर्ण थे परन्तु उनमें कृत्रिमता दृष्टिगत होती है। इसके विपरीत सुन्दर कथोपकथन ~~कवित्व~~ काव्यत्व से पूर्ण हैं परन्तु अव्यावहारिक तथा अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होते हैं।

२१- कथोपकथन -शिल्प का निरन्तर विकास होता है। 'नदी के द्वीप' :१९५१: में इसके प्रस्तुतीकरण में नवीनता है। 'कंकाल' १९२९: में गाला की मां की जीवनी में लिखित संवाद मिलते हैं। परन्तु इसमें रेखा कापी पर कुछ लिखकर भुवन को देती है। भुवन भी उसका उत्तर देता है। यह लिखित संवाद की पद्धति सुन्दर तथा मौलिक है। कथोपकथन -शिल्प आज इतना सशक्त हो गया है कि इसके द्वारा कथानक का विकास होता है। यह केवल चरित्र का प्रकाशक नहीं रह गया है प्रत्युत जटिल मानव के जटिल व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन है। देश-काल तथा वातावरण की प्रतीति में इसका योगदान उल्लेखनीय है।

२२-कथानक तथा चरित्र-शिल्प की भांति ही कथोपकथन -शिल्प मौलिक है। इसे देखकर ऐसा अनुभव नहीं होता कि उपन्यासकारों ने इसका अनुवाद अथवा भावानुवाद किया है। उपन्यासकार पाश्चात्य उपन्यासों के कथोपकथन-शिल्प से परिचित थे, उसी से प्रेरणा ग्रहण की किन्तु इसका विकास उपन्यास की कथा तथा पात्रों के माध्यम से हुआ है। इसी कारण इसमें स्वतः प्रवर्तित प्रवाह और गति है।

१- अज्ञेय : 'नदी के द्वीप' :१९५१, दिल्ली, पृ० १५९-१६०

अध्याय ७

परिप्रेक्ष्य-शिल्प

१- परिप्रेक्ष्य-कथानक, चरित्र-चित्रण की भांति उपन्यास का मुख्य तत्व न है। उपन्यास यथार्थ तथा जीवन्त प्रतीत हो इसलिए उपन्यासों में इसका चित्रण होता है। इसी कारण इसका महत्व अन्य तत्वों से न्यून नहीं है। उपन्यास में कम या अधिक मात्रा में परिप्रेक्ष्य का चित्रण हुआ करता है। कुछ सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों में इसका चित्रण अधिक होता है। और इनकी तुलना में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में प्रायः कम हुआ करता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में देश-काल का जो चित्र प्राप्त होता है उसका शिल्प अन्य प्रकार के उपन्यासों से भिन्न है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में देश-काल की विशेषताओं का संकेत मिलता है जिसकी पृष्ठभूमि में चरित्र की विशिष्टता प्रकट होती है। ऐतिहासिक तथा आंचलिक उपन्यासों में परिप्रेक्ष्य-चित्रण के कारण ही उस काल की सांस्कृतिक सामाजिक, भौगोलिक, राजनीतिक आदि विशेषताएं स्पष्ट होती हैं। उपन्यासों में सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक स्थिति, स्थानगत सौन्दर्य एवं प्राकृतिक दृश्यों आदि के चित्रण के द्वारा देश-काल तथा वातावरण की प्रतीति होती है किन्तु परिप्रेक्ष्य चित्रण का शिल्पगत अधिक विकास नहीं हो सका।

दैश-काल-चित्रण

२- प्रारंम्भिक सामाजिक तथा ऐतिहासिक रोमांस में देश-काल-चित्रण नगण्य है। इनमें अतीतकालीन अथवा समसामयिक समाज का चित्रण नहीं हुआ है। देश-काल-चित्रण के नाम पर इनमें केवल यही प्रदर्शित हुआ है कि मुसलमान शासक अन्यायी, अत्याचारी तथा नीतिविहीन हैं। उनके राज्य में सुन्दर स्त्रियों की दुरवस्था है। उनके स्त्रीत्व की रक्षा ही एक समस्या है। 'तारा वा क्षात्र-कुल कमलिनी' :१९०२: 'कनक कुसुम वा मस्तानी' :१९०३: 'चपला वा नव्य समाज चित्र' :१९०३: 'शाहआलम की आंखें' :१९१८: में यही दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त, राजमहल अथवा अन्तःपुर ~~कुत्सित~~ कुत्सित प्रेम के अखाड़े हैं, जहां प्रेम-व्यापार निरन्तर चलता रहता है वहां राजनीति का निर्मम चक्र भी गतिशील है यथा- 'तारा वा क्षात्र-कुल-कमलिनी' :१९०२: में जहांआरा और रोशन आरा अपने- अपने अर्थ की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। इनमें सफल - वर्णनात्मक शैली में

१- कि०ला०गोस्वामी : 'तारा व क्षात्र-कुल-कमलिनी', द्वि०भा०, १९२४, मथुरा, पृ० १०, ११, १२, ४५-६ आदि

देश-काल-चित्र नहीं प्रस्तुत हुआ है। पात्रों के कथनों से तत्कालीन स्थिति के कुछ संकेत प्राप्त होते हैं।[1] 'याकूती तख्ती वा यमज सहोदरा' (१९०६) में अफरीदी पात्र आए हैं। परन्तु इसमें उनके देश का सांस्कृतिक तथा भौतिक चित्रण नहीं मिलता। निहालसिंह अपने अनुभव बताता है जो अति साधारण है — वह बंधी आंखों से पहाड़ की उतराई पार कर रहा था।[2] इन उपन्यासों में युद्ध का चित्रण भी हुआ है जो कागजी प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ 'शाह आलम की आंखें' (१९१८) में प्रस्तुत युद्ध उपन्यासकार के युद्ध सम्बन्धी अज्ञान को प्रकट करता है।[3]

३- प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) के उपन्यासों में ही सर्वप्रथम सफल देशकाल-चित्रण प्रस्तुत हुआ है। इसके प्रकृतिकरण-शिल्प की प्रमुख विशेषता है प्रासंगिकता। 'प्रेमाश्रम' (१९१८-९) हिन्दी का प्रथम राजनीतिक उपन्यास है। इसमें शोषण का विशद चित्र उपलब्ध होता है। अधिकारी वर्ग का दौरा ही ग्रामीणों की विपत्ति का कारण है।[4] कारिन्दों द्वारा कृषक से निःशुल्क दूध लेना, रुग्ण मां को गाड़ी पर अस्पताल ले जाते हुए कृषक की गाड़ी रोककर लकड़ी सदर पहुंचाने का आदेश देना,[5] जमींदार के अत्याचार आदि चित्रण[6] के द्वारा तत्कालीन भारत की शोषित

१- वही- चौ०भा०, पृ०सं०- ७७।
किशोरीलाल गोस्वामी: 'मल्लिका देवी वा वंग सरोजिनी', प०भा०(१९१६) मथुरा: पृ०सं०- ५।

२- 'फिर मुझे केवल यही जान पड़ने लगा कि मुझे दो, या चार अफरीदी उठाकर पहाड़ की चढ़ाई और उतराई को लांघते हुए बड़ी तेजी के साथ किसी ओर ले जा रहे हैं।' -
— किशोरीलाल गोस्वामी : 'याकूती तख्ती वा यमज सहोदरा' (१९०६) मथुरा: पृ०सं०- २१।

३- इन्द्रविद्या वाचस्पति : 'शाह आलम की आंखें' (१९४७) बम्बई-१ : पृ०सं०- ४६-८, १०५, १७७-८।

४- प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम' (१९५२) बनारस : पृ०सं०- ६४-५।

५- वही- पृ०सं०- ६२।

६- ,, ,, - २२५, २२६, २३० आदि।

ग्रामीण जनता का चित्र वर्णनात्मक तथा संवादात्मक रूप में प्रस्तुत हुआ है। 'कर्मभूमि' (१९३२) तथा 'गोदान' (१९३६) में शोषित ग्रामीणों तथा नागरिकों का चित्र प्राप्त होता है।[१] प्रेमचन्द का समय राष्ट्रीय जागरण का काल था। उनके उपन्यासों में उनके काल की सफल तथा सशक्त अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। उनका शिल्प इस दृष्टि से श्लाघ्य है कि राष्ट्रीय आन्दोलन, सत्याग्रह, हड़ताल तथा सरकार का दमनचक्र आदि का चित्रण प्रसंगवश हुआ है।[२] उनके कथानक का चयन इस रूप में हुआ है कि राष्ट्रीय आन्दोलन इसमें गुम्फित हो गए हैं। पात्र राष्ट्रीय विचारों के व्यक्ति हैं। इसलिए वे राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेते हैं। 'रंगभूमि' (१९२५-७) में रियासतों का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है जो सप्रासंगिक है क्योंकि सोफिया के कारण रानी जाह्नवी अपने पुत्र विनय को राजपूताना भेज देती है।[३] फलतः रियासत की धांधली का भी सहज स्वाभाविक चित्र प्राप्त होता है।[४] वीरपाल विनय को बताता है कि राजा राज्य व्यवस्था तथा प्रजा के सुख-दुख की चिंता नहीं करता। वह अंग्रेजों की खुशामद करता है तथा उसकी रियासत में अंधेर मचा है।[५] रियासत में विनय कारागार का अनुभव करता है।

१- प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (१९६२) इलाहाबाद: च०सं०, पृ०सं०- ४१, ८९, २६५-६, २९८
   ,, 'गोदान' (१९५१) बनारस : द०सं०, पृ०सं०- १७१, २५०, ३८२-३ आदि

२- ,, 'कर्मभूमि' (१९६२) इलाहाबाद: च०सं०, पृ०सं०- ३७५-७, ३७७-८, ३७९-३८० आदि।
   ,, 'रंगभूमि': इलाहाबाद: पृ०सं०- ४८६, ४८९, ४८८, ५०८ आदि।

३- वही- 'रंगभूमि' पृ०सं०- १०० ।

४- ,, ,, ,, -१९०-१, १९५, १९७-८, २०१-२ ।

५- जिसे घूस न दीजिए, वही आपका दुश्मन है। चोरी कीजिए, डाके डालिए, घरों में आग लगाइए, गरीबों का गला काटिए, कोई आपसे न बोलेगा। बस कर्मचारियों की मुट्ठियां गर्म करते रहिए। + + + राजा है, वह काठ का उल्लू। उसे विलायत में जाकर विद्वानों के सामने बड़े-बड़े व्याख्यान देने की धुन है। मैंने यह किया और वह किया, बस, डींगें मारना उसका काम है। या तो विलायत की सैर करेगा, या वहां अंग्रेजों के साथ शिकार खेलेगा, सारे दिन उन्हीं की जूतियां सीधी करेगा। इसके सिवा उसे कोई काम नहीं, प्रजा जिये या मरे, उसकी बला से।' आदि
प्रेमचन्द: 'रंगभूमि' इलाहाबाद : पृ०सं०- १९१ ।

अतएव रियासत की धांधली के चित्र[१] को देखकर ऐसा अनुभव नहीं होता कि इस चित्रण के लिए उपन्यासकार ने अनावश्यक दृश्य की योजना की है । प्रेमचन्द के अनंतर भगवतीप्रसाद वाजपेयी (१८९९), उषादेवी मित्रा (१८९७), अनूपलाल मंडल(?) अज्ञेय (१९०१) आदि के उपन्यासों में भी राष्ट्रीय आन्दोलन, धर्मों, पिकेटिंग आदि की झलक मिलती है ।

४- इसके अनन्तर अनेक उपन्यासों में देश-काल चित्रण होने लगा जिनमें से शिल्प की दृष्टि से "दिव्या" (१९४५), "झांसी की रानी लक्ष्मीबाई" (१९४६), "बाणभट्ट की आत्मकथा" (१९४६), "मृगनयनी" (१९५०), "चीवर" (१९५१), "बाबा बटेसरनाथ" (१९५४), "मैला आंचल" (१९५४) आदि उल्लेखनीय हैं । ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक प्रश्नों और समस्याओं को अभिव्यक्ति मिली है । प्राचीनकाल में दास-दासियों की स्थिति कितनी करुण थी, इसका चित्रण अनेक उपन्यासों में हुआ है परन्तु शिल्प की दृष्टि से "दिव्या" (१९४५) ही उल्लेखनीय है । इसमें शिल्पगत सौंदर्य दृष्टिगत होता है । इसका शिल्प प्रतीकात्मक है, उपदेशात्मक नहीं । दारा (दिव्या) को अपनी स्वामिनी के पुत्र को स्तनपान कराना पड़ता था और उस का पुत्र जब भूखा रहता तो स्वामिनी उसके पुत्र शाकुल को उसके समक्ष खड़ा कर देती। तब शाकुल भूखा रहता और उसका पुत्र तृप्त होता । स्वामिनी की निष्ठुरता तथा दासी उसकी दयनीय स्थिति का चित्र सहज स्वाभाविक तथा प्रभावपूर्ण रूप में प्रस्तुत हुआ है, यथा— "यही क्रिया प्रति प्रातः-संध्या पुरोहित चक्रधर के आंगन में बंधी गाय के साथ भी होती । गो दोहन से पूर्व बछिया को गाय के स्तनों पर छोड़ दिया जाता । अपने स्तनों पर अपनी संतान के मुख का स्पर्श पाकर जब गाय स्तनों में दूध ढील देती, बछिया को गले की रस्सी से खींचकर गाय के खूंटे पर बांध दिया जाता और उसका दूध द्विज-पत्नी या दासी पात्र में ले लेती

---

[१] प्रेमचन्द : "रंगभूमि" : इलाहाबाद : पृ०सं०- १९५, १९७-८, २०१-२ ।

दासा इस आयोजन की ओर निष्पलक देखती रही[1]। गौ दोहन के समय दासा का निष्पलक देखना मनोवैज्ञानिक है। इससे यह संकेत मिलता है कि दासी का जीवन गौ के समान निरीह तथा करुण है। दासी की स्थिति,इससे बढ़कर क्या दुर्गति हो सकती है कि उसे विहार में शरण नहीं मिल सकती क्योंकि उस में प्रवेश के लिए स्वामी की अनुमति आवश्यक है। वेश्या को विहार में आश्रय मिल सकता है। स्थविर का कथन कि "वेश्या स्वतंत्र नारी है[2]।" परिस्थितियों के माध्यम से उपन्यासकार ने स्पष्ट कर दिया है कि वेश्या की स्थिति दासी से श्रेष्ठ है। 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' (१९४६) में जनेऊ आन्दोलन[3], हल्दी कूं-कूं उत्सव[4], 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) में धार्मिक विद्वेष[5],'मृगनयनी' (१९५०) में अन्तजातीय प्रेम-समस्या[6], धार्मिक अत्याचार[7], मानसिंह के समय में कला की उन्नति[8] आदि का चित्रण हुआ है। ग्रामीण अंधविश्वास का प्रकाशचित्रीय यथार्थ चित्रण 'बाबा बटेसरनाथ' (१९५४) में दृष्टिगत होता है। ग्राम्य में वर्षा नहीं हो रही है। अतएव वहां की अंधविश्वास मूलक पूजा तथा आयोजनों का वर्णन स्वाभाविक तथा सजीव रूप में प्रस्तुत हुआ है - "ग्वालों, अहीरों और धानुकों ने यहीं चार दिनों तक भुइयाँ महराज का पूजन किया।

१- यशपाल :'दिव्या'(१९५६) लखनऊ: पं०सं०, पृ०सं०- १२३।

२- वही- पृ०सं०- १२६।

३- वृन्दावनलाल वर्मा :'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई'(१९६१) झाँसी : न०सं०, पृ०सं०- ४७-८।

४- वही पृ. ९९, १०१।

५- हजारीप्रसाद द्विवेदी :'बाणभट्ट की आत्मकथा'(१९६३) बम्बई: पं०सं०, पृ०सं०- २२६।

६- वृन्दावनलाल वर्मा :'मृगनयनी'(१९६२) झाँसी : ग्या०सं०, पृ०सं०- २१२-३, २६०-१, ३६७, ३०८ आदि।

७- वही- पृ०सं०- ४०५।

८- वही- पृ०सं०- ३२०, ३६५, ४०७ आदि।

दस भैंसे बलि चढ़ाई और दो जवान भाव खेलते-खेलते लहूलुहान होकर गिर पड़े थे, फिर भी राजा इन्दर खुश नहीं हुआ- नहीं हुआ ! नहीं हुआ !! नहीं हुआ !!!

एक रात मर्द जब सो गये तो गांव भर की औरतें दस-पन्द्रह गुटों में बंट गईं । तालाब से मेंढक पकड़ लाए गये । उन्हें ओखलियों में मूसलों से कुचला गया । गीतों में बादल को बुलाती रहीं वे, देर तक बुलाती रहीं, लेकिन मेघ नहीं आया- नहीं आया- नहीं आया !!

पंडितों ने महीनों तक चंडी-पाठ किए साधकों ने एक एक मन्त्र को लाखों बार जपा--- सब व्यर्थ ! वरुण की दया नहीं आई[1] । वर्षा न होने पर ग्रामीण अंधविश्वास का चित्रण प्रसंगवश हुआ है । यह केवल सूचना मात्र नहीं प्रतीत होती । इसी प्रकार 'मैला आंचल' (१९५४) में पूर्णिमा, ग्राम के त्योहार[2], मनोरंजन[3], अंधविश्वास[4], 'सागर लहरें और मनुष्य' में मछलीमारों के त्योहार[5], समुद्र पूजन[6], प्रेम एवं विवाह सम्बन्धी दृष्टिकोण आदि का सफल चित्रण हुआ है जो शिल्प की दृष्टि से सुन्दर है । इन दोनों आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष का जीवन चित्रित हुआ है जो अभिनव शिल्प के कारण उल्लेखनीय है । उदाहरणार्थ- 'मैला आंचल' (१९५४) में राष्ट्रीय चेतना का ग्राम्य में क्या रूप हो गया- इसका स्पष्ट चित्र प्रस्तुत हुआ है । स्वराज्य हो गया । पर इसका क्या अर्थ है, इसे वे नहीं जानते । स्वराज्य मिल गया-

---

१- नागार्जुन :'बाबा बटेसरनाथ'(१९५४) दिल्ली: प्र०सं०,पृ०सं०-४६-७ ।
२- फणीश्वरनाथ रेणु :'मैला आंचल'(१९६१) दिल्ली :पा०बु०ए०,द्वि०सं०, पृ०सं०- १५६-१६० ।
३- वही- पृ०सं०- ८६-७, ६६-१ ।
४- ,, ,, पृ०सं०- २४, १२२, १२४ ।
५- उदयशंकर भट्ट :'सागर लहरें और मनुष्य' (?) दिल्ली: पृ०सं०- २२१-२, २२६-७ ।
६- वही- पृ०सं०- १७२, १५२-३ ।
७- ,, ,, पृ०सं०- १३५, २३०, २३१ आदि ।

इस पर वे विश्वास नहीं कर पाते क्योंकि जोतखी जी बताते हैं कि सिमराहनी में भी ऐसा ही हुआ था। ग्रामीण लड़के 'इनकिलाब जिन्दाबाद' करते हुए घूम रहे थे। जोतखी जी के मामा ने स्वतंत्रता संग्राम के प्रसिद्ध नारे 'इनकिलाब जिन्दाबाद' का अर्थ बताया था कि हम जिन्दा बाघ हैं। वे नमक कानून भंग की चर्चा करते हुए बताते हैं कि दारोगा के आते ही सब भयभीत होकर घर में छिप गए।[1] इसका शिल्प पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न है। नमक कानून की चर्चा प्रसंगवश हुई है। दारोगा से भय का चित्रण भी कलात्मक रूप में प्रदर्शित हुआ है। स्वराज्य प्राप्त हो गया। नगर की भांति ग्राम्य में भी उत्सव हो रहा है। इस उत्सव का चित्रण ग्रामीणों के अनुरूप ही हुआ।[2] उनके कीर्तन तथा गाने उनकी अबोधता को प्रकट करते हैं।

१- "एक दूसरे के ऊपर गिर रहा है। कहीं फंडा, कहीं पत्ता और कहीं इनकिलास जिन्दाबाद! दरोगा साहब तैवारी को पकड़कर ले गए। इसके बाद गांव के घर-घर में घुसकर खानातलासी! गांव के सभी जिन्दाबाद-मांद में घुस गए। सुनने में आया कि अब अंगरेजी राज हुआ तो फिर घर-घर में भोलटियर घरघराने लगा। फिर इनकिलास-जिन्दाबाद! पुलिस-दरोगा को देखकर और जोर-से चिल्लाते थे सब। हो भाई, चिल्लाओ तुम्हारा राज है अभी! पुलिस-दरोगा मन-ही-मन गुस्सा पीकर रह गए। पिछले मोमेंट में जिन्दाबादों ने जोस में आकर बङगड़ा जला दिया, कलाली लूट गया। दूसरे ही दिन चार लौरी में भरके गोरा मलेटरी आया और सारे गांव को जला पका, लूट पीटकर एक ही घंटा में ठंढाकर दिया।"

— फणीश्वरनाथ 'रेणु': 'मैला आंचल' (१९६१) दिल्ली: पा०बु०९८, द्वि०सं०, पृ०सं०- ४७।

२- "कथि के चढ़ियो आयेल
मारथ माता
कथि के चढ़ल सुराज,
बहु सखी देखन को।"

फणीश्वरनाथ 'रेणु': 'मैला आंचल' (१९६१) दिल्ली: प०बु०१०, द्वि०सं०, पृ०सं०- २८२।

इस अवसर पर 'कांग्रेस' और 'सोशलिस्ट पार्टी' का वैमनस्य भी प्रकट हुआ है। पात्रों के कथोपकथन के द्वारा भी विभिन्न दृश्यों की सफल तथा जीवन्त अव-तारणा हुई है, जिससे तत्कालीन देश-काल की प्रतीति होती है।

स्थानगत-चित्रण

५- प्रारम्भिक उपन्यासों में उपन्यासकारों ने स्थान-चित्रण के द्वारा स्थानीय वातावरण की प्रतीति का प्रयत्न किया था। ऐतिहासिक रोमांस तथा अन्य उपन्यासों में गढ़ या नदी के चित्रण में यथार्थता तथा सजीवता नहीं प्रतीत होती। सूक्ष्म निरीक्षण तथा वर्णन-शक्ति के अभाव के कारण 'कनक कुसुम वा मस्तानी' :१९०३: में जो दौलताबाद नामक किले का चित्रण हुआ है वह खाइयों तथा सुरंगों से पूर्ण है।[२] गढ़ केवल दीवारों का घेरा नहीं होता, फाटक, अन्दर की बनावट, कंगूरे आदि का वर्णन नहीं मिलता है। इसी प्रकार 'पूना की हलचल' :१९०३: में राजगढ़ के किले का जो चित्रण हुआ, वह गढ़ का

१- 'बात यह हुई कि .... बालदेव जी आज फिर सनके हैं,' बात यह हुई कि बाबू कालीचरन के पेट में रहता है कुछ और, और कहता है कुछ और। .... हम इससे पहले ही पूछ लिये थे कि तुम्हारी पार्टी की ओर से क्या हुकुम हुआ है सुराज उतसव के बारे में। तो बोला कि सुराज क्या सिरिफ कांग्रेसी को मिला है... अभी देखिये धूम-धाम करके जब हम लोग जुलूस निकाला है तो एक बाहरी आदमी को मंगाकर हमलोगों के उतसव को भंग कर रहा है। यह कैसी बात ? ...'

-फणीश्वरनाथ रेणु :'मैला आंचल' :१९६१, दिल्ली, प०बु० ए०, द्वि०सं०, पृ० २८४

२- किशोरीलाल गोस्वामी : 'कनक कुसुम वा मस्तानी' : १९१४, मथुरा,

चित्रण नहीं सामान्य इमारत की खाईं और नहर का चित्रण है ।[1] यह चित्रण अस्वाभाविक तथा कृत्रिम प्रतीत होता है । इस में वागाडम्बर मात्र है ।

६- जब उपन्यास-शिल्प का विकास हो गया तो स्थान-चित्रण में स्वाभाविकता और सजीवता आ गई । मकान अथवा नदी, पर्वत का चित्रण उपन्यास की आवश्यकतानुरूप होता है । इसी कारण कुछ उपन्यासों में इसका लघु चित्र प्राप्त होता है ।[2] इसका प्रस्तुतीकरण-शिल्प इस दृष्टि से उल्लेखनीय है

१- राजगढ़ के किले की दक्षिण और छोटी सी पहाड़ी के ऊपर एक सुन्दर इमारत दिखाई दे रही है, जिसके चारों तरफ पत्थर की दिवारों ने इस प्रकार घिराव कर रक्खा है जैसे शत्रु अपने कमजोर दुश्मन को घेरे खड़ा हो । इमारत का सदर दरवाजा राजगढ़ के किले के बड़े फाटक से बिलकुल मिला हुआ है ।

दीवारों के साथ-साथ दो-दो पुरसा गहरी खाईं खुदी है । खाईं से मिली हुई एक नहर जाती है- जिसका स्वच्छ जल ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों के भयंकर दर्रों में घूमता, आसपास मस्त हाथियों की तरह पड़े हुये बड़े-बड़े चट्टानों से टकराता, छोटे-छोटे सुन्दर जंगली पहाड़ीं पौधों को तोड़ता, फोड़ता, उछलता, कूदता अर्जुन कुण्ड से होता हुआ खाईं के किनारों से लगकर दीवार से टकराता, और किले के चारों तरफ घूमकर इस खूबी से हर-हर शब्द करता हुआ नीचे गिरता है और फिर देखने वाला उसकी उतराई को देखकर पहरों पहाड़ी पेंच कसपियों में उलझा रहता है । जल के बहाव से ऐसा जान पड़ता है कि वह पहाड़ से इस निमित्त उतरता है कि राजगढ़ के किले के चारों ओर फेरी दे और फिर अपनी लहर छोड़ता हुआ पहाड़ी के उस भाग में चला जाय जहां उसके दूसरे साथी उसके आने की प्रतिक्षा कर रहे हों ।

इमारत का पिछला हिस्सा भी माता के मंदिर से मिला हुआ है । यह वही देवी हैं जिनके पूजक रत्नागिरी पर्वत पर बहुधा पाये जाते हैं । आज कल मंदिर के आसपास उदासी छाई रहती है ।"

गंगाप्रसाद गुप्त : "पूना में हलचल" (१९०३): पृ०सं०- १-२ ।

जयशंकर प्रसाद : "कंकाल" (१९५२) इलाहाबाद: सं०, पृ०सं०-२९०-१, २९८ ।

कि स्थानों का वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी स्पष्ट है । मिस्टर सेवक का मकान उनकी रुचि तथा कृपणता का प्रतीक है । उनका उपयोगितावादी दृष्टिकोण गृहसज्जा में दृष्टिगत होता है । ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक स्थानों का यथार्थ स्वाभाविक तथा जीवन्त चित्र प्रस्तुत हुआ है । वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९) के ऐतिहासिक उपन्यासों में गढ़, पर्वत, वन, नाले तथा वनस्पति का चित्रण इस रूप में हुआ है कि उनकी वास्तविकता पर प्रश्न अंकित नहीं हो सकता । उदाहरणार्थ झांसी के किले का चित्रण कितना यथार्थ तथा विश्व--सनीय है ।

'ओछाँ फाटक से पूर्व उत्तर की ओर थोड़ी दूरी पर सागर खिड़की और उससे कुछ अधिक दूरी पर लक्ष्मी फाटक था । सुन्दर और मुन्दर के साथ रानी सागर खिड़की पर आई । इस खिड़की से पश्चिम की ओर ओछाँ फाटक की तरफ कुछ ही डग के फासले पर एक मुहरी थी । नगर के दक्षिणी भाग के पानी का बहाव इसी से होकर था । यह मुहरी इतनी बड़ी थी कि नाटे कद

शेषांक—

प्रेमचन्द :'रंगभूमि' : इलाहाबाद, पृ०सं०- २४, ५३४ ।
उषादेवी मित्रा :'पिया'(१९४६) बनारस: च०सं०,पृ०सं०- १०,११६ ।
अज्ञेय :'शेखर:एक जीवनी'(१९४७) बनारस: द्वि०सं०, पृ०सं०- १०६, १२७, १५२ ।
जैनेन्द्र कुमार :'विवर्त'(१९५७)दिल्ली: द्वि०सं०,पृ०सं०- १७८,१८० ।

१- यह बंगला जिस जमाने में बना था, सिगरा में भूमि का इतना आदर न था । अहाते में फूल-पत्तियों की जगह शाकभाजी और फलों के वृक्ष थे । यहाँ तक कि गमलों में भी सुरुचि की अपेक्षा उपयोगिता पर अधिक ध्यान दिया गया था । बेलें-परवल,कद्दू, कुंदरू, सेम आदि की थीं,जिनसे बंगले की शोभा भी होती थी, और फल भी मिलता था । एक किनारे खपैल का बरामदा था, जिसमें गाय-भैंस पाली हुई थीं । दूसरी ओर अस्तबल था । मोटर का शौक न बाप को था, न बेटे को । फिटन रखने में किफायत भी थी और आराम भी । ईश्वर सेवक को तो मोटर से चिढ़ थी । उनके शोर से उनकी शांति में विघ्न पड़ता था । फिटन का घोड़ा अहाते में एक लंबी रस्सी से बांधकर छोड़ दिया जाता था । अस्तबल से बाग के लिए खाद निकल आती थी, और केवल एक साईस से काम चल जाता था ।— प्रेमचन्द:'रंगभूमि':

का आदमी आसानी से इसमें होकर निकल सकता था । सागर खिड़की के ऊपर जो तोपें थीं, उनमें से एक को रानी ने इस मुहरी के ऊपर दीवार के पीछे लगा दिया । एक से अधिक तोपें वहां रखी भी नहीं जा सकती थीं[1]।"

शिल्प की दृष्टि से यह वर्णन श्लाघ्य है । इसमें पूर्ववर्ती उपन्यासों की भांति खाईं अथवा नहर या परकोटे का उल्लेख नहीं हुआ । यह गढ़ का चित्र स्पष्ट है । खिड़की, फाटक तथा मुहरी के उल्लेख से गढ़ का नक्शा ही नहीं समझ में आता प्रत्युत कालान्तर में होनेवाला कार्य असंगत नहीं प्रतीत होता । मोरखली इसी मार्ग से ब्रिटिश छावनी में जाता है । इसी प्रकार ग्वालियर के गूजरी महल का जो चित्रण हुआ है वह गूजरी महल के सर्वथा अनुरूप है[2]। उपन्यासकार का स्थान-

---

१- वृन्दावनलाल वर्मा: "झांसी की रानी लक्ष्मीबाई" (१९५१) झांसी: न०सं०, पृ०सं०- ३०८ ।

२- "ग्वालियर किले की पहाड़ी का उत्तर-पूर्व वाला छोर नीचे की ओर कुछ छहर गया है । चार वर्ष में उसके ऊपर मृगनयनी का गूजरी-महल बन गया । ऊपर के कोट से इसके कोट का भी सम्बन्ध जोड़ दिया गया । नीचे वाले कोट के नीचे से राई गांव वाली सांक नदी की हकी हुई नहर गूजरी महल के नीचे वाले खण्डों में आ गई और उसके पानी के निकास का भी प्रबन्ध हो गया । गूजरी महल लगभग डेढ़ सौ हाथ लम्बा और सवा सौ हाथ चौड़ा । दो खण्ड ऊपर दो खण्ड नीचे । नीचे के खण्ड के बीचों-बीच सांक नदी की नहर के जल के लिये हौज और चारों ओर दो खण्डी दालानें । ऊपर के खण्डों के बीच में विस्तृत आंगन चौरों और सुरम्य अटारियां और छतें । बाहर और भीतर से मृगनयनी के रूप-स्वरूप का प्रतिबिम्ब प्रफुल्ल,सीधा, सलौना और छबीला । कमरों के द्वार, विवाह-मण्डप के लता-वितान और बन्दनवारों के प्रतीक । पूरे भवन में वैसी गोलें मढ़िया और साथ पैसे चौड़े और सुन्दर आभूषण वह पहिनती थी । पूरा भवन थोड़े से अलंकारों में संजोया हुआ, थोड़े से अलंकारों से पूरा भवन सजाया हुआ ।"

वृन्दावनलाल वर्मा : "मृगनयनी" (१९५२) झांसी : ग्या०सं०, पृ०सं०- ४०७ ।

वर्णन-शिल्प इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उन्होंने जिस स्थान का चित्रण किया है, वह काल्पनिक नहीं है। इस क्षेत्र में वृन्दावनलाल वर्मा (१८८६) एकाकी हैं। उनके पश्चात् भी दुर्ग आदि का चित्रण हुआ परन्तु वह इतना सजीव नहीं है। सत्यकेतु विद्यालंकार (१६०३) ने पाटलिपुत्र के दुर्ग का चित्र जो प्रस्तुत किया है वह भौगोलिक चित्र मात्र है,[१] वास्तविक दुर्ग का नहीं। प्रारंभिक उपन्यासों में स्थानों का चित्रण सफल नहीं हो पाया था। किंतु ऐतिहासिक उपन्यासों में विभिन्न स्थानों का चित्र प्रस्तुत हुआ है जो प्रशंसनीय है। इसके अतिरिक्त, नदी, नाले, वन, मैदान आदि का सजीव चित्र उपन्यासों में प्रस्तुत हुआ है।

देश-काल-चित्रण : असंगत

७- इतिहास के ज्ञान के अभाव के कारण उपन्यासों में देशकाल सम्बंधी असंगति दृष्टिगत होती है। शिल्प की दृष्टि से सफल उपन्यासों में भी यह दोष दिखाई पड़ता है। विशिष्ट आदर्शों की स्थापना के लिए उपन्यासकार ने देश-काल विरोधी चित्र भी प्रस्तुत किया है। हर्षकालीन भारत में राजा का महत्व था। प्रजा अपनी शक्ति से अनभिज्ञ थी। महामाया (बाणभट्ट की आत्मकथा: १६४६) प्रत्यन्त दस्यु का सामना करने के लिए जनता को उद्बोधन करती है-

---

१- पाटलिपुत्र के समीप जहां शोण नदी गंगा में आकर मिलती है, मगधराज महापद्म नन्द का विशाल राजप्रासाद था। यह प्रासाद एक दुर्ग के समान बना हुआ था, जिसके चारों ओर ऊंची प्राचीर थी। प्राचीर के साथ-साथ दो दिशाओं में शोण और गंगा नदियां बहती थी, और बहुत-सी राजकीय नौकाएं राजप्रासाद के समीपवर्ती नदी-तट पर हर समय तैयार रहती थी, ताकि कोई व्यक्ति जल मार्ग द्वारा राजप्रासाद में प्रवेश न कर सके। राज-प्रासाद में प्रवेश करने के लिए एक महाद्वार था, जो दक्षिणी प्राचीर के मध्य में स्थित था।
सत्यकेतु विद्यालंकार : "आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य" (१६५७) मसूरी: पृ०सं०, पृ०सं०- १०८।

यह भावना हर्षकालीन नहीं प्रतीत होती, यह आधुनिक है[1]। राजा तथा वेतन भोगी सेना की भर्त्सना[2] सोद्देश्य हुई है जिससे अतीत के माध्यम से वर्तमान को बल प्राप्त हो। प्रजा अपनी सुप्त शक्ति का अनुभव करे। इतिहास के अनुसार, चम्पा की राजकुमारी चन्द्रभद्रा दास विक्रेता के हाथ में पड़ जाती हैं, महावीर की अनुकम्पा से उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई तथा वे उनकी शरण में चली गईं थीं। 'वैशाली की नगरवधू' (१९४८) में उनका चित्रण इतिहास-विरुद्ध हुआ है। चन्द्रभद्रा दास व्यापारियों के चंगुल से मुक्त तो हो जाती है किंतु इसमें वह सोम की प्रेमिका के रूप में चित्रित हुई है। महावीर श्रमण की इच्छा है कि सोम त्याग करे जिससे राजकुमारी चन्द्रभद्रा कोसल महाराज विदूडभ की पत्नी बने। वह उनकी इच्छा को मान्यता प्रदान करता है[3]। इसी प्रकार की एकसंगति 'सांझ का सूरज' में दृष्टिगत होती है। निस्सन्देह सन् १८५७ की क्रांति में हिन्दू मुसलमानों

१- हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९६३) बम्बई : प०सं०, पृ०सं०- २०६-७।

२- म्लेच्छवाहिनी का सामना राजपुत्रों की वैतनभोगी सेना नहीं कर सकेगी क्या ब्राह्मण और क्या चाण्डाल, सबको अपनी बहू-बेटियों की मानमर्यादा के लिए तैयार होना होगा। . . . राजा, महाराजा और सामन्त स्वार्थ के गुलाम बनते जा रहे हैं। प्रजा भीरु और कायर होती जा रही है। विद्वान और शीलवान नागरिकों की बुद्धि कुंठित होती जा रही है। धर्माचरण में इसलिए व्याघात उपस्थित हुआ है कि राजा अन्धा है, प्रजा अन्धी है और विद्वान अन्धे हैं। यह बड़ा अशुभ लक्षण है।'

हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९६२) बम्बई : प०सं०, पृ०सं०- २०६-७।

का रक्त साथ-साथ प्रवाहित हुआ था । हिन्दू-मुसलमान ऐक्य [illegible] था । अकबर के समय में मुसलमान शासकों ने हिन्दू कन्याओं से विवाह किया था किन्तु खान-पान में कट्टरता थी । `सांझ का सूरज` :१६५५: में हिन्दू - मुसलमान के प्रेम का चित्रण इस सीमा तक हुआ है कि खान-पान में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध या परहेज नहीं दृष्टिगत होता[1] । यह भावना आधुनिक है, तत्कालीन नहीं । इस प्रकार की ऐतिहासिक असंगति के कारण उपन्यास-शिल्प के सौन्दर्य पर आघात हुआ है ।

१- ओमप्रकाश शर्मा :`सांझ का सूरज` : १६५५: दिल्ली शाहदारा प्र०सं०, पृ० ६६, १५५ आदि ।

वातावरण

८- निर्माण कालीन उपन्यासों में वातावरण की सृष्टि नहीं हो सकी है। भाषा शैली की अक्षमता, शिथिलता तथा गति एवं प्रवाहहीनता के कारण ही इनमें सम्यक् वातावरण की उद्भावना नहीं हो सकी है। गोस्वामी जी 'सुखशर्वरी' में श्मशान की भीषणता का चित्र अंकित करना चाहते थे परंतु यह रंचमात्र भी भीषण नहीं है। भट्ट जी जिस तपोवन के पवित्र वातावरण की सृष्टि करना चाहते हैं, अभिधार्थ के कारण वह प्रभावहीन हो गया है।[१] वर्णन पद्धति आलंकारिक तथा पुरातन है। गोस्वामी जी के उपन्यासों में जहां प्रेम का प्राधान्य है, वहां भी सफल रोमानी वातावरण की सृष्टि नहीं हो सकी है। तिलस्मी तथा जासूसी उपन्यासों में अवश्य कुतूहलपूर्ण तथा रहस्यमय वातावरण की सृष्टि हुई है। इस काल के उपन्यासों में तिलस्मी तथा जासूसी उपन्यासों का इतना अधिक प्राधान्य था कि सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्म

१- सो उस रम्य निराले स्थान में जहां तपोधन ऋषियों की कुटी समान विट्ठल राव अपना घर बनाए थे वह स्थान सामान्य रीति पर ऐसा विमल तथा पवित्र था कि जहां एक बार जाने से वहां की प्राकृतिक शोभा का दृश्य देखनेवाले के चित्त से कितना ही भुलावा देने पर भी... कुछ दिनों के लिए हटाए नहीं हटता था.... इनके स्वच्छ और उज्जवल खान-पान रीति और व्यवहार के कारण कृष्णता संकुचित और भयभीत सी हो केवल हरे कृष्ण इत्यादि नारायण के नामोच्चारण में आ बसी और सब ओर से निरास हो मलिनता ने इनकी अग्नि होमशाला के धूम का आसरा पकड़ा। बालकृष्ण भट्ट : 'नूतन ब्रह्मचारी' (१९११) इलाहाबाद: द्वि०सं०, पृ०सं०-१०-११।
देवकीनन्दन खत्री: 'चन्द्रकांता संतति', चौ०सं०, तेरहवां हिस्सा, लहरी बुकडिपो उन्नीसवां संस्करण (सन् १९५४), पृ०सं०-१२-१४, १५-६, १७-८ आदि।
कि०ला०गोस्वामी: 'कटे मूड़ की दो दो बातें वा शीशमहल', कि०ला०गो० बु०पु० मथुरा, पृ०सं०- ४८, ५७ आदि।
दुर्गाप्रसाद खत्री : 'सुफेद शैतान' ल०बु० बनारस; पृ०सं०- २४-५, ५१२ आदि
दुर्गाप्रसाद खत्री : 'भूतनाथ' ; ल०बु० बनारस; अट्ठारहवां भाग, पृ०सं०- ५६, ८६ आदि।

की बहार तथा जासूसी दृष्टिगत होती है । `लखनऊ की कब्र या शाही महलसरा` (?) तो ऐतिहासिक उपन्यास की अपेक्षा तिलस्मी उपन्यास ही प्रतीत होता है ।

६- `सेवासदन` (१९१८) में सर्वप्रथम सफल वातावरण की उद्‌भावना हुई । कालान्तर में अनेक उपन्यास में इसका सफल चित्र अंकित हुआ जिनमें से शिल्प की दृष्टि से `चित्रलेखा` (१९३४), `विराटा की पद्‌मिनी` (१९३६), `गोदान` (१९३६) `बाणभट्ट की आत्मकथा` (१९४६), `मैला आंचल` (१९५४), `बाबा बटेसरनाथ` (१९५४) आदि उल्लेखनीय हैं । देश-काल-चित्रण के द्वारा भी वातावरण का बोध होता है । वातावरण-चित्रण के कारण ही `चित्रलेखा` (१९३४), `विराटा की पद्‌मिनी` (१९३६), `कचनार` (१९४८) में ऐतिहासिकता का अभाव होते हुए भी ऐतिहासिक उपन्यास के अन्तर्गत रखे जाते हैं[१]। `चित्रलेखा` (१९३४) में वातावरण की रंगीनी, गुप्त साम्राज्य की दीप्ति सहज स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत हुई है । उपन्यासकार का वातावरण का प्रस्तुतीकरण-शिल्प सजीव तथा सशक्त है । उसका वर्णन विवरण नहीं प्रतीत होता, इसमें चित्र प्रस्तुत करने की अद्‌भुत क्षमता है यथा—

`छलकते हुए मदिरा के पात्र को चित्रलेखा के मुख से लगाते हुए बीजगुप्त ने कहा, "चित्रलेखा ! जानती हो जीवन का सुख क्या है ?"
चित्रलेखा की अधखुली आंखों में मतवालापन था और उसके अरुण कपोलों में उल्लास था । यौवन की उमंग में सौंदर्य किलोलें कर रहा था, आलिंगन के पाश में वासना हंस रही थी । चित्रलेखा ने मदिरा का एक घूंट पिया- उसके बाद वह मुसकराई । एक क्षण के लिए उसके अधरों ने बीजगुप्त के अधरों से मौन भाषा में कुछ बात कहीं, फिर धीरे-से उसने उत्तर दिया, "मस्ती ।"[२]

१- भगवतीचरण वर्मा : `चित्रलेखा` (१९५५) इलाहाबाद: बा०सं०, पृ०सं०- ६, ४७, १२६ ।

२- वही- पृ०सं०- ३८ ।

उस समय प्रायः आधी रात बीत चुकी थी । बीजगुप्त का भवन सहस्त्रों दीप-शिखाओं से आलोकित हो रहा था । द्वार पर रत्नाईं में विहाग बज रहा था । केलिभवन में नगर की सर्व-सुन्दरी नर्तकी के साथ सामन्त बीजगुप्त यौवन की उमंग में निमग्न था, और बाहर गहर अन्धकार में सारा विश्व[1] ।

इसी प्रकार 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६) तथा 'दिव्या' (१९४५) में कथानक के आश्रय से सफल वातावरण की अवतारणा हुई है[2] । 'बाण भट्ट की आत्मकथा' (१९४६) में उपन्यासकार ने हर्ष-कालीन भारत के धार्मिक वातावरण का जीवंत चित्र प्रस्तुत किया है[3] । कथोपकथन तथा सशक्त वर्णन के द्वारा ही यह चित्र सजीव तथा सप्राण होता है । वाममार्गी अवधूत की आकृति तथा वेशभूषा के वर्णन के द्वारा तत्कालीन वातावरण दृश्यमान हो

१- भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा', (१९५५) इलाहाबाद: बा०सं०, पृ०सं०-६ ।

२- वृन्दावनलाल वर्मा : 'विराटा की पद्मिनी' (१९५७) झाँसी: स०सं०, पृ०सं०- ७२-३, ११०-१, ११३ आदि ।

यशपाल : 'दिव्या' (१९५६) लखनऊ: पं०सं०, पृ०सं०-१७, १२३, १२६ आदि

३- हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९६३) बम्बई: पं०सं०, पृ०सं०- ४६-७, ७१, ७५, ७७, ७८, २२६ आदि ।

४- 'वे व्याघ्र- चर्म पर अर्धशायित अवस्था में लेटे हुए थे । उनके शरीर से एक प्रकार का तेज निकल रहा था । + + उनके वेश में कोई विशेष साम्प्रदायिक चिन्ह नहीं था, केवल दाहिनी ओर रखा हुआ पान-पात्र देखकर अनुमान होता था कि वे कोई वाममार्गी अवधूत होंगे । उनके पत्नावे में एक छोटा-सा वस्त्रखंड था, जो लाल नहीं था और तन ढकने के लिए पर्याप्त तो किसी प्रकार नहीं था ।

— वही- पृ०सं०- ७१ ।

जाता है। ~~तथा उनकी चमत्कारिक क्रिया।~~ जैसे ही वे बाणभट्ट के माथे का स्पर्श करते हैं, भट्ट को भविष्य-दर्शन हो जाता है।[1] यहां वातावरण के प्रस्तुतीकरण का शिल्प सांकेतिक भी है। इससे ज्ञात होता है कि अवधूत सिद्धि प्राप्त होते थे। इसके अतिरिक्त, धार्मिक असहिष्णुता तथा वैमनस्य दोनों का ही चित्र प्रस्तुत हुआ है। `गोदान` (१९३६) में ग्रामीण वातावरण, उनके हर्ष-विषाद, आमोद-प्रमोद, पर्व उत्सव का चित्रण हुआ है, इसका शिल्पगत कलात्मक विकास `बाबा बटेसरनाथ` (१९५४) तथा `मैला आंचल` (१९५४) में दृष्टिगत होता है। इन दोनों का शिल्प `गोदान` (१९३६) की अपेक्षा अधिक यथार्थमूलक है।[2]

१०- प्रत्येक उपन्यास का वातावरण विशिष्ट होता है। किसी में रोमानी वातावरण का प्राधान्य होता है तो अन्य में यथार्थवादी वातावरण का। कुछ उपन्यासों में विभिन्न प्रकार के दृश्यों में विभिन्न प्रकार का वातावरण दृष्टिगत होता है। यथा- `गोदान` (१९३६) में करुण, हास्य, वात्सल्यपूर्ण, श्रृंगार-सम्बन्धी, `झांसी की रानी लक्ष्मीबाई` (१९४६) में वीरत्वपूर्ण, श्रृंगारमूलक, हासपरिहासयुक्त, `वैशाली की नगरवधू` (१९४८) में वीरत्वपूर्ण तथा अलौकिक वातावरण दृष्टिगत होता है। वातावरण की सफल उद्भावना के लिए उपन्यासकार प्रकृति का भी आश्रय ग्रहण करते हैं।

वातावरण और प्रकृति-चित्रण

११- प्रकृति के आश्रय से उपन्यासों में वातावरण की उद्भावना हुई है विशेषत: ऐतिहासिक रोमांस में। `विराटा की पद्मिनी` (१९३६), `दिव्या` (१९४५), `बाणभट्ट की आत्मकथा` (१९४६) आदि में प्रकृति-चित्रण के द्वारा

१- हजारीप्रसाद द्विवेदी: `बाणभट्ट की आत्मकथा` (१९६३) बम्बई: पं०सं०, पृ०सं०- ७२।

२- दे. पृ०सं० १२८ - १३१

उस काल की प्रतीति होती है । मदनोत्सव के वर्णन के द्वारा तत्कालीन वातावरण जीवन्त रूप में प्रस्तुत हुआ है[1]।

प्रारंभिक उपन्यासों में प्रकृति-चित्रण

१२- प्रारंभिक उपन्यासों में प्रस्तुत प्रकृति-चित्रण में शिल्पगत सौंदर्य का अभाव है । उपन्यासकारों ने स्वतंत्र दृष्टि से प्रकृति का निरीक्षण नहीं किया है । प्रकृति-चित्रण वास्तविक न होकर काल्पनिक अधिक है । कुतुब-मीनार के निकट न झरना है और न पहाड़ । श्रीनिवास दास (१८५१-८७) ने 'परीक्षा गुरु' (१८८२) में सौंदर्य के प्रतिरूप झरना और पहाड़ की कल्पना कुतुब के समीप की गई है[2]। इसी प्रकार तिलस्मी उपन्यासों में जहां भी बन्दी रहता है, वहां मेवे के वृक्षों की बहुलता दिखाई रहती है[3] तथा स्थान-स्थान पर झरने दृष्टिगत होते हैं जहां वह प्यास बुझाता है । स्थान विशेष की प्रकृति का वास्तविक चित्र इनमें नहीं प्राप्त होता है । प्रकृति-चित्रण आलंकारिक रूप में प्रस्तुत हुआ है[4] यथा- 'सूर्य जब डूबने लगता है तो उसे ज्वार किरनें सब एक

१- उस समय दक्षिण-समीर मंद गति से बह रहा था । वृक्ष-लता-गुल्म सभी झूम रहे थे । उनकी मूंगे-जैसी लाल-लाल किसलय सम्पत्ति ने उनकी सारी शोभा को लाल बना दिया था । उन पर गूंजते हुये भौरों की आवाज़ स्खलित वाणी के समान सुनाई दे रही थीं और मलयानिल की मृदु मन्द तरंगों से आहत होकर वे सचमुच ही झूम रहे जान पड़ते थे । शायद मधुमास के मधुपान से वे भी मत्त थे । अन्तःपुर की परिचारिकाएं ही नहीं, कुसुमलताएं भी क्षीबा बनी हुई थीं ।

— डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी: 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९६३) बम्बई-४: पांचवां सं०, पृ०सं०- २४ ।

२- श्रीनिवासदास: 'परीक्षागुरु' (१९५८) दिल्ली: पृ०सं०- ११६-७ ।

३- देवकीनन्दन खत्री: 'चन्द्रकांता', प्र०हि०(१९३२) बनारस: ३०सं०, पृ०सं०- २२, ४०, ६२ ।

वही- द्वि०हि०, पृ०सं०- २१, ३५-६ आदि ।

४- बालकृष्ण भट्ट: 'नूतन ब्रह्मचारी' (१९११) प्रयाग: द्वि०सं०, पृ०सं०-४-५, ५२ आदि

साथ थामती हैं पर वह नहीं रुकता इसी तरह डूबते हुए इन [illegible] को सम्हाल रखने को चन्दू तथा रमा ने कितनी तदबीरें और यत्न किए किंतु एक भी कारगर न हुए अन्त में विष की गांठ यह हुआ जा वही कि इसके द्वारा न वातावरण का निर्माण होता है और न पात्र के चरित्र पर प्रभाव पड़ता है । यह केवल दृष्टान्तवाचक है । इन उपन्यासों में प्रकृति-चित्रण नगण्य है, मुख्य है लेखक का वक्तव्य[2] ।

१३- १६१८ से प्रकृति-चित्रण में शिल्पगत सौंदर्य दृष्टिगत होने लगा । इसके द्वारा उपन्यासों में उस वातावरण का निर्माण हुआ जिसका प्रभाव व्यक्ति के चरित्र तथा कार्यों पर पड़ता है । इन्होंने उपन्यासों में वह पृष्ठभूमि प्रस्तुत की जिसके कारण उपन्यासों में यथार्थ जगत की प्रतीति होने लगी । फलत: उपन्यासों में प्रकृति विविध रूपों में अवतरित हुई ।

<u>पृष्ठभूमि के रूप में</u>

१४- मानव-जीवन प्रकृति की रम्य गोद में पुष्पित तथा पल्लवित होता है । मनुष्यों के जीवन पर इसका अक्षय प्रभाव पड़ता है । उपन्यासों में

१- बालकृष्ण भट्ट : 'सौ अजान और एक सुजान' (१६१५) प्रयाग: द्वि०सं०, पृ०सं०- ५२ ।

२- 'संध्या समागत प्राय थी. । सूर्य देव प्राची दिशा को अपने कर से लाल दुकूल पहिरा कर अस्तमित हुआ चाहते थे । पक्षि कुल कोलाहल करते-करते चराई से लौट आकर वृक्षों पर बैठ, अपनी अपनी प्यारी से रात्रि के आने का समाचार सुना-सुना से रजनी यापन करने का परामर्श करते थे । सांध्य शीतल समीर सुगन्धि लेकर दसों दिशाओं से वितरण कर रहा था ।'

किo लाo गोस्वामी : 'मल्लिका देवी वा बंगसरोजिनी' (१६१६) मथुरा:

वह अपने समस्त सौंदर्य के साथ पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत हुई है।[1] सफल उपन्यासों में प्रस्तुत प्रकृति-चित्रण दोषक अथवा अजस्तन नहीं प्रतीत होता। इसके अभाव में चित्र स्पष्ट तथा प्रभावशाली नहीं हो सकता। कुछ उपन्यासों में प्रकृति-चित्रण घटनाओं की भूमिका है। श्रमिक होरी (गोदान:१९३६) का चित्र प्रकृति की पृष्ठभूमि में ही प्रभावशाली बन पड़ा है। विकट गर्मी में अस्वस्थ होते हुए भी उसे घोर परिश्रम करना पड़ता है।[2] कुछ उपन्यासों में इसके आश्रय से पात्र की

१- प्रेमचन्द: `सेवासदन`:बनारस: पृ०सं०- ६५, २६७ आदि।
भगवतीप्रसाद बाजपेयी: `प्रेमपथ` (१९२६)पटना: पृ०सं०- १८-६।
प्रेमचन्द: `गबन` (१९३०) इलाहाबाद: पृ०सं०- १, २१, २३,२४,५६ आदि
जयशंकरप्रसाद : `तितली` (१९५१) प्रयाग: छ०सं०, पृ०सं०- १०,१२,३३, १५६,२१६ आदि।
प्रेमचन्द: `गोदान` (१९४६)बनारस: द०सं०,पृ०सं०-१८,४५,४८८ आदि।
उषादेवी मित्रा : `वचन का मोल` (१९४६)बनारस:पं०सं०,पृ०सं०-१०६।
वृन्दावनलाल वर्मा : `विराटा की पद्मिनी` (१९५७) लखनऊ: स०सं०, पृ०सं०- २७४, ३४६।
उषादेवी मित्रा : `जीवन की मुस्कान` (१९३६)बनारस: पृ०सं०- ५४।
नागार्जुन : `बाबा बटेसरनाथ` (१९५४)दिल्ली: पृ०सं०- १००, १४६
अज्ञेय: `शेखर:एक जीवनी` (१९४७)बनारस: द्वि०सं०,पृ०सं०-११६,२१६आदि।
इलाचन्द्र जोशी: `सुबह के भूले` (१९५२)इलाहाबाद: पृ०सं०-१७ ६,१७७आदि।
जैनेन्द्र : `विवर्त` (१९४७) दिल्ली: द्वि०सं०, पृ०सं०- १७८-६,१८० आदि।

२- `आज दस बजे से ही लू चलने लगी और दोपहर होते-होते तो आग बरस रही थी। होरी कंकड़ के झौवे उठा-उठाकर खदान से सड़क पर लाता था- और गाड़ी पर लादता था, जब दोपहर की छुट्टी हुई तो वह बेदम हो गया था। ऐसी थकन उसे कभी नहीं हुई थी। उसके पांव तक न उठते थे। देह भीतर से झुलसी जा रही थी। उसने न स्नान किया, न चबैना, उसी थकान में अपना अंगोछा बिछाकर एक पेड़ के नीचे सो रहा; मगर प्यास के मारे कण्ठ सूख जाता है।`

— प्रेमचन्द : `गोदान` (१९४६) बनारस: दसवां संस्करण; पृ०सं०- ४८८।

मनोभावना पर प्रकाश पड़ा है। प्रकृति का जादू पात्र को प्रभावित करता है। नारी के आकर्षण से रहित हरिप्रसन्न की कुंठा के निवारण में प्रकृति का भी योगदान है।[2] यह चित्र लघु है परन्तु हरिप्रसन्न इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहता। प्रकृति की पृष्ठभूमि में ही कुंजरसिंह ("विराटा की पद्मिनी") की कर्तव्य-परायणता का चित्र अंकित हुआ है।[3] गोलियों की सरसराहट से पूर्ण रात्रि में भी वह अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होता। प्रकृति के सौंदर्य का अनुभव व्यक्ति प्रसन्न मनःस्थिति में कर सकता है। बीजगुप्त प्रकृति की अपूर्णता तथा अभावों का उल्लेख करता है[4] इसके मूल में है उसका अशांत मन। प्रकृति-चित्रण से उपन्यासों के दृश्यों में पूर्णता आई है।

१- जैनेन्द्रकुमार : "सुनीता" (१९६२) दिल्ली : पा०बु०ए०, द्वि०सं०, पृ०सं०-२१२।
उषादेवी मित्रा : "वचन का मोल" (१९४६): पं०सं०, पृ०सं०- 102

२- "रात के दो-ढाई बजे के करीब चांद निकल आया। दूध-सी चांदनी बिछ गई। आसमान हंसता दिखाई दिया। प्रकृति भी उसके नीचे खिली। वातावरण में अजब मोह था। बयार में गुलाबी सरदी थी।

× × ×

सुनीता खुले पत्थर पर सो रही है। तकिया बांह का भी नहीं है। वही है और कुछ भी नहीं है, और वह सो रही है। ओह, रेशमी वस्त्र चांदनी में कैसे खिल रहे हैं।"

— जैनेन्द्र : "सुनीता" (१९६२) दिल्ली: पा०बु०ए०, द्वि०सं०, पृ०सं०- २१२।

३- वृन्दावनलाल वर्मा : "विराटा की पद्मिनी" (१९५७) लखनऊ: पृ० सं०- ३४६।

४- भगवतीचरण वर्मा : "चित्रलेखा" (१९५५) इलाहाबाद : बा०सं० पृ०सं०- १२९-१३०।

यथातथ्य चित्रण

१५- उपन्यासों में प्रकृति का यथातथ्य चित्र अंकित हुआ है[1]। 'देवबाला या ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१८९९) में सर्वप्रथम[2] प्रकृति का यथातथ्य चित्र प्राप्त होता है परन्तु यह चित्र अति साधारण है। कालान्तर में उपन्यासकारों के सूक्ष्म निरीक्षण के कारण प्रकृति का यथातथ्य चित्रण जीवन्त रूप में ~~प्रतीत~~ प्रस्तुत हुआ है। 'कचनार' (१९४८) में नाले का चित्र इसी प्रकार का[3] है परन्तु यह सजीव है। चित्र प्रस्तुत करने की उसमें क्षमता है।

१- वृन्दावनलाल वर्मा : 'कचनार' (१९६२) फांसी: स०सं०, पृ०सं०- २४३ ।
,, 'मृगनयनी' (१९६२) फांसी: ग्या०सं०, पृ०सं०-८१ ।
नागार्जुन : 'बलचनमा' (१९५२) इलाहाबाद : पृ०सं०- १२४ ।
फणीश्वरनाथ रेणु: 'मैला आंचल' (१९६१): द्वि०सं०, पृ०सं०- १६ ।

२- 'एक ग्यारह बरस की लड़की अपने घर के पास की फुलवारी में खड़ी हुई किसी की बाट देख रही है। सूरज डूबने पर है, बादल में लाली छाई हुई है, बयार जी को ठंढा करती हुई धीरे-धीरे चल रही है। थोड़ी देर में सूरज डूबा, कुछ फुटपुटा सा हो गया-फुलवारी की ओर से कोई उसी ओर आता दीख पड़ा, जिस ओर वह लड़की खड़ी थी।'

— अयोध्यासिंह उपाध्याय: 'देवबाला या ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१९२२) बांकीपुर : पं०सं०; पृ०सं०- १ ।

३- गुसाइयों की छावनी पेड़ों की सघन छाया में थी। पास से एक छोटा सा नाला निकला था। गहरा न था। पतली धार बह रही थी। किनारों पर हींस मकोय, लैंजो और करोंदी के सघन और गहरे हरे फाड़ थे। नाले की ढी के बीचोबीच यहां वहां हरसिंगार के पेड़ लगे हुये थे। फूलों से लदे हुये। सवेरा हो चुका था। पवन मन्द-मन्द बह रहा था। नाले की धार भी मन्द थी। हरसिंगार की फूलों लदी डालियां हवा के हलके फोंकों से नाले की पतली धार पर फूम-फूम जाती थी। सफेद पंखुरी और लाल डण्डी वाले छोटे-छोटे से फूल उस पतली धार पर एक-एक दो-दो करके चू रहे थे। उस पूर पर हिलते-डूबते वे निरन्तर चले जा रहे थे। नाले की तली उनकी मस्त सुगन्धि से भरी हुई थी। छुलबुली कौमुदी महोत्सव सा मना रही थी। — क्रमशः

१६- प्रकृति मानव-जीवन की सहचरी है। वह उसके सुख में उल्लसित और दुख में व्यथित होती है। प्रकृति के संवेदनात्मक रूप का चित्रण कर उपन्यासकारों ने करुण अथवा हर्षपूर्ण वातावरण की उद्भावना की है[1]। इस प्रकार के चित्रण से अनुभूति तथा भावना सबलतर हुई है। उदाहरणार्थ विनय की मृत्यु पर समस्त प्रकृति रुदन करती हुई प्रतीत होती है[2]। इससे उसकी मृत्यु का शोक द्विगुणित हो गया है। इसके अभाव में दुख की वह अनुभूति न होती जो हो रही है।

१७- प्रकृति सदैव मानव की सहचरी नहीं है। वह अपने हृदय की भावनाओं के प्रतिकूल भी प्रकृति को देखता है। दुख एवं वेदना के क्षण में उल्लसित प्रकृति पात्र की वेदना की अभिवृद्धि कर देती है। उपन्यासों में वैषम्यपूर्ण प्रकृति-चित्रण भी

शेषांक—

नाले में सुमन्तपुरी और मन्टोलेपुरी उतरे। —वृन्दावनलाल वर्मा : 'कचनार' (१९६२) झाँसी : सं०सं०, पृ०सं०- २४३।

१- प्रेमचन्द: 'गोदान' (१९४६)बनारस: दसवां संस्करण; पृ०सं०- २०३।
उषादेवी मित्रा : 'जीवन की मुस्कान' (१९३९)बनारस: पृ०सं०- ३९।
,, 'पिया' (१९४६)बनारस: चतुर्थ सं०, पृ०सं०- १७६।
जयशंकर प्रसाद : 'तितली' प्रयोग: छठा संस्करण : सन् १९५१, पृ०सं०- ६१, १४२, २१६ आदि।
प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (१९५७) लखनऊ: न०सं०, पृ०सं०- ११०-१, ३४९-३५० आदि।

२- 'अँधेरा छाया था। पानी मूसलाधार बरस रहा था। कभी जरा देर के लिए बूँदें हल्की पड़ जातीं, फिर जोरों से गिरने लगतीं, जैसे कोई रोने वाला थककर जरा दम ले ले और फिर रोने लगे। पृथ्वी ने पानी में मुँह छिपा लिया था, मानो मुँह पर अंचल डाले रो रही थी। रह, रहकर टूटी हुई दीवारों के गिरने का धमाका होता था, जैसे कोई धम, धम छाती पीट रहा हो। क्षण-क्षण बिजली चौंकती थी, मानो आकाश के जीव चीत्कार कर रहे हों।
प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' : इलाहाबाद : पृ०सं०- ५११।

उपलब्ध होता है[1]। मानव और प्रकृति के वैषम्य को देखकर पाठक की भावनाएं उद्दीप्त होती हैं। शिल्प की दृष्टि से "गोदान" (१९३६) में प्रस्तुत वैषम्यपूर्ण प्रकृति-चित्रण उल्लेखनीय है। होरी की दरिद्रता और अभावपूर्ण जीवन का चित्र विकट जाड़े की रात्रि के द्वारा अंकित हो सका है। इसका शिल्प रोमानी न होकर यथार्थमूलक है यथा—

'माघ के दिन थे। महावट लगी हुई थी। घटाटोप अंधेरा छाया हुआ था। एक तो जाड़ों की रात, दूसरे माघ की वर्षा। मौत का-सा सन्नाटा छाया हुआ था। अंधेरा तक न सूझता था। होरी भोजन करके पुनिया के मटर के खेत की मेड़ पर अपनी मड़ैया में लेटा हुआ था। चाहता था- शीत को भूल जाय और सो रहे; लेकिन तार-तार कम्बल, फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंकों से गीली पुआल, इतने शत्रुओं के सम्मुख आने का नींद में साहस न था। आज तमाखू भी न मिला कि उसीसे मन बहलाता। उपला सुलगा लाया था; पर शीत में वह भी बुझ गया। बेचारा फटे पैरों को पेट में डालकर, हाथों को जांघों के बीच में दबाकर और कम्बल में मुंह छिपाकर अपने ही गर्म सांसों से अपने को गर्म करने की चेष्टा कर रहा था। पांच साल हुए, मिर्जई बनवायी थी।'[2] प्रकृति के भीषण अत्याचार के समक्ष कृषक कितना दीन-निरीह तथा असहाय है- इसका चित्रात्मक वर्णन लेखक ने सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया है।

१- प्र०ना० श्रीवास्तव : "विदा", लखनऊ: नवमावृत्ति: सन् १९५७ पृ०सं०- १११, ३२ आदि।

उषादेवी मित्रा : "पिया" (१९४६) बनारस: चतुर्थ संस्करण, पृ०सं०- ३, ६६ आदि।

वृन्दावनलाल वर्मा : "झांसी की रानी लक्ष्मीबाई" (१९६१) झांसी : न० सं०; पृ०सं०- २८३।

२- प्रेमचन्द : "गोदान" (१९४९) बनारस: दसवां संस्करण : पृ०सं०- १५८।

आलंकारिक चित्रण

१८- प्रारम्भिक उपन्यासों में आलंकारिक चित्रण प्राप्त होता है परन्तु इसमें शिल्पगत सौन्दर्य का अभाव है। यह कलात्मक नहीं है। उपन्यासकार ने शिक्षा देने के लिए प्रकृति का आलंकारिक चित्र प्रस्तुत किया है[1] किन्तु कालान्तर में उपन्यासों में आलंकारिक चित्र उपलब्ध होता है उसमें शिल्पगत सौन्दर्य है। इसके द्वारा चित्र स्पष्टतर रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसके आश्रय से लक्ष्मीबाई के अद्भुत शौर्य का परिचय[2] प्राप्त होता है। बेतवा का प्रचंड रूप भी उसके मार्ग में बाधक नहीं हो सकता। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) में आलंकारिक वर्णन के द्वारा उस काल के वातावरण की अवतारणा हुई है।[3] बाणभट्ट की शैली आलंकारिक थी। उसका प्रकृति-चित्रण आलंकारिक दीर्घ सामासिक पदों में प्रस्तुत हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक उनकी आत्मकथा है। इस विश्वास को उत्पन्न करने के लिए उपन्यासकार ने उसी की शैली के अनुरूप चित्र प्रस्तुत किया है। प्रकृति के आलंकारिक वर्णन के द्वारा ही

१-'सहस्रांशु की सहस्र सहस्र किरणें उदय होने के साथ ही एक बारगी आकर इन वृक्षों के कोमल प्रवाल सदृश पल्लवों पर जो टूट पड़ती थीं यह उसी का परिणाम है जो इन वृक्षों में एका न था क्योंकि जहां एका है वह यह कब संभव है कि कोई बाहरी आकर अपना प्रभुत्व जमा सके।'

-बालकृष्ण भट्ट : 'नूतन ब्रह्मचारी' १९११, प्रयाग, द्वि०सं० पृ०४-५

२-'बेतवा की धार पुंज के ऊपर पुंज-सी दिखाई पड़ती थी। क्रम अभंग और अनन्त-सा। जब एक-क्षण में ही अनेक बार एक जलपुंज दूसरे से संघर्ष खाता और एक दूसरे से, आगे निकल जाने का अनवरत, अथक-अटूट प्रयास करता तब इतना फेनिल हो जाता कि सारी नदी में फेन ही फेन दिखलाई पड़ता था। फाग की इतनी बड़ी निरन्तर बहती और उत्पन्न होती हुई राशियां आड़े आ जाती थीं कि घुड़सवारों को सामने का किनारा नहीं दिखलाई पड़ पाता था।

+ +

रानी के घोड़े का सिर ऊपर, शेष भाग पानी और फाग में, रानी की कमर तक फाग, पानी और धार के साथ बहकर आया हुआ फाड़-फंखाड़। धार की बूंदों की फड़ी उचट-उचट कर आंखों में, बालों पर और सारे शरीर पर

उपन्यासकार ने भट्टिनी के रूप का वर्णन किया है।

प्रकृति-चित्रण की दुर्बलता

कुछ उपन्यासों के प्रकृति-चित्रण में शिल्पगत सौन्दर्य का अभाव है। उपन्यासकारों के सूक्ष्म निरीक्षण तथा मौलिक अभिव्यक्ति के अभाव के कारण प्रकृति-चित्रण महत्वहीन प्रतीत होता है। यथा- `गुप्तधन` (१) में पुरातन पद्धति में आलंकारिक प्रकृति-चित्रण दृष्टिगत होता है[2]। `जीवन की मुस्कान` (१९३९) में प्रकृति के उपमान व्यक्ति के विशेषण के रूप में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं[3]। उपमानों की अधिकता के कारण उपन्यास के सौन्दर्य पर आघात हुआ है। यदि प्रकृति-चित्रण में स्थानगत विशेषता न हो तो उसका महत्व नहीं होता। `चीवर` (१९५१) में राजोद्यान का वर्णन इतना साधारण है कि अनुभव ही नहीं होता कि यह राजोद्यान है[4]। इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण के

शेष- बरस रही थी। जब कभी सिपाहियों और सहेलियों को उत्साह देना होता तो हंस-हंसकर शाबाशी देतीं- मानों प्रचण्ड बेतवा की मलिन अंजलि में मुक्ता बरसा दिए हों। घूमरे बादलों के आगे एक और बगुलों की पांति निकल गई। मानो पहाड़ियों और पहाड़ियों से मिलने वाले बादलों को सफेद कोर लगादी हो।` - वृन्दावनलाल वर्मा: `झांसी की रानी`-लक्ष्मीबाई १९६१, झांसी, न०सं० पृ०२८३

३- हजारीप्रसाद द्विवेदी: `बाणभट्ट की आत्मकथा`: १९६३, बम्बई, पं०सं०, पृ० ३,२६,१६५ आदि।

१- `अलुल्फ आच्छादित नील आवरण में से उनका मनोहर मुख और सौ गुना रमणीय दिखाई दे रहा था, मानो ज्योत्स्ना-रूप धवल मन्दाकिनी धारा में बहते हुए शैवाल जल में उलझा हुआ प्रफुल्ल कमल हो, क्षीरसागर में सन्तरण करती हुई नीलकमला पद्मा हो, कैलाश पर्वत पर खिली हुई सपुष्पा दमनकयष्टि हो, नील मेघ-मण्डल में झलकने वाली स्थिर सौदामिनी हो। --वही, पृ०१६५

२- प्रायूष वेला आते बने आते स्याही-सी काली -कलूटी रजनी का अन्तर चीर कर जैसे बाल रवि फूट पड़ता है, उथले, प्रवाहहीन पंकिल सरोवर के श्यामल दुकूल पर जैसे नीलकमल मुकलित हो उठता है, दुर्गन्ध मुग्धा वीथिका की दक्षिण

(क्रमशः)

द्वारा उपन्यास में वातावरण का निर्माण नहीं होता और न देश-काल की प्रतीति होती है । इसके द्वारा पात्र के कार्य अथवा घटना की उपयुक्त पृष्ठभूमि नहीं प्रस्तुत हो सकती, फलत: उपन्यास-शिल्प की दृष्टि से ऐसे चित्रण अजस्तन-वत् हैं ।

निष्कर्ष :

२०- परिप्रेक्ष्य -चित्रण के कारण उपन्यास सशक्त तथा [illegible] होते हैं । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में उपन्यासकार को पात्रों के विश्लेषण के कारण परिप्रेक्ष्य चित्रण का अवकाश ही नहीं मिलता किंतु वह पात्रों की मनोभावना अथवा चरित्र के विश्लेषण के प्रयत्न में इसका (परिप्रेक्ष्य) प्रसंगवश चित्रण करता है । `शेखर` के विश्लेषण में राष्ट्रीय आन्दोलन तथा विभिन्न पार्टियों की झलक मिल जाती है[१]। असहयोग आन्दोलन में विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गयी थी । इसमें इसकी लघु झलक प्रस्तुत हुई है जिसके माध्यम से विद्रोही शेखर की भावनाओं का सफल चित्रांकन हुआ है । वह केवल नारा लगा सकता था । इसके आगे उसे कुछ करने की अनुमति न थी । उसका विद्रोही मन विकल हो गया । घर के विदेशी वस्त्रों की होली जलाकर उसका प्रसन्न होना नितान्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है[२] ।

शेष- भृकुटी पर माढ़न बूंदों के बीच , जैसे चल-दल का वज्र, गर्भ अंकुर निकल पड़ते हैं , वैसे हीइण्टर कालेज की उस बाल-मंडली के बीच यकायक एक सत्य प्रकट हो गया ।`

- भ० प्रसाद वाजपेयी : `गुप्तधन` : १९४९ ,मेरठ ,पृ०२६

३- उषादेवी मित्रा: `जीवन की मुस्कान` १९३९,बनारस,पृ० ३६,६०,८०,१००आदि

४- रांगेयराघव : `चीवर` १९५१, इलाहाबाद, पृ० ३३

१- अज्ञेय: `शेखर-एक जीवनी` प०भा०१९६१,बनारस,स०सं०,पृ०११५-६
वही ,, द्वि०सं० १९४७,पृ० ४६ ,२५१

२-`आग एकदम भभक उठी । शेखर का आह्लाद भी भभक उठा।वह आग के चारों ओर नाचने लगा और गला खोलकर गाने लगा

इसका शिल्प पूर्ववर्ती उपन्यासों के शिल्प से भिन्न है । यह अत्यधिक संदिग्ध है । अत: यह प्रभावशाली है । इसमें परिप्रेक्ष्य का चित्रण पात्र के अन्तर्मन से छन कर मर्मस्पर्शी हुआ है । इसी कारण इसमें व्यंजनात्मक शक्ति है ।

`जहाज का पंछी` (१९५५) में आज के युग की बेकारी का चित्रण हुआ है । सफल उपन्यासों में प्रसंगवश परिप्रेक्ष्य का स्वाभाविक चित्रण प्राप्त होता है । पात्र एक स्थान से दूसरे स्थान पर कार्यवश जाता है । स्थान-परिवर्तन के कारण विभिन्न स्थानों का भौतिक तथा सांस्कृतिक वर्णन भी उपन्यासों में प्राप्त हुआ है । आज मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के अतिरिक्त,अन्य प्रकार के उपन्यासों में सफल परिप्रेक्ष्य का चित्रण होता है । उपन्यासों में मन्दिर,बुर्ज,कंगूरा महल आदि का स्पष्ट तथा सजीव चित्र चित्रित हुआ है । प्रकृति-सौन्दर्य भी इनमें दृष्टिगत होता है ।`जीवन की मुस्कान`(१९३९) में परम्परागत प्रकृति-चित्रण से भिन्न रूप में इसका चित्रण हुआ है जो काल्पनिक प्रतीत होते हुए भी शिल्प की दृष्टि से महत्वहीन नहीं है । इसके द्वारा भावुक सविता का भोलापन तथा भावुकता प्रकट होती है ।[1] इस चित्रण के द्वारा उसकी सुन्दरता व्यक्त हुई है ।[2] इस प्रकार का काल्पनिक प्रकृति-चित्रण अन्य उपन्यासों में नहीं मिलता है ।

१- `कमलेश के इस उद्यान में नित संध्या-वेला में सांझ की पूरवी जैसी अनुपम अप्सराओं,विद्याधारियों का मेला लग जाता । मेंहदी की झाड़ी में से अनगिनती लाल परियां निकल आतीं । कोई मेंहदी पीसती, कोई रचाती, वृक्ष-शाखाओं पर बैठी कितनी ही झूला झूलतीं । कोई किसी को विरह-वार्ता सुनातीं,जिस कथा को सुनकर वृक्ष लता के आंसू झरते । करोड़ों फूल आंसू बन कर झर पड़ते । पवन सिसकियां लेता, सिर सिरीने लगता। कोई रूपरानी सावन गाती,उस गान को कोकिला अपने कंठ में भर लेती और नारियल-वृक्ष पर बैठी वह कुहुक उठती- कू ऊ ।अप्सराएं उसे खोजतीं फिरतीं। चिढ़कर कहतीं- कू ऊ ।

२-

ऐसी ही एक आनन्द वेला में नवोढ़ा का पहला चुम्बन लिए उद्यान के बीच में आकर खड़ी हो गई सविता ।`

"परिप्रेक्ष्य -चित्रण के शिल्प की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि [illegible] रोमानी की अपेक्षा यथार्थ तथा विश्वसनीय होता है । ऐतिहासिक उपन्यासों का परिप्रेक्ष्य अवश्य रोमानी है । उस युग की प्रतीति के लिए यह आवश्यक भी है। शिल्प की दृष्टि से 'मैला आंचल' (१६५४) का परिप्रेक्ष्य पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न है । मेरीगंज ग्राम्य का चित्रण सूक्ष्मनिरीक्षणजन्य है । मेरी की कब्र , जंगली वृक्षों का वन, ग्रामीणों का अन्धविश्वास ,कमला नदी के ग्रामवासियों को कमला (नदी) मैया के प्रति श्रद्धा का चित्र जो उपन्यासकार ने प्रस्तुत किया है[1] वह प्रकाशचित्रीय है । [illegible] इसमें देश-काल और प्रकृति का चित्रण हुआ है । प्रस्तुतीकरण -शिल्प भी अभिनव है । इस प्रकार का कलात्मक शिल्प आलोच्यकाल में कम मिलता है ।

शेष - २- उषादेवी मित्रा: 'जीवन की मुस्कान', १६३६, बनारस, पृ०३८-६

१- कोठी के बगीचे में, अंग्रेजी फूलों के जंगल में आज भी मेरी का कब्र मौजूद है । कोठी की इमारत ढह गई है ; नील के हौज टूट-फूट गए हैं, पीपल, बबूल, तथा अन्य जंगली पेड़ों का एक घना जंगल तैयार हो गया है । लोग उधर दिन में नहीं जाते । कलमी आम, का बाग तहसीलदार साहब ने बन्दोबस्त में ले लिया है , इसलिए आम का बाग साफ-सुथरा है । किन्तु कोठी के जंगल में तो दिन में भी सियार बोलते हैं । लोग उसे मुतहा जंगल कहते हैं । ततमाटोले का नन्दलाल एक बार ईंट लाने गया था, ईंट में हाथ लगाते ही खत्म हो गया था । जंगल से एक प्रेतनी निकली और नन्दलाल को कोड़े से पीटने लगी-सांप के कोड़ों से । नन्दलाल वहीं ढेर हो गया ।बगुले की तरह उजली प्रेतनी ।

मेरीगंज एक बड़ा गांव है, बारहों बरन के लोग रहते हैं । गांव के पूरब एक धारा है जिसे कमला नदी कहते हैं । बरसात में कमला भर जाती है बाकी मौसम में बड़े-बड़े गढ्ढों में पानी जमा रहता है -मछलियों और कमल के फूलों से भरे हुए गढ्ढे । पौष पूर्णिमा के दिन इन्हीं गढ्ढों में कोशी स्नान के लिए सुबह से शाम तक भीड़ लगी रहती है । रौतहट स्टेशन से हलवाई और परचून की दुकानें आती हैं ।
------------कमला- मैया को पान-सुपारी से निमंत्रित करता था ।'
-फणीश्वरनाथ रेणु: 'मैला आंचल', १६६१, दिल्ली, पा०बु०ए०डि०सं०पृ०१६

अध्याय ८

प्रस्तुतीकरण- शिल्प

१- कलाकार अथवा साहित्यकार सौन्दर्यजीवी होता है । विसर्जन के लिए वह जिस मूर्ति का निर्माण करता है उसे भी वह यथाशक्ति सुन्दर बनाता है, । उसके दैनिक जीवन में व्यवहृत वस्तुओं में भी उसकी सुरुचि तथा सौन्दर्य-भावना दृष्टिगत होती है । निस्सन्देह मानव स्वभावत: सौन्दर्य प्रिय है । वह सत्य को यथातथ्य रूप में ग्रहण कर सन्तुष्ट नहीं हो पाता । वह इसकी मरूभूमिमें सौंदर्य की सरिता प्रवाहित करने में संलग्न रहता है । फलत: वह जीवन में निरन्तर मौलिक प्रयोग करता है । उपन्यास तो आधुनिक साहित्य का प्रतिनिधि रूप है । आज विषय वस्तु की दृष्टि से ही मौलिक उपन्यास नहीं लिखे जा रहे हैं प्रत्युत प्रस्तुतिकरण शिल्प सम्बन्धी अनेक मौलिक प्रयोग भी दृष्टिगत होते हैं । उपन्यासकार प्रयत्न करता है कि उसके प्रस्ततीकरण में नवीनता, मौलिकता तथा विशिष्टता हो । वह उपन्यासों के प्रचलित शिल्प में कुछ परिवर्तन -परिवर्द्धन तथा संशोधन करता है । इसी कारण इसका निरन्तर विकास होता है । वस्तुत: उपन्यास शिल्प सरिता की धारा की भांति है, जो निरन्तर गतिशील रहता है ।

आत्मकथात्मक उपन्यास

२- कुछ प्रारम्भिक उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए थे ; यथा-किशोरीलाल गोस्वामी :१८६५-१६३२: का `याकूती तख्ती वा यमज सहोदरा` :१६०६: बृजनन्दनसहाय :१८७४- ? :का `सौन्दर्योपासक` :१६१२: आदि । इसमें `मैं` अपनी कथा सुनाता है । किन्तु शिल्प के अभाव के कारण `मैं` द्वारा प्रस्तुत उपन्यास प्रभाव-हीन है । पाठक के साथ `मैं` का तादात्म्य नहीं हो पाता है, कालान्तर में शिल्प की दृष्टि से सफल आत्मकथात्मक उपन्यास मिलते हैं । ये विभिन्न प्रकार के हैं । मोहनलाल महतो वियोगी : ? : का `उस पार `:१६४४: रांगेय राघव :१६२३-६२: का `हुजूर` :१६५२: जैनेन्द्रकुमार :१६०५ का `व्यतीत ` :१६५३: आदि इसी प्रकार के उपन्यास हैं । इसमें `मैं` विभिन्न कोणों से अपनी कथा प्रस्तुत करता है । इसमें मैं को अपने समस्त कार्यों का औचित्य सिद्ध करने का अवसर प्राप्त हो जाती है । किन्तु इसमें अन्य पात्रों का मूल्यांकन `मैं` की ही दृष्टि से होता है । अतएव अन्य पात्रों की उसके सम्बन्ध की धारणा अप्रकाशित रह जाती है । इस त्रुटि के परिहार के लिए उपन्यासकारों ने अन्य प्रयोग किए जिनमें दो या तीन पात्र अपनी कथा स्वत: प्रस्तुत

करते हैं। इलाचन्द्र जोशी की 'परदे की रानी' :१९४२: , कंचनलता सब्बरवाल का 'त्रिवेणी' :१९५०: आदि में उपन्यास का विकास विभिन्न पात्रों की कथा के माध्यम से हुआ है। इन उपन्यासों के पात्र परिचित मित्र अथवा सम्बन्धी हैं जो समय-समय पर मिला करते हैं। इसी कारण उपन्यास का सहज स्वाभाविक विकास हो पाता है। यथा- पर्दे की रानी :१९४२ : में प्रथम और तीसरे भाग में शीला की कहानी है तथा द्वितीय और चतुर्थ भाग में निरंजना की कहानी है। दोनों सहपाठी हैं। शीला का विवाह इन्द्रमोहन से होता है जो निरंजना के अभिभावक का पुत्र है। जिसके प्रति प्रारम्भ में वह आकृष्ट थी। इसी कारण उपन्यास के विकास में व्यवधान नहीं आता तथा उपन्यास का अन्त भी सहज-स्वाभाविकरूप में हुआ है। शीला की मृत्यु के मूल में है निरन्जना का उसके प्रति हिंसक भाव[1]। वह उसके शीला पति के प्रति आकृष्ट होती है क्योंकि वह उसे सच्चरित्र समझती है। इन्द्रमोहन के प्रति आकृष्ट होते हुए भी निरंजना उससे एक सीमा तक सम्बन्ध रखती है। वह स्पष्टत: कह देती है कि जब तक शीला जीवित है वह उससे अधिक आशा न रखे[2]। इन्द्रमोहन उसे संखिया खिलाता है। शीला की मृत्यु के उपरान्त निरंजना की कटूक्तियों से क्षुब्ध होकर चलती ट्रेन के नीचे कट कर वह अपनी जीवनलीला समाप्त करता है। निरंजना व्यथित होकर अपनी कथा गुरूजी को सुनाती है। वे उसके चरित्र का विश्लेषण करते हैं। फलत: परिस्थितिजन्य असामान्य व्यक्तित्व साधारण होता है। संभावना थी कहीं दोनों आत्मकथाएं स्वतंत्र न प्रतीत होने लगें। परन्तु परस्पर सम्बन्धित होने के कारण दोनों ही कथाएं गुम्फित होकर एक ही हो गई हैं इसलिए शिल्प की दृष्टि से कथाएं यह उपन्यास सफल है। आत्मकथात्मक उपन्यासों में का एक अन्य रूप भी दृष्टिगत होता है। इसका 'मैं' स्वयं की कहानी न सुनाकर अन्य की कहानी सर्व सुनाता है। इसका शिल्प जीवनी उपन्यास के निकट होता है।

१- इलाचन्द्र जोशी : 'पर्दे की रानी' :१९४२, इलाहाबाद, पृ० २०४

२- वही : पृ० १९७

यहां 'मैं' जीवनी उपन्यास के किसी पात्र के नाम की भांति होता है। जैनेन्द्र :१९०५: के 'त्यागपत्र' :१९३७: कल्याणी' इलाचन्द्र जोशी का 'जिप्सी' १९५२: हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्म कथा' :१९४६: आदि ऐसे ही उपन्यास हैं। 'त्यागपत्र' में 'मैं' अपनी कथा न सुनाकर बुआ की कथा प्रस्तुत करता है। बुआ का सम्बन्ध विच्छेद तथा असंगत आचरण का विश्लेषण मैं के आश्रय से ही जाता है[1]। यहां उपन्यासकार को वही सुविधा प्राप्त हो गयी है जो जीवनी उपन्यासकार को प्राप्त होती है। वह प्रसंगानुकूल विश्लेषण और विवेचन कर सकता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी :१९०७: की 'बाणभट्ट की आत्मकथा :१९४६: तथा इलाचंद्र जोशी की 'जिप्सी' १९५२ : का शिल्प इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इन्हें देख कर क्रमशः यह भ्रम होता है कि यह अनुवाद है[2] अथवा ~~यह-अनु-~~ किसी ऐसे व्यक्ति की कथा जिसने उपन्यासकार को अपनी कथा सुनाई[3]। नागार्जुन :१९१०: का बाबा बटेसरनाथ' १९५४: का शिल्प अन्य उपन्यासों से भिन्न है। इसके पूर्व 'हुजूर' :१९५०: में कुत्ता आत्मकथा सुनाता है। बाबा बटेसरनाथ में बटवृक्ष अपनी कथा सुनाता है। किन्तु इस में वह अपनी कथा तुरन्त नहीं प्रारम्भ करता। जैकिसुन यादव ~~का~~ बरगद के तले ~~पर~~ बैठता है प्रगाढ़ निद्रा में मग्न हो जाता है, मानव रूप में आता है[4] और उसे अतीत की कहानी सुनाता है[5]। वर्तमान का द्रष्टा तो वह है ही। इसलिए वर्तमान की कथा सुनाकर वह उपन्यास को नीरस नहीं बना देता। मृत्यु के पूर्व भी वह ग्रामवासियों को आशीर्वाद भी देता है[6]। समग्र उपन्यास में वट ~~वृक्ष~~ बाबा के कारण माधुर्य और सरसता की छटा छाई हुई है।

१- जैनेन्द्रकुमार :त्यागपत्र' १९५०, बम्बई, पं०सं० पृ० ५१, ५२, ५३, ५५आदि

२- हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' १९६३, बम्बई, पं०सं० पृ०५-१०, ३१३-६

३-इलाचंद्र जोशी :जिप्सी :१९५२:इलाहाबाद: पृ० १-६,७०४-६

४- नागार्जुन : बाबाबटेसरनाथ : १९५४, दिल्ली, पृ० सं० ५

५- वही, पृ० ६, ३०

६- वही, पृ० १४६

जीवनी शैली के उपन्यास

३- हिन्दी का प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' :१८८२: आत्मकथात्मक उपन्यास नहीं है, यह तृतीय पुरुष में लिखा हुआ है। इस शैली में अनेक उपन्यास लिखे गए। बालकृष्णभट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' :१८८०: देवकीनन्दन खत्री :१८६१-१९१३: के 'चन्द्रकान्ता' :१८८८:, 'चन्द्रकान्तासंतति' :१८६६: आदि प्रारंभिक उपन्यास अधिकतर इसी शैली में लिखे गए। कालान्तर में अनेक उपन्यास तृतीय पुरुष में लिखे गए जिनमें शिल्प की दृष्टि से अज्ञेय :१९११: की 'शेखर:एक जीवनी'[1] १९४०:, अमृतलाल नागर का 'महाकाल' फणीश्वरनाथ रेणु :१९२१: का मैला आंचल' :१९५४: प्रभृति उल्लेखनीय हैं। आत्मकथात्मक तथा जीवनी शैली के उपन्यास विविध शैलियों में लिखे गए हैं। विविध प्रकार के उपन्यासों का विविध प्रकार का शिल्प है। 'शेखर:एकजीवनी' १९४०: का शिल्प पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न है। यह जीवनी शैली में रचित है। इसमें अन्य साहित्य के उपकरणों से स्वयं को समृद्ध किया है[2]। इसमें निबन्ध, कहानी, भाषण और गद्यकाव्य का शिल्प प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'मैला आंचल' :१९५४: का शिल्प है। अन्य उपन्यासों का विकास एकनिश्चित क्रम से होता है। इसका विकास निश्चित क्रम से न होकर खंड चित्र के माध्यम से हुआ है। इसमें क्रमगत विकास नहीं दृष्टिगत होता। एक दृश्य में विभिन्न चित्र उपन्यासकार प्रस्तुत करता है[3]। कतिपय रेखाओं के माध्यम से यदि कोई कलाकार ऐसा चित्र प्रस्तुत करे जो विभिन्न कोणों से विभिन्न दृश्यों का दिग्दर्शन कराए, कुछ कुछ ऐसा ही 'मैला आंचल' का शिल्प है। उदाहरणार्थ- सोलह में-बालदेव पुर्जी बांटते दिखायी पड़ते हैं।[4] 'लक्ष्मी दासिन' रामदास से कपड़े के लिए कहलाती है। चलो! चलो! पुरैनियां चलो। मिनिस्टर साहब आ रहे हैं। औरत-मर्द, बाल-बच्चा, झंडा-पत्तखा, और इनकिलास जिंदाबाद करते हुए पुरैनियां चलो! -----

---

१- वही पृ० ३५-४०-४२-४५-४८-४९-५२

२- अज्ञेय :'शेखर:एक जीवनी' द्वि०भा० १९४७, बनारस, द्वि०सं०, पृ० ८६-८, १५२-४ १६७-८आदि

३- फणीश्वरनाथ रेणु :'मैला आंचल' :१९६१, दिल्ली, रा०कु०ए०, द्वि०सं० पृ० २०-२४, २६-३३, ६२-३आदि

४- वही, पृ० १०७-

रेलगाड़ी का टिकस ? ---कैसा बेकूफ है !

+ +

जुलूस में गाने के लिए बालदेवजी को दो गीत याद हैं। एक नोमक कानून के समय का सीखा हुआ - 'आओ वीरो मरद बनो अब जेहल तुम्हें भरना होगा।'

+ +

तंत्रिमाटोली के मंगल ततमा को कंपकपी लग जाती है - जेहल ! अरे बाप --- वे लोग जेहल जा रहे हैं ! पन्द्रह साल पहले उसको चोरी के केस में सजा हुई थी जेल के जमादार की पेटी की मार वह आज भी नहीं भूला है।

+ +

सहर पुरैनियां --- यही है सहर पुरैनियां - पक्की सड़क, हवागाड़ी, घोड़ागाड़ी और पक्का मकान। एक रत्ती चिनगी छिनगल जाए, सहर पुरैनियां लूटल जाये।'[1] इस शिल्प की नवीनता के कारण इसमें कथा का विकास नहीं हुआ है। मनोवैज्ञानिक ऐतिहासिक, सामाजिक उपन्यासों में कथा तथा चरित्र का विकास होता है इसलिए उनमें एक ही पृष्ठभूमि में विभिन्न दृश्य अंकित नहीं हो सकते[2]। जिन उपन्यासों का श्रीगणेश अन्तिम दृश्य से होता है वहां भी एक क्रम दृष्टिगत होता है[3]। शिल्प की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' :१९५१: अभिनव प्रयोग है। यह जीवनी शैली में रचित है परन्तु इसके विकास में पत्रात्मक तथा मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का योगदान उल्लेखनीय है। शिल्पगत विविधता के कारण यह उपन्यास आकर्षक तथा सुन्दर प्रतीत होता है। आज तृतीय पुरुष में प्रस्तुत उपन्यासों में भांति भांति के मौलिक प्रयोग हो रहे हैं।

१- फणीश्वरनाथ रेणु : 'मैला आंचल' : १९६१, दिल्ली, पाकबु०ए० द्वि०सं० पृ०१०८-९

२- दे०ऊषादेवी मित्रा : 'पिया' : १९४६, बनारस, प्र०सं० पृ०३-७, ३६-४१, ५६-६०आदि
   इलाचन्द्रजोशी : 'संन्यासी' : १९५६, इलाहाबाद, ब्र०सं०, पृ०१३८-१६, ८०-७, १७५-८२आदि
   वृन्दावनलाल वर्मा : 'कचनार' १९६२, झांसी, स०सं०, पृ० १-६, ५१-५, १४२-१५०आदि

३-अज्ञेय : 'शेखर:एकजीवनी' प०भा० १९६१, बनारस, स०सं० पृ० ५०-५१, ५३-५६, ७६-७८आ
   जैनेन्द्र : व्यतीत : १९६२ : दिल्ली : तृ०सं० पृ० ५-१८, ३५-४६, ६७-७४आदि

४-पूर्व दीप्ति तथा चेतना प्रवाह पद्धति के उपन्यास बहुत अधिक नहीं लिखे जाते हैं। इसी कारण इनके शिल्प का विकास भी नहीं हुआ है। कुछ उपन्यास स्मृति-तरंग-रूप-में प्रस्तुत हुए हैं यथा- अज्ञेय :१९११ का "शेखर-एक जीवनी" :१९४०:, इलाचंद्र जोशी :१९०२: का "संन्यासी" :१९४१: अमृतलाल नागर :१९१६: का "महाकाल" :१९४७:, जैनेन्द्रकुमार :१९०५: कृत "सुखदा" :१९५२: "व्यतीत" :१९५३ आदि। शेखर :एक जीवनी" का प्रारम्भ फांसी से होता है। मृत्यु के अन्तराल में जीवन का प्रत्यावलोकन हुआ है।[1] शिल्प की दृष्टि से "महाकाल" अभिनव प्रयोग है। इसमें दुर्भिक्ष काल में पांचू मास्टर स्कूल में एकाकी विचरण कर रहा है। भांति-भांति के स्मृति-चित्र उसके मस्तिष्क में नाच रहे हैं।[2] इसका शिल्प नाटकीय है। भावात्मकता के कारण सुखदा :१९५२: का शिल्प अधिक प्रभावशाली है। अतीत की स्मृतियों में ही सुखदा का जटिल चरित्र उद्घाटित हुआ है।[3] ग्लानिजन्य प्रत्यावलोकन के माध्यम से ही उसके चरित्र का वास्तविक मूल्यांकन होता है जो अन्य प्रकार के उपन्यास-शिल्प में सम्भव न था। इसका कारण है कि वह भावनाओं की प्रतिमूर्ति है। वह कब क्या करेगी इसका कुछ पता नहीं रहता। उसका पति और वह स्वयं अपने मनोभाव समझने में असमर्थ है।[4] ऐसी स्थिति में इसी पद्धति के द्वारा पूर्ण चरित्र की प्रतीति व हो सकती है।

५-"शेखर-एक जीवनी" में चेतना प्रवाह पद्धति भी कुछ स्थलों पर दृष्टिगत होती है। चेतना का अबाध प्रवाह का चित्रण कम ही उपन्यासों में उपलब्ध होता है। सशक्त स्वगतोक्तियां उपन्यासों में बहुत कम दिखाई पड़ती हैं। कुछ उपन्यासों में ये

१- अज्ञेय :"शेखर-एक जीवनी" :प्र०भा० १९६१, बनारस :स०सं० पृ०१५-१६, २२-२४ आदि

२- अमृतलाल नागर :"महाकाल" १९४७ : इलाहाबाद, पृ० ५-१६, २१, २३ आदि

३- जैनेन्द्रकुमार :"सुखदा" :१९५२, दिल्ली, प्र०सं०, पृ० १६, १७, ६४ आदि

४- वही, पृ० ३१, ३२, ३६ -४० आदि

दृष्टिगत भी होती हैं परन्तु समग्र रूप से यह उपन्यास प्रभावशाली नहीं होता यथा- 'परन्तु' :प्रभाकर माचवे: यह केवल शिल्पगत विफल प्रयोग है । 'नदी के द्वीप' :१९५१: का शिल्प पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न है । इसमें चलचित्र का भी प्रभाव है । चलचित्र के 'स्लो अप' और 'क्लोज़ अप' के उदाहरण भी इसमें मिलते हैं । उपन्यासकार ने कुछ मानसिक दृश्यों का प्रभावपूर्ण चित्र अंकित किया है जो चेतना प्रवाह पद्धति में प्रस्तुत हुआ है । इसी कारण यह दृश्य आकर्षक प्रतीत होता है । जन्तर मन्तर में रेखा भुवन से एकान्त की कामना करती है । रात्रि के वातावरण में रेखा हेमेन्द्र के विषय में भुवन को बता रही है । कनाट प्लेस में रेखा और भुवन काफी पीते हैं । काफी के प्याले के साथ वह अतीत में मग्न हो जाती है।[1] इस शैली का सुन्दर विकास इसमें एक अन्य स्थल पर भी मिलता है । पल्लावित जाते समय ज्यों ज्यों बस आगे जाती है त्यों त्यों भुवन का मन झटकों के साथ पीछे जाता है । धीरे धीरे रेखा की कापी के पढ़े हुए वाक्य उसकी स्मृति में उभरने लगते हैं ।[2] यह स्मृति का व्यापार उतना ही स्पष्ट और सजीव है जितना कि चलचित्र का दृश्य । इसका उद्घाटन भी सहज स्वाभाविक रूप में हुआ है । जिस प्रकार चलचित्र में एक के अनन्तर एक दृश्य स्वतः उपस्थित होता है उसी प्रकार प्रत्यावलोकन पद्धति में चेतना के अबाध प्रवाह जन्य दृश्य भी सजीव रूप में प्रस्तुत होते हैं ।

समयविपर्यय या क्रमोच्छेदक शैली: Shift of Time

६- प्रारम्भिक उपन्यासकार प्रस्तुतीकरण शिल्प से अनभिज्ञ थे । वे उपन्यास एक क्रम से प्रस्तुत करते थे । किशोरीलाल गोस्वामी :१८६५-१९३२: ने अपने उपन्यासों को नवीन ढंग से प्रस्तुत करना चाहा था । उन्होंने दृश्यों की योजना क्रमबद्ध रूप में नहीं की ।[3] वे उपन्यास क्रमोच्छेदक शैली में नहीं प्रस्तुत हुए हैं । वस्तुतः इसमें विशृंखलित दृश्य दृष्टिगत होते हैं जिनका उपन्यासकार क्रम निर्धारित करता है।[3]

१- अज्ञेय:नदी के द्वीप : १९५१, दिल्ली, पृ० १४५-७

२- वही, पृ०१८८-१९१

३- कि०लाल गोस्वामी: 'तारा वा क्षात्र कुल कमलिनी' प०भा० १९२४, मथुरा, पृ०८७
वही, चपला वा नव्य समाज चित्र : १९१५,मथुरा, द्वि०सं०पृ०२३-२४, २५-२८, ३५-४२इत्यादि
वही, मल्लिका देवी वा बङ्गसरोजिनी :प०भा० १९१६,मथुरा, पृ०४६, ५१, ५२, ६६आदि।

कुतूहलोत्पादक शैली में बहुत कम सफल उपन्यास लिखे गए हैं। 'पतिता की साधना' :१९३६: का शिल्प समय-विपर्यय का सुन्दर उदाहरण है। माया का भिक्षुक सूरदास के प्रति स्नेह देख कर कुतूहल मिश्रित आश्चर्य होता है।[1] वह उसे खाना स्वयं अपने हाथ से खिलाती है, नौकरानी से पंखा छीन कर उस पर स्वयं झलती है।[2] मध्य में :माया: नन्दा और हरि:सूरदास: की कहानी प्रमुख हो जाती है। किन्तु अन्त में प्रारम्भ का रहस्य ज्ञात होता है कि सूरदास वस्तुत: हरि है और माया नन्दा है।[3] किन्तु यदि मध्य में अनपेक्षित दृश्य न होते तो इस उपन्यास का प्रभाव द्विगुणित हो जाता।

पत्रात्मक तथा दैनन्दिनी उपन्यास

७- शिल्प की दृष्टि से सफल पत्रात्मक उपन्यास नहीं प्राप्त होते हैं। बेचन शर्मा उग्र :१९०१: का 'चन्द हसीनों के खुतूत' :१ : पत्रात्मक शिल्प का उपन्यास है। इसमें विभिन्न पात्र परस्पर पत्र लिखते हैं। यथा- नर्गिस अपनी मामी मिसेज अली हुसैन तथा मुरारी को मुरारी अपने मित्र श्री गोविन्दहरि शर्मा एवं अपनी मां को, आगरी :मिसेज अली हुसैन: अपने पति अली हुसैन साहब को, श्री गोविन्द हरि शर्मा मुरारी एवं प्रताप के सम्पादक को। इनसे कथानक की संकीर्णता कुछ कम हुई है। इन पत्रों के द्वारा चरित्रों की झांकी प्राप्त होती है[4] तथा देश काल की प्रतीति भी होती है।[5] किन्तु पूर्ण उपन्यास इसी शैली में अधिक नहीं लिखे गए यद्यपि उपन्यासों के कुछ स्थलों पर पत्रों का प्रयोग हुआ है जिसके माध्यम से कथानक एवं चरित्र-चित्रण की प्रगति होती है।[6] अज्ञेय :१९११: के 'नदी के द्वीप' :१९५१: में इस शैली का कुशलता से प्रयोग हुआ है जिसके द्वारा विगत घटनाओं की सूचना एवं पात्र की चारित्रिक विशेषताएं ज्ञात होती हैं।[7] इसके अतिरिक्त, इस उपन्यास में

१- भगवतीप्रसाद वाजपेयी: 'पतिता की साधना' १९४९ :इलाहाबाद तृ०सं०पृ०१३
२- वही : पृ. ६३
३- वही, २३७, २३८
४- बेचनचन्द्र शर्मा उग्र: 'चन्द हसीनों के खुतूत' कलकत्ता, पृ०१४-१५, ७३, ८०, ८२आदि
५- वही, पृ० ६०, ६१, ६२
६- दे० पृ० १५८, १८७, १९८
७- अज्ञेय: नदी के द्वीप' १९५१, दिल्ली, पृ० ११६, १२७, १२१, २५८, ३५६, आदि

शैली की विविधता दर्शनीय है। पात्र परस्पर मिलते हैं, कुछ साथ कहीं या घूमते हैं उसके अनन्तर पत्र लिखते हैं। फलतः पत्रात्मक शैली का प्राधान्य होते हुए भी यह उपन्यास नीरस तथा गतिहीन नहीं प्रतीत होता। सामाजिक तथा ऐतिहासिक, तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पत्रों का प्रयोग कम हुआ है परन्तु 'नदी के द्वीप' १९५१ में यह शैली तृतीय पुरुष समन्वित होने के कारण सशक्त तथा सप्राण हो गयी है।

८- दैनन्दिनी के रूप में शिल्प की दृष्टि से सफल उपन्यास आलोच्यकाल तक दृष्टिगत नहीं होता है।

उद्धरणात्मक

१- प्रारम्भिक उपन्यासों में प्राच्य तथा पाश्चात्य कवियों, विचारकों, दार्शनिकों के उद्धरणों का बहुलता से प्रयोग हुआ है।[1] किन्तु इससे उपन्यास के शिल्प के सौन्दर्य पर आघात हुआ है। इनके आधिक्य से शैली में अस्वाभाविकता आ गयी है। किन्तु कालान्तर के उपन्यासों में सफल उद्धरणात्मक शैली व्यवहृत हुई है। प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) के उपन्यासों में भी कहीं कहीं उद्धरणात्मक शैली दृष्टिगत होती है।[2] इससे या तो वातावरण की उद्भावना होती है अथवा चरित्र की प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। वातावरण निर्माण की दृष्टि से 'विराटा की पद्मिनी' १९३६ की उद्धरणात्मक शैली दर्शनीय है। लोकगीत का प्रयोग सप्रयोजन हुआ है। कुमुद का बलिदान उसके मधुर गान सा अन्तिम क्षण तक मन में गूंजती रहती है।[3] मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इसी शैली के आश्रय से पात्र का चरित्र प्रकाशित हो सका है। यही

१- श्रीनिवासदास: 'परीक्षा गुरु' १९५८, पृ० ४९-५०, ५३, १२८, १९६-७ आदि
   बालकृष्णभट्ट: 'सौ अजान और एक सुजान' १९१५, प्रयाग, द्वि०सं० पृ० ४, ५, ६, १०
   कि०ला०गोस्वामी: 'सुखशर्वरी' १९१९: मथुरा, द्वि०सं० पृ० २२, २८, ३६ आदि
   वही: 'हीराबाई या बेहयाई का बोरके' १९६४, मथुरा, द्वि०सं० पृ० १, ४ आदि
२- प्रेमचन्द: 'रंगभूमि': इलाहाबाद, २४, ३४
   'कर्मभूमि': १९६२ इलाहाबाद, च०सं० पृ० ८, ८६, ८७, ६५
३- वृन्दावनलाल वर्मा: 'विराटा की पद्मिनी': १९५७: लखनऊ, स०सं० पृ०सं० ४५८, ४७०

कारण है कि जहां प्रारम्भिक उपन्यासों की उद्धरणात्मक शैली हाथ की पश्च अंगुली सी प्रतीत होती है वहां इन उपन्यासों के प्रस्तुती करण - शिल्प में इसका योगदान उल्लेखनीय है।

१०- उपन्यासों के प्रस्तुतीकरण में शैलियों का महत्वपूर्ण योगदान है। विविध शैलियों के आश्रय से उपन्यास का विकास होता है।

शैलियां

वर्णनात्मक शैली

११-प्रारम्भिक उपन्यासों की प्रस्तुतीकरण शिल्प जटिलता विहीन है। वर्णनात्मक शैली में शिल्पगत सौन्दर्य का अभाव है क्योंकि यह चित्रात्मकता विहीन नीरस, विवरणमात्र है।[१] लम्बे लम्बे भाषणवत् संवाद तथा स्वगत चिन्तन में भी यह दृष्टिगत होती है किन्तु भाषा शक्ति की अपरिपक्वता तथा अप्रौढ़ता के कारण यह शक्ति हीन तथा प्रवाहहीन है।[२] स्थान स्थान पर उपन्यासकार पाठकों को संबोधित कर रहा अथवा उसकी शैली में कथावाचक जैसी उपदेशात्मकता है।[३] प्रारंभिक उपन्यासों `प्रतिज्ञा' १६०४ तथा `वरदान' १६०६: की वर्णनात्मक शैली अन्य उपन्यासों की अपेक्षा

१- श्रीनिवासदास :`परीक्षा गुरु': १६५८: दिल्ली :पृ०१४६-७, १५१-४, १७४आदि

बा०कृ०. भट्ट: `सौ अजान एक सुजान': १६१५: प्रयाग: द्वि०सं० पृ० १ -३, ६-७, ३६-४० आदि

कि०लाल०गोस्वामी: याकूती तख्ती का यमज: सहोदरा: मथुरा पृ०२- ३, ४

वही :`चपला वा नव्य समाज चित्र': द्वि०भा० १६१५, मथुरा, द्वि०सं०पृ०२३-४, २५-८, ३५-४२आदि

२-`हा, मौत का समय किसी तरह नहीं मालूम हो सकता। सूर्य के उदय अस्त का समय सब जानते हैं। चन्द्रमा के घटने का समय सब जानते हैं। ऋतुओं के बदलने का, फूलों के खिलने का, फलों के पकने का समय सब जानते हैं परन्तु मौत का समय किसी को नहीं मालूम होता। मौत हरकत मनुष्य के सिर पर सवार रहती है। उसके अधिकार का कोई समय नियत नहीं है।'--श्रीनिवासदास: परीक्षागुरु: १६५८दिल्ली, पृ०२८०

३- बालकृष्ण भट्ट: सौ अजान और एक सुजान': १६१५, प्रयाग, द्वि०सं० पृ० ६३, १०३आदि

कि०ला०गोस्वामी: `त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी': १६०७, मथुरा, पृ०३०, ३१, ३६आदि

चन्द्रविद्यावाचस्पति: `शाह आलम की आँखें: १६४७, बम्बई, पृ०सं०पृ० १४६, १८४

अधिक समृद्ध है।[१] इसमें स्पष्टता है। उपन्यासकार जो कहना चाहता है उसे स्पष्ट रूप में व्यक्त करता है।[२]

१२- यह शैली आज भी उपन्यासों में दृष्टिगत होती है। उपन्यासों में भावों के प्रकटीकरण का यह उपयुक्त माध्यम है। यह प्रसंगानुकूल, भावानुकूल तथा चित्रात्मक है।[३] यह प्रारम्भिक उपन्यासों के भांति केवल नीरस, विवरणात्मक शैली मात्र नहीं रह गयी है। इसमें चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता आ गयी है यथा- अन्नों को पका देने वाला पश्चिम पवन तरीहे से चल रहा था। जब गेहूं के कुछ कुछ पीली बाल उसके फोंके में लोट-पोट हो रहे थे। वह फागुन की हवा मन में नयी उमंग बढ़ाने वाली थी, सुख-स्पर्श थी। कुतूहल से भरी ग्राम-वधूएं, एक दूसरे की आलोचना में हंसी करती हुई, अपने रंग बिरंगे वस्त्रों में ठीक-ठीक शस्य-श्यामल खेतों की तरह तरंगायित और चंचल हो रही थीं। वह जंगली पवन वस्त्रों से उलझता था। युवतियां उसे समेटती हुई अनेकप्रकार से अपने अंगों को बटोर लेती थीं।[४] वर्णनात्मक शैली का निरन्तर विकास हो रहा है। मनोविज्ञान समन्वित होने के कारण

१- प्रेमचन्द :प्रतिज्ञा १९६२,इलाहाबाद, पृ० ६,७,४८,६५ - ५,९६७ आदि
,, :वरदान : १९४५, बनारस, द्वि०सं०, पृ० ३,५,६,८-९, ६९-७०आदि

२- 'बृजरानी की विदाई के पश्चात् सुवामा का घर ऐसा सूना हो गया, मानों पिंजड़े से सुआ उड़ गया। वह इस घर का दीपक और इस शरीर का प्राण थी। घर वही है पर चारों ओर उदासी छाई हुई है। रहने वाले वही हैं,पर ऋतु पतझड़ की है।'

-प्रेमचंद :वरदान १९४५, बनारस द्वि०सं० पृ० ६९

३- जयशंकर प्रसाद : कंकाल : १९५२,इलाहाबाद, स०सं०,पृ० ८-१०, २६५, ८२, ८३आदि।

जयशंकर प्रसाद: तितली : १९५१,इलाहाबाद,छ०सं० पृ० ६३, १०९-११०, ११५, १५५,१६आदि
जैनेन्द्रकुमार :परख : १९६०,बम्बई : न०सं०, पृ० १०६, १०८, ११४, आदि।
प्रेमचंद:गोदान:१९४९:बनारस:द०सं०,पृ० १५८-९, १९३-४, २०९-२११, २६५आदि
वृन्दावनलाल वर्मा: विराटा की पद्मिनी :१९५७:लखनऊ :स०सं०पृ० २४९, ३०८,-९ ३४९, ३५७-८आ
४-जयशंकरप्रसाद:तितली :१९५१,इलाहाबाद :छ०सं० पृ० १५५

मनोवैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक शैली के रूप में यह विकसित हो रही है ।[1] जयन्त के चिन्तन में उसकी चन्द्री के प्रति उसके मनोभाव का स्पष्टत: विश्लेषण हुआ है ।[2] इसके द्वारा गंभीर भावव्यंजना तथा जटिल चित्र का उद्घाटन होता है । शेखर भय-भावना से किस प्रकार मुक्त हुआ, यह विश्लेषणात्मक शैली में ही स्पष्ट होता है ।[3]

१- भगवतीचरण वर्मा : चित्रलेखा : १६५७ :इलाहाबाद:ष०सं० पृ० १११, १६७आदि
अज्ञेय:शेखर-एक जीवनी : प०भा०, १६६१,बनारस, स०सं० पृ० ५१,५२,६१आदि
इलाचन्द्र जोशी:संन्यासी :१६५६,इलाहाबाद,ष०सं० पृ० ८७, १८२,-१८३, २४७आदि
वही :जहाज का पंछी :१६५५,बम्बई,पृ० ४७, १५७, १७७ आदि
जैनेन्द्रकुमार:विवर्त : १६५७,दिल्ली द्वि०सं० पृ० ५३,५५,२१८-६

२-`तब चन्द्री मेरे लिए मानिनी थी, जो अतिशय रमणीया थी । इसी से मेरे लिए वैसी तिरस्कारणीया बन उठी; माननीया थी । इससे अपमानीया हो गयी । धनशालिनी थी, इसी से दण्डनीया बन गयी । ऊँची थी इसी से नीची बनाना शायद मेरे लिए आवश्यक हो गया ।`
- जैनेन्द्र कुमार: व्यतीत` :१६६२, दिल्ली,तृ०सं० पृ० ८६

३-` वह डर अपने आप ही मिटा । एकबार वैसे ही बाघ उसके घर ला कर रखा गया । और बहुत मुश्किल से अपने भाइयों की देखा-देखी वह उसके पास भी गया । उसकी पीठ पर भी बैठा और उसे निर्जीव पाकर साहस करके उसके मुंह में हाथ डाल कर भी देखा ।तब डर एकाएक उड़ गया, तब उसने चाकू लेकर उस खाल को फाड़ डाला । उसके भीतर उसके घास-फूस को बिखेर कर हंसने लगा -----
इसका एक और गहरा असर भी हुआ । शिशु ने जाना` डर डरने से होता है । संसार की सब भयानक वस्तुएं हैं केवल एक घास-फूस से भरा एक निर्जीव चाम जिससे डरना मूर्खता है ।`
--अज्ञेय:शेखर :एक जीवनी : प०भा०, १६६१,बाराणसी,स०सं०
पृ० ५१-५२

व्यंग्यात्मक

१३- प्रारम्भिक उपन्यासों का शिल्प सरल था । उसमें शैली वैविध्य नहीं दृष्टिगत होता । उपन्यासों का शिल्प इतना समर्थ नहीं है कि उसमें सफल व्यंग्य की उद्भावना हो सके । जहां कहीं भी (व्यंग्यात्मक शैली) दृष्टिगत होती है वह वर्णनात्मक प्रवृत्ति के कारण प्रभावहीन हो जाती है[1]। कालान्तर के उपन्यासों का प्रस्तुतिकरण शिल्प इतना समृद्ध हो गया कि इसमें व्यंग्य की क्षमता आ गयी[2]। कुछ उपन्यासों में व्यंग्य का ही प्राधान्य है जिनमें शिल्प की दृष्टि से 'हुजूर' १९५२ उल्लेखनीय है[3]। स्वाभाविक प्रसंगों के आश्रय से व्यंग्य की सृष्टि हुई है । सुषमा कुत्ते की फूटी आंख नहीं देख पाती। इस विषय पर उसका और लेखक का संवाद व्यंग्यात्मक है[4]। उपन्यासों में यह शैली दो रूपों में दृष्टिगत होती है-वर्णनात्मक तथा कथोपकथन के रूप में । भारतीय परिवारों में प्रायः लड़के का विवाह लोग तब तक नहीं करना चाहते तब तक कि लड़की का विवाह न हो जाय । इस क्रम

१- 'स्वास लेने और छोड़ने में जीव-हिंसा न हो इसलिए रातों दिन मुंह पर ढाठा बांधे रहता था पर चित्त में कहीं दया का लेश भी न था । पानी बार बार छान कर पीता था पर दूसरे की थाती समूची हीसमूची निगल जाता था । डकार तक न आती थी । दिन में बार बार मन्दिर में जाता था पर मन से यही विसूरा करता था कि किसी भांति कहीं से बिना मेहनत बेगरहुद हले का हला रुपया हाथ लग जाय--आदि

-बालकृष्ण भट्ट:'सौ अजान एक सुजान' : १९१५,प्रयाग,नि०सं० पृ०७०

२-जयशंकर प्रसाद:कंकाल : १९५२ :इलाहाबाद,स०सं० पृ०६९

प्रेमचन्द: गबन : १९३०:इला० प्र०सं० पृ० ४,७७-७८

वही :गोदान: १९४९,बनारस, द०सं० पृ० १२४,४८४आदि

कंचनलता सब्बरवाल:त्रिवेणी: १९५०:देहरादून:पृ० ३६,९९आदि

३- रांगेयराघव:हुजूर : १९५२,आगरा,प्र०सं० पृ० १५,१६,१९-२०,६३ आदि

४- वही, पृ० १०५

तथा इस पद्धति पर उपन्यासकार ने सफल व्यंग्य की सृष्टि की है।[1] किन्तु कथोपकथन के रूप में जो व्यंग्य उपलब्ध होता है उसमें जो पैनापन[2] है, उसका इसमें अभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

चित्रात्मक तथा नाटकीय

१४- प्रारंभिक उपन्यासों की शैली में चित्रात्मकता तथा नाटकीयता का अभाव है। उपन्यासकार किसी भी दृश्य का सजीव चित्रांकन नहीं कर सका है। 'सेवासदन' (१९१८)में सर्वप्रथम चित्रात्मक तथा नाटकीय शैली दृष्टिगत होती है। कालान्तर में इस शैली का कलात्मक विकास हुआ।[3] इसमें चित्र प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता आ गई। 'गोदान' (१९३६) में जो चित्र प्रस्तुत हुआ है वह जीवन्त तथा नाटकीय है।

१-'शशि के विवाह के साथ-साथ शशि की पत्नी के भाई का विवाह भी रुका हुआ था। विमला के पति की बहिन के हाथ भी साथ-साथ पीले होने को थे। इतने दिनों से सब शशि की ओर आँखें लगाए हुए थे कि वह विवाह का श्रीगणेश करे तो सब के कारज सम्पन्न हों।'

--नरोत्तमप्रसाद नागर: 'दिन के तारे': (?) प्रयाग, पृ० १४२

२- दे० पृ० २८१-२८२-२८३, २८४;

३- जैनेन्द्रकुमार: परख : १९६०, बम्बई, न०सं० पृ० ४३,६१,१२३,१२४,१२७ आदि

भगवतीचरण वर्मा: चित्रलेखा : १९५५, इलाहाबाद, बा०सं० पृ० ४१-३, ६४-५,१९०,१९१,१९२ आदि।

जयशंकर प्रसाद: 'तितली': १९५१, इला० छ०सं० पृ० १६७,१६८,२३२ आदि

प्रेमचन्द : गोदान: १९४९, बनारस, ह०सं०, पृ० १४२-३, २०५,२०६ ,३०६,३८०,३८३-४,४०२-४०३आदि

होरी नहीं चाहता कि उसके भाई के यहां तलाशी हो । वह ऋण लेकर दारोगा को रिश्वत देने जा रहा है । धनिया उससे रुपए छीन लेती है । प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) ने धनिया के तेजस्वी रूप, व्यावहारिक बुद्धि और होरी की निरीहता का जो चित्र अंकित किया है[1] वह अविस्मरणीय तथा अनुपम है। पात्रों की क्रिया, उसका अन्य पात्रों पर प्रभाव के द्वारा ही दृश्य की सफल अवतारणा हो सकी है। शैली में यांत्रिकता नहीं है । इसमें स्वत: प्रवर्तित प्रवाह और वेग है । फलत: यह नाटकीय है । शेखर एक जीवनी (१९४०) की शशि अपने पारिवारिक जीवन से सन्तुष्ट न थी । उपन्यासकार ने इसका चित्रात्मक तथा नाटकीय चित्र प्रस्तुत किया है[2] । शेखर के आगमन पर शशि का प्रसन्न न होना इसका द्योतक है कि उसका पारिवारिक जीवन में कंटिग्रस्त है । इस शैली के कारण ही उपन्यासों में सजीवता आयी है ।

१- सहसा धनिया झपटकर आगे आयी और अंगोछी एक झटके के साथ उसके हाथ से छीन ली । गांठ पक्की न थी । झटका पाते ही खुल गयी और सारे रुपए जमीन पर बिखर गए । नागिन की तरह फुंकार कर बोली-` ये रुपए कहां किस-लिए जा रहे हैं ? बता ।भला चाहता है तो सब रुपए लौटा दे नहीं कहे देती हूं । घर के परानी रात-दिन मरें और दाने-दाने को तरसें, लत्ता भी पहनने को मयस्सर न हो और अंजुली भर रुपए लेकर चला है इज्जत बचाने । ऐसी बड़ी है तेरी इज्जत। जिसके घर में चूहे लोटें-वह भी इज्जतवाला है । दारोगा तलाशी ही तो लेगा । ले-ले जहां चाहे तलासी । एक तो सौ रुपए की गाय गयी, उस पर यह पलेथन । वाह री तेरी इज्जत ।

होरी खून का घूंट पीकर रह गया । सारा समूह जैसे थर्रा उठा । नेताओं के सिर झुक गए और दारोगा का मुंह जरा-सा निकल आया । अपने जीवन में उसे ऐसा लताड़ न मिली थी ।`

-प्रेमचन्द,`गोदान, १९४६, द०सं० पृ० १५२

२-`देहरी पर पैर रखते ही उसने पूछा-` अरे, तुम कैसे आ गए ? और ठिठक गई । एक मुस्कुराहट भी नहीं-- चेहरे पर किसी तरह का कोई भाव नहीं झलका। पर क्या उन बड़ी बड़ी खुली आंखों का स्निग्ध विस्मय और प्रश्न की सहज आत्मीयता झूठी थी ? पर -किन्तु शेखर को निराश होने का समय नहीं मिला। रामेश्वर ने कहा- मैं ने तो शशि से कहा भी था कि कम से कम एक शशि की शु...

सांकेतिक शैली :

१५- प्रारम्भिक उपन्यासों की शैली में अनावश्यक विस्तार का बाहुल्य होता है । उपन्यासकार को पाठक की कल्पना पर रंचमात्र भी विश्वास न था । इसके अतिरिक्त, इस शैली में स्वाभाविकता की अपेक्षा कृत्रिमता है । `माधवी माधव वा मदन मोहिनी`(१९०९) में काम का वर्णन व्याख्यात्मक रूप में हुआ है[1] जो उपन्यासकार के अपरिपक्व शैली का प्रमाण है ।फलत: यह नीरस तथा कृत्रिम प्रतीत होता है । प्रेमचन्द (१८८०-१९३६),जयशंकरप्रसाद(१८८६-१९३७)विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक (१८९१-१९४५) प्रतापनारायण श्रीवास्तव (१९०४) यशपाल(१९०३)नागार्जुन (१९१०) वृन्दावनलाल वर्मा(१८८९)प्रभृति के उपन्यासों में व्याख्यात्मक नीरस वर्णनात्मक शैली नहीं दृष्टिगत होती । इसमें भावों की सफल अभिव्यक्ति हुई है । उपन्यासकार प्रत्येक स्थिति का स्वत: उल्लेख करता है । अतएव शैली में व्यंजनात्मक तथा सांकेतिक शक्ति नहीं है । जैनेन्द्र (१९०२) तथा अज्ञेय(१९११) की शैली सांकेतिक एवं व्यंजनात्मक है

१-` भगवन्, कुसुमायुध । नमस्ते ।!! रे मूढ मन्मथ ।त्रैलोक्य विजय कर लेने पर भी तेरी विजय-वितृष्णा अभी नहीं मिटी ? सच है, विजयाभिलाषी को कभी भी सन्तोष न करना चाहिए, किन्तु तुझे मुझ गरीब ब्राह्मण पर तो तनिक दया करनी थी । पर तेरे पास दया कहां ? तभी तो तूने मेरा प्राण लिया और ब्रह्म हत्या से भी तू जरा न डरा । सच है जब कि तूने शिव,ब्रह्मा और हरि को भी विजय कर लिया तो तो फिर मेरी क्या गिनती है ? किन्तु मुझ दीन को यदि तू उपेक्षा ही कर देता तो तेरे अखंड प्रताप और पूरी अमल-दखल में क्या खलल आ जाता ।।
महाराज भर्तृहरि ने बहुत ही सही कहा है कि :

शम्भू स्व यम्भुहरयो हरिणेक्षणानाम्
येन क्रियन्त सततं गृहकर्म दासा?
वाचामगोचर चरित्र विचित्रिताय
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ।।`

--कि०ला०गोस्वामी:`मदन मोहन वा माधवी माधव`:द्वि०आ०१९१९,मथुरा,द्वि०सं०पृ०८८
२-प्रेमचन्द: कर्मभूमि,१९६२,इला०सं०पृ०५-६,५३,१३१-२आदि
जयशंकरप्रसाद:तितली,१९५१,इला०,चतु०,पृ० २५-६,८५-६ ,२२८-९आदि
:कंकाल:१९५२,इला०स०सं०पृ०९-१०,१२,६६-७आदि।

वे ब्यौरे न देकर ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जो सांकेतिक होती है । अज्ञेय कृत 'नदी के द्वीप' (१६५१) में रेखा और हेमेन्द्र का विवाह किन परिस्थितियों में हुआ और सम्बन्ध विच्छेद क्यों हुआ, इसका वर्णन नहीं हुआ है । चेतना प्रवाह पद्धति में संकेत प्राप्त होते हैं कि हेमेन्द्र ने उससे विवाह किया था, क्योंकि हेमेन्द्र ने युवा बन्धु के साथ वफा की कसमें खायी थीं और रेखा की आकृति उसके मित्र से मिलती थी[1] । यद्यपि वह उससे प्रेम नहीं करता था[2] । सांकेतिक शैली में यह व्यक्त हुआ है । यदि प्रेमचन्द (१८८०-१६३६) इस समस्या पर प्रकाश डालना चाहते तो वे बृहत् दृश्य तथा लम्बे लम्बे वर्णन प्रस्तुत करते । 'कर्मभूमि' (१६३२) में अमर सकीना के प्रति आकृष्ट क्यों हुआ ? इसे स्पष्ट करने के लिए उपन्यासकार ने अनेक[3] दृश्यों में सुखदा और सकीना का वैषम्य[4] प्रदर्शित किया है जो वर्णनात्मक तथा अभिनयात्मक शैली में प्रस्तुत हुआ है । विस्तार के कारण इसमें सांकेतिक चित्रण की अपेक्षा विस्तृत चित्र प्राप्त होता है । सांकेतिक शैली के कारण विस्तार का परिहार हो जाता है और उपन्यास में कलात्मक सौन्दर्य आ जाता है ।

१- 'उसने जल्दी जल्दी कहा,' अच्छा लीजिए, सुनिए, सुन लीजिए, हेमेन्द्र। हेमेन्द्र का नाम आप जानते हैं न ? मेरा पति - अपने एक युवा बन्धु को लेकर यहां आया था -यहां तारे को देख कर, दोनो ने वफा की कसमें खायी थीं- हेमेन्द्र ने मुझे बताया था.-----'

' क्योंकि मेरा चेहरा उस मित्र से मिलता था ।' रेखा, का स्वर एक अजीब पतली अवश चीख-सा हो गया था ।

--अज्ञेय: नदी के द्वीप १६५१, दिल्ली, पृ० १४४

२-उसने भी जाकर हेमेन्द्र के कन्धे पकड़ लिए थे और पूछा था-'हेमेन्द्र, तुम्हें बताना होगा, इसका अर्थ क्या है ?' और न बताऊं तो ?' वह विद्रूप की रेखा और स्पष्ट हो आयी । फिर सहसा उसने बहुत रूखे पड़कर, रेखा को धक्का देकर पलंग पर बिठाते हुए कहा था-' लेकिन नहीं, बता ही दूं -रोज़ रोज की किचकिच से पिंड छूटे - पाप कटे । तो सुनो, मैं तुमसे प्रेम नहीं करता, न करता था । न करूंगा।

-वही , पृ० १४६-७

३- प्रेमचन्द:कर्मभूमि, १६६२, इला०च०सं०पृ० १६-७,६१आदि।

४- वही, पृ० १७-८,२०-१,४८-६,१२७,१२८,१२६आदि।

प्रतीकात्मक

१६- प्रारम्भिक उपन्यासकारों की शैली सरल तथा अप्रौढ़ है । अतएव वह प्रतीकात्मक नहीं है । कालान्तर में यह शैली प्रतीकों के आश्रय से सशक्त तथा शक्ति सम्पन्न हो गयी । प्रतीकात्मक होने के कारण भावाभिव्यंजन में कलात्मकता आई । जिन भावों को प्रकट करने में व्यक्ति को कठिनाई होती है वह ~~प्रतीकात्मक~~ शैली के आश्रय से सहज स्वाभाविक ढंग से प्रकट हो जाते हैं।[1] मैनसुखल (घरौंदे: १९४६) रानी का ध्यान आकृष्ट न कर सका । रांगेयराघव (१९२३-६२) ने इसका सशक्त प्रतीकात्मक चित्रण किया है जिसमें शिल्पगत सौन्दर्य है ।[2]

भावात्मक शैली

१७- प्रारम्भिक[3] उपन्यासों में भावात्मक शैली की अपेक्षा आलंकारिक शैली दृष्टिगत होती है । जो स्वाभाविक न होकर कृत्रिम है ।[4] सौन्दर्योपासक ~~के प्रबन्ध~~ में भावानुभूति के चित्रण का प्रयास हुआ है परन्तु वर्णनात्मकता के प्राधान्य के कारण शैली में भावात्मकता का अभाव है ।[5] कालान्तर में जब भाषा शैली में स्थिरता आई ,

----

१- दे० प्रतीकात्मक अभिव्यंजना २७८-२८०.

२- `जो बादल गरजता है ,लोग कहते हैं बरसता नहीं, कभी कभी बरस भी जाता है। तब संसार आकाश की ओर देखता है, वह रानी है ।

अंधड़ उठता है, और जब पानी की जगह धूल बरसती है तब संसार क्रोध करता है। वह मैनसुखल है ।

पानी बहता है, बहता जाता है; तप्त बालू में सूख जाता है पहाड़ों में फाग देता है वह हरी है ।

एक कछुआ है, वह जीवन है-समाज है ।

एक खरगोश है, वह यौवन है, व्यक्ति है । एक दौड़ है, वह स्पर्द्धा है,मंजिल का अन्त नहीं है।

मैनसुखल को मैदान मिल गया उसने धर्म केनाम पर जिहाद बोलदी ।

-रांगेयराघव: `घरौंदे: १९४६,बनारस, पृ० ७६

३-श्रीनिवासदास: परीक्षागुरु: १९५८ दिल्ली:पृ०सं०९६-१००,१६७आदि

४-ब्रजनन्दनसहाय: सौन्दर्योपासक: १९३५,पटना, पृ० ३२,३३-४आदि

५-`वे दोनों साक्षात् कृतांत के भाई हैं अथवा पिराडों भूत क्रूरता और निठुराई के अंशावतार हैं ।`-बालकृष्ण भट्ट: `नूतनब्रह्मचारी` १९११,इला०द्वि०सं० पृ० २

(क्रमश:)

इसके रूप में सुधार हुआ तब उपन्यासों में सफल भावात्मक शैली दृष्टिगत होने लगी। इसमें भावनाओं के उद्रेक की क्षमता है, इसमें कवित्व का प्रवाह है, जिसमें स्वत: प्रवर्तित गति है[1]। भावात्मक शैली से उपन्यास के शिल्प में सौन्दर्य का समावेश हुआ है। अनेक मर्मस्पर्शी स्थल इसीकी देन हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी (१९०७) के `बाणभट्ट की आत्मकथा` (१९४६) में इसी शैली के कारण चमत्कार की सृष्टि हो गयी है। उपन्यासकार पाठक को चमत्कृत कर देता है। किन्तु इसका शिल्प इस दृष्टि से श्लाघ्य है कि यह भावात्मक होते हुए भी मनोविज्ञान से अनुप्राणित है[2]।

शेष- ५४- `क्या तुमने एक बार निशा काल में जब मैं बेसुध पड़ा था, मुझे ऐसा नहीं कहा था कि मालती की आत्मा बहुत पवित्र है, तुम उसे मेरी ओर झुकाने की चेष्टा करो। अन्त:सलिला फल्गु नदी के जल के सदृश्य उसका प्रेम अन्तर्निहित है उसको प्रकट करने का यत्न करो। यदि तुम मेरी बात मानोगे तो वह तुम्हारी हो सकती है।

-बृजनन्दनसहाय: `सौन्दर्योपासक : १९३५, पटना, पृ० ३०

१- चण्डीप्रसाद हृदयेश: `मंगलप्रभात` पृ० ४५२, ७१५ आदि
प्रेमचन्द : गोदान` १९४९, बनारस, द०सं० पृ० १५८
जयशंकर प्रसाद: `तितली`: १९५१, इलाहाबाद, ह०सं०, पृ० ६३, ६९, १७४आदि
उषादेवी मित्रा: `वचन का मोल`: १९४६, बनारस, पं०सं० पृ० ८८, ८९, ११०-१आदि
,, `जीवन की मुस्कान` १९३९, बनारस, पृ० १९, २१-२, १९२ आदि
,, सोहिनी`: १९४८ : पृ० ५, १६०, १६२-३ आदि।
भगवतीप्रसाद बाजपेयी: `चलते चलते १९५१: दिल्ली: पृ० ४७, ६४ आदि

२- हजारीप्रसाद द्विवेदी: `बाणभट्ट की आत्म कथा` १९६३, बम्बई, पं०सं०पृ० २५०, २६६-७, २७५, २९४आदि

भाषा शैली :

१८- भाषा के माध्यम से ही उपन्यासों को मूर्त रूप प्राप्त होता है । प्रारंभिक उपन्यासों की भाषा शैली आज के उपन्यासों से भिन्न है । इसमें भाषागत सौन्दर्य का अभाव है । इसमें सहज स्वाभाविक गति और प्रवाह का अभाव है[१]। यह अभिधामूलक भाषा है । यह शक्ति सम्पन्न नहीं है । बालकों की अटपटी भाषा में ही भावों की अभिव्यक्ति होती है । इसी प्रकार इसमें अटपटापन है ।`हा हा की ध्वनि` इसकी सहज स्वाभाविक गति को कुंठित कर देती है[२]। प्रारम्भिक उपन्यासों में अयोध्यासिंह उपाध्याय (१८६५-१९४६) (`देवबाला या ठेठ हिन्दी का ठाट`(१८९९)[३] प्रेमचन्द कृत प्रतिज्ञा`[४] (१९०४)`वरदान`[५] (१९०६) अमृतलाल चक्रवर्ती कृत`सती सुखदेई (१९०८) की भाषा

गोपालराम गहमरी:
१- ~~देवकीनन्दन-खत्री~~ :`नए बाबू`:१८९४; पृ० ३४,३६

,, `देवरानी जेठानी`:१९०१, पृ०४६ आदि

,,`तीन पतोहू` : १९०४, पृ० ५,३१ आदि

देवकीनन्दन खत्री: चन्द्रकान्ता दू०हि०, १९३२,बनारस, १९वां, सं०पृ० १०,७६आदि

अवधनारायण :विमाता: १९१५,दरमंगा,पृ० १९-२१,५४,७०,१४२आदि

२-`अहा हा । हा भगवान। तेरी लीला अद्भुत है । अज्ञान पक्षी में भी केवल माता ही को नहीं वरन् पिता को भी अपने बच्चे के लिए इतना स्नेह है कि कहां से दाना लाकर अपने बच्चे को खिलाता है। परन्तु मनुष्य, जिसको तुमने ज्ञान रूपी रत्न दिया है, कठोर होकर अपने बच्चे की कुछ भी रक्षा न करे । कैसा कठिन रहस्य है । तेरी लीला अद्भुत है और तुम्हारी गति न्यारी है ।परन्तु सब मनुष्य ऐसे कठोर न होंगे ।`

-अवधनारायण :विमाता: १९१५,दरमंगा पृ० ५४

३- अयोध्यासिंह उपाध्याय -`देव बाला या ठेठ हिन्दी का ठाठ` १९२२,बांकीपुर

प०सं० पृ० २१,२२,४१,४२आदि।

४- प्रेमचन्द :`प्रतिज्ञा` : इलाहाबाद : पृ० ३६ ४८, ६९-७ ,७१ आदि ।

अन्य उपन्यासों की अपेक्षा अच्छी है । इनकी अभिव्यक्ति सक्षम तथा स्वाभाविक प्रतीत होती है । किन्तु आज के उपन्यासों की इनकी तुलना में इनकी क्षमता तथा सामर्थ्य सीमित है ।

९८- कालान्तर में उपन्यासों की भाषा में स्वत: प्रवर्तित गति और प्रवाह दृष्टिगत होने लगा । प्रसंगानुकूल तथा भावानुकूल होने के कारण भाषा शैली विविध रूपमयी हो गयी है[1]।कुछ उपन्यासों में विशेषत: राधिकारमण सिंह (१९६०) के उपन्यासों में भाषा-सौंदर्य उल्लेखनीय है । `रामरहीम` (१९३७)में बेला श्रीधर से विवाह करने को प्रस्तुत होती है किन्तु उसका भाग्य ही छल करता है । श्रीधर का विवाह सुधा से होता है । सुधा को आशीर्वाद देती हुई बेला के हृदय का आर्त्तनाद ही उसके प्रति कल्याण भावना के रूप में प्रकट हुआ है जो भाषा-सौन्दर्य का सुन्दर उदाहरण है

शेष- ५- प्रेमचन्द: `वरदान`: १९४५, बनारस, द्वि०सं०, पृ० ३,३२-३,६२ आदि

६- अमृतलाल चक्रवर्ती :`सती सुखदेई` १९०८, इलाहाबाद,पृ० १२,१८-९,५१आदि

१- चण्डीप्रसाद हृदयेश:`मनोरमा`:इला० पृ० २-३ ,२६,२८३ आदि

,, मंगलप्रभात : पृ० ४५२,७२३-४आदि

उषादेवी मित्रा:`वचन का मोल` १९५६, बनारस,पं०सं० १३,६७-९,११०-१आदि

,,`पिया`: १९४६, बनारस: पृ० ६७-८, ११८-२१,१५७-८

प्रेमचन्द : गोदान` : १९४९: बनारस : द०सं० पृ० ४७, १५८-९,४२०-१आदि

इलाचन्द्र जोशी:`पर्दे की रानी` १९४२, इलाहाबाद,प्र०सं० पृ३१,५५, १२९-१३०आदि

नरोत्तमप्रसाद नागर: दिन के तारे` प्रयाग पृ० ८१,८२-५,२५२,२९८-९ आदि

जैनेन्द्रकुमार: सुखदा` १९५२, दिल्ली , प्र०सं० पृ० ४९,६४आदि

२-`अगर यह जन्म में मुझे वांछित सुख मिला है, तो उसे भी मैं खुशी से आज तुम्हें सौंप देती हूं । तुम्हारे सुहाग की सदा दूनी रहे, मैं एक जन्म और सूनी रही। तुम्हारे ललाट की सिन्दूर रेखा मेरे ललाट की कुला रेखा की तरह अमिट हो ।

भाषा शैली की दृष्टि से प्रेमचन्द की भाषा उल्लेखनीय है । सरल सुबोध होते हुए भी यह प्रभावशाली है । इसकी मुख्य विशेषता है सजीवता तथा सप्राणता । मुहावरों लोकोक्तियों और सूक्तियों के सहज स्वाभाविक प्रयोग के द्वारा प्रेमचन्द ने अपनी भाषा - शक्ति की अभिवृद्धि की । फलत: उनके तथा अन्य उपन्यासों की भाषा शैली मुहावरों लोकोक्तियों और सूक्तियों के सहज स्वाभाविक प्रयोग के कारण जीवन्त[1] तथा प्रभावशाली हो रही है । सूक्तियों में जीवन की अनुभूति ही व्यक्त हुई है ।[2] वस्तुत: सफल उपन्यासों की भाषा शैली व्यावहारिक, सुन्दर तथा स्वाभाविक होती है । इसी कारण इनमें लोक भाषा का भी प्रयोग हुआ है ।[3] शिल्प की दृष्टि से `देहाती दुनिया` (१६२६)

१- प्रेमचन्द : सेवासदन, बनारस, पृ० ४५, ५५, ७५ आदि
विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक: `माँ` १६३४: लखनऊ, द्वि०सं०, पृ० १२, १४, ७२, १०४, १४५आदि
प्र०ना०श्रीवास्तव: `विदा`. १६५७, लखनऊ, न०सं०, पृ० ४२०, ४२३, ४२६आदि
,, `विकास`. १६४४, लखनऊ, तृ०सं० पृ० २२६
प्रेमचन्द: गोदान: १६४६, बनारस, द०सं०, पृ० १३७, १५६, २१६ आदि
अज्ञेय: शेखर-एक जीवनी: प०भा०, १६६१, बनारस, स०सं०, पृ० ५१, ५२, आदि
वृन्दावनलाल वर्मा: `झांसी की रानी : लक्ष्मीबाई:` १६६१, झांसी, न०सं०
पृ० १३६, १७२ आदि।
,, `मृगनयनी` : १६६२, झांसी: ग्या०सं०, पृ०२८४, २८५, ४८४आदि।

२- `बाबा खड़ी पर लौट गए । फकीरचन्द्र में बोले- `शेखर तुम जाओ, मेरा मन ठीक नहीं है । मैंने चाहा था, तुम मुझे हंसता ही देखो-संसार मुझे हंसता ही देखे, पर ऐसे भी दर्द होते हैं जो अभिमान से भी बड़े हों। ~~दर्द-मुझे-मिला~~ यही आज मैं लिख रहा हूं, अच्छा हुआ कि इतना तीव्र दर्द मुझे मिला । जाओ ।`
--अज्ञेय: शेखर: एक जीवनी : द्वि०भा०, १६४७, बनारस, द्वि०सं०पृ०६७

३- शिवपूजन सहाय: `देहाती दुनिया`: १६५१, पटना, छ०सं०, पृ० ३, २७-२६आदि
वृन्दावनलाल वर्मा: गढ़कुंडार, १६२६, लखनऊ, प्र०सं० , पृ. ४-१०, १२६, १२२
फणीश्वरनाथ रेणु: `मैला आंचल`, १६६१, दिल्ली, पा०बु०ए०द्वि०सं०, पृ०२२-३
३५-६, ३७-८, ५८आदि।

उल्लेखनीय है। इसमें सर्वप्रथम ग्रामीण लोकभाषा की लोकोक्तियों का
प्रसंगवश प्रयोग हुआ है। बाबू रामटहल की पत्नी निर्धन पिता की पुत्री थी किन्तु बड़े
घर में पहुँच जाने के कारण वह ठाठ से रहने लगी है। लौंगिया के आलोचनात्मक कथन
में ग्रामीण मनोवृत्ति तथा उसकी :रामटहल की पत्नी की: परिवर्तित मनोवृत्ति पर प्रकाश
पड़ता है[1]। भाषा की स्वाभाविकता के लिए यह आवश्यक है कि वह पात्र के मानसिक
स्तर के अनुरूप हो। किशोरीलाल गोस्वामी ने पात्रानुरूप भाषा प्रस्तुत करनी चाही थी।
किन्तु पात्रों की भाषा बाणभट्ट की तत्सम प्रधान तथा दीर्घ वाक्यावलि समास प्रधान
शैली के निकट है[2] तथा मुसलमान पात्रों की भाषा में अरबी फारसी शब्दों का इतना बाहुल्य
है कि वह क्लिष्ट होने के कारण बोधगम्य नहीं है[3]। इसमें प्रवाह और गति का भी सर्वथा
अभाव है। किन्तु कालान्तर के उपन्यासों की भाषा पात्रानुरूप है। भाषा पात्र के
मानसिक स्तर के अनुरूप हो। इसी कारण उपन्यासों में अंग्रेजी शब्दों का ही नहीं, वाक्यों
का भी प्रयोग होता है[4] तथा उपन्यासों की भाषा- शैली तत्सम प्रधान न होकर तद्भव प्रधान
है। इसलिए इनमें 'हिट', 'सिनेमा', 'गुडा', 'सिलवली', 'बाम्ब' आदि शब्दों का प्रयोग होता है[5]।

1- 'भिखमंगे की बेटी ठहरी, बड़े घराने में पड़ते ही उतान हो गयी। मगर जब छप्पनिसाल नाच नचाने लगेगा तब सब गुमान और दिमाक तेल हुँडे पर चला जायेगा। जानती हो, उसके दूध पीने के लिए नई गाय खरीदी गयी है --भला मकई के खेतों के कौए उड़ाने वाली के लिए इतना इन्तजाम! छछून्दर के सिर में चमेली का तेल ----'
-शिवपूजन सहाय: 'देहाती दुनिया' १९५१, पटना, पृ० २७

2- 'आहा! वह अलौकिक सौन्दर्य प्रभा, वह हृदयहारी प्रलंब-केश-पाश, वह प्रणयकोप कषायित नयन-कौतुक, वह अदृष्टपूर्व आत-भाव विभाव समूह- वह मानस सृष्टि की सदैव पूर्ण चन्द्रप्रभा, वह विशाल भाल, वह भृकुटि कुटिल-शरजाल, वह तीक्ष्ण तथा आश्रवणावलम्बित नेत्र युगल, वह सर्वदा प्रसन्नवदनारविन्द, वह मधुरकोकिलस्वर वह पीनोन्नतकुचकलश, वह मुष्टिपरिमित लंक, वह मत्तमतंगगमन, वह हंसपदविन्यास, क्लीब मात्र ही से किसे नहीं निरीह कर देते हैं।' -कि०ला०गो० 'प्रणयिनी परिणय' १८९०, मथुरा पृ० १०

3- 'मेरी बेताबी-ओ-बेदिलिया काहिली का सबब क्या तुमसे कुछ छिपा है? बकौलशख्से कि इश्क और मुश्क की बू छिपाने से हर्गिज़ नहीं छिपती। बल्दा! यह तो फरमाओ कि उस मआमले में वालिद की रज़ामन्दी हासिल हो गई?'
-- वही, 'तारा व क्षात्र कुल कमलिनी' :प०भा० १९२४, मथुरा, पृ० २

4- जैनेन्द्रकुमार: 'सुनीता', १९६२, दिल्ली, पा०बु०ए० द्वि०सं०, पृ० २२१
इलाचन्द्र जोशी: 'पर्दे की रानी' १९४२, प्र०सं०, पृ० १८६, २५४
अज्ञेय: 'नदी के द्वीप' १९५१, दिल्ली, पृ० २८४, ३०८, ३०९आदि
जैनेन्द्र: 'विवर्त' १९५७, दिल्ली, द्वि०सं०, पृ० ८१, १४४ आदि
यशपाल: 'पार्टी कामरेड': १९४७, लखनऊ, द्वि०सं० पृ० १०३, ११०, १११, ११२आदि
'मनुष्य के रूप': १९४९: १९५२, लखनऊ, द्वि०सं०, पृ० २२०, २२४, ३१९आदि
अज्ञेय: 'शेखर: एक जीवनी', प०भा०, १९६१, बनारस, स०सं०, पृ० ३७, ४१ आदि।

२०- अलंकारों के आश्रय से भावानुभूति सबलतर होती है। प्रारंभिक उपन्यासों में पौराणिक कल्पना तथा भाषा शक्ति की अक्षमता के कारण आलंकारिक वर्णन नीरस प्रतीत होता है।[1] इससे भावाभिव्यक्ति सबल नहीं होती है। कालान्तर के उपन्यासों में सफल आलंकारिक चित्रण प्राप्त होता है जिसके आश्रय से चित्र मूर्तिमान होता है।[2] इस शैली के कारण गंभीर चिन्तन जन्य विचार रोचक प्रतीत होता है। `निरुपमा` (१९३६) में उपन्यासकार का कवि-हृदय ही व्यक्त हो रहा है :---

`उसी ऊर्ध्व दृष्टि से देखने लगी, जो जल सरोवर के किनारों से बंधा हुआ सरोवर का जल कहलाता है, न बहता हुआ, वह मुक्त मेघ से मुक्त होकर आया है, और तप वाष्पाकार होता हुआ सरोवर के किनारों को छोड़ कर ऊपर उठा मुक्त होता है। सोचा, उसी जल की कुछ बूंदें नदी में डाल दी जांय, तो वे नदी के जल की व्याख्या प्राप्त करती हैं, फिर समुद्र से मिल कर समुद्र के जल की, इस तरह जल की व्याख्या विशेष मले दी जाय है वह जल सूक्ष्म रूप में एक प्रकार, स्थूल रूप में

१- श्रीनिवासदास: `परीक्षागुरु`: १९५८, दिल्ली, पृ०९६, १००, १६७आदि
बालकृष्णभट्ट: `सौ अजान और एक सुजान`: १९१५, प्रयाग, द्वि०सं०, पृ०२१, ३२-३ ५२, ७१-२आदि
लज्जाराम शर्मा : `आदर्श दम्पति` : १९१४, बम्बई, पृ० १
,, `हिन्दू` प०ना० ,, पृ० ४, ५, २०आदि

किशोरीलाल गोस्वामी: `कुसुम शर्वरी`: १९१६, मथुरा, पृ०सं० ५, ५५-६ आदि

२- `[illegible] है।`
-बालकृष्णभट्ट : `नूतन ब्रह्मचारी`: १९११, इला०द्वि०सं०, पृ०२

३- प्रेमचन्द: `गोदान`: १९४९, बनारस, द०सं०, पृ० ४०९, ४२०-१ आदि
यशपाल: मनुष्य के रूप : १९५२, लखनऊ, दू०सं०पृ० १९-८, ११७आदि

कूप, सर, नदी, समुद्र का बनता हुआ, भिन्न रूप, गुण और [illegible] प्राप्त करने वाला।[1] निरु कुमार से प्रेम करती है जो वर्ग-भावना पर निर्मम प्रहार करने के लिए जूतों पर पालिश करता है। समाज उसके कार्य का विरोध करता है। मानसिक द्वन्द्व के क्षण में दीपक को देख कर जिस निष्कर्ष पर पहुंचती है यहां सूक्ष्म भावात्मक रूप में चित्र प्रस्तुत हुआ है।

21- `बाणभट्ट की आत्मकथा` :१९४६: में आलंकारिक वर्णन प्राचीन पद्धति में प्रस्तुत हुआ है।[2] किन्तु इसके द्वारा तत्कालीन युग की प्रतीति होती है, इसलिए यह काव्यात्मक शैली में समीचीन प्रतीत होती है।[3] इसे पढ़ कर अनुभव होता है कि इनका लेखक बाणभट्ट ही है। इस वर्णन में कृत्रिमता की अनुभूति नहीं होती अन्यथा अन्यत्र इस प्रकार का प्रयोग होता तो उपन्यास के शिल्प - सौन्दर्य का ह्रास हो जाता।

पृ० १६०, २८३

शेषा- वृन्दावनलाल वर्मा: `झांसी की रानी लक्ष्मीबाई` :१९६१,झांसी, न०सं०, ~~वृन्दावनलाल वर्मा~~ : `गप्तघन` :१९४९,जी०बु०डि०सं० पृ० ३२ भगवतीप्रसाद वाजपेयी:

वृन्दावनलाल वर्मा:मृगनयनी :१९६२,झांसी,ग्या०सं०पृ० ६९,७७,७९आदि

इलाचंद्रजोशी: `सुबह के भूले` :१९५२,इला० पृ०१७०

रांगेयराघव : अंधेरे के जुगनू : १९५३,इला०,पृ०९०, २३३

इलाचंद्र जोशी: `जहाज के पंछी` :१९५५:बम्बई, प्र०सं०, ३५५

१- निराला : `निरुपमा` :१९३६ : इलाहाबाद, पृ० ९५

२- हजारीप्रसाद द्विवेदी: `बाणभट्ट की आत्मकथा:` १९६३,बम्बई,पं०सं०पृ०४५, ४७ ११०-१, १६७आदि

३- `निपुणिका के शीर्ण चेहरे पर आनन्द की ज्योति दमक उठी। उसका श्वेत मुख-मण्डल कर्पूर-गुटिका की भांति जल उठा। उसकी धंसी आंखों से इस प्रकार दिव्य ज्योति प्रकट होने लगी,जैसे विवरद्वार की नागमणि हो। वह क्षण-भर तक निस्पन्द भाव से बैठी रही, मानो नाना दिशाओं से तरंगित भाव-लहरियों से टकराकर वह गतिहीन हो गयी हो।फिर उसने मेरी ओर आंख उठाई।मोतियां-भरे शुक्ति-पटल की भांति,तुहिन-बिन्दु से पूर्ण पद्म-पलाश की भांति,शिशिर-सिक्त पारिजात-पुष्प की भांति,अर्द्धस्फुट सिन्दुवार कुसुम की भांति वे अश्रु भरी आंखें चित्त को करुणा रस से प्लावित कर रही थीं, सहानुभूति की वर्षा से सींच रही थी,अनुकम्पा की धारा से धौत कर रही थी

-वही, पृ० १६७

२२- आज के उपन्यासों की भाषा सरल सुबोध है। यह भावानुसार तथा प्रसंगानुसार है। फलत: इसमें इन्द्रधनुषी की आभा दृष्टिगत होती है। उपन्यासों में कहीं पर मैदान पर बहने वाली मन्दाकिनी की गति, दृष्टिगत होती है तो कुछ स्थलों पर इसमें प्रभंजन सा वेग है। इसमें प्रपात सा जीवन का उल्लास सहज स्वाभाविक रूप में व्यक्त होता है।

माषाशैली की अक्षमता

२३- प्रारंभिक उपन्यासों की भाषा शैली भाव के प्रकाशन में सर्वथा असमर्थ है। इसका एक कारण उपन्यासकारों का व्याकरण सम्बन्धी अज्ञान भी है[1]। इसके अतिरिक्त, उपन्यासकारों का शब्द चयन भी त्रुटिपूर्ण तथा अनुपयुक्त है। वह जो कहना चाहता है उसे भाषागत दुर्बलता के कारण व्यक्त नहीं कर पाता है[2]। संकट के लिए 'संकीर्णता' पालन के लिए 'पालना' उतरने के स्थान पर 'अवतीर्ण' आदि शब्दों के प्रयोग के कारण वाक्य अशुद्ध ही नहीं हुए हैं प्रत्युत इनका अर्थ भी स्पष्ट नहीं हो पाता यथा सूर्य प्रकाशदाता है, इस भाव को ... के लिए उपन्यासकार लिखता है - इसकी चिन्ता मत करो। सूर्य अंधेरा नहीं दे सकता[3]। इस प्रकार की अभिव्यक्ति भाषाशैली की अप्रौढ़ता तथा अपरिपक्वता की द्योतक है।

२४- शिल्प की दृष्टि से सफल उपन्यासों में उपन्यासकारों की असावधानी के कारण कुछ स्थलों पर व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध भाषा दृष्टिगत होती है।[4]

१- श्रीनिवासदास : 'परीक्षागुरु' १६५८, दिल्ली, पृ० १३-४, १५-६, १३६, २५६ आदि
२- किशोरीलाल गोस्वामी : 'सुखशर्वरी', १६१६, मथुरा, पृ० ७, ५५ आदि
३- इन्द्र विद्यावाचस्पति : शाहआलम की आँखें : १६४७, प्र०सं० १०४
वि०न०श० कौशिक: 'भिखारिणी', १६५२, आगरा, तृ०सं० पृ० १११, १७५
प्रतापनारायण श्रीवास्तव: 'विदा', १६५७, लखनऊ, न०सं० पृ० २१६, २५६, २६६ आदि
४- यशपाल : 'पार्टी कामरेड' : १६४७, लखनऊ, द्वि०सं० पृ० ३१, ६३, ११८, १२० आदि
,, 'मनुष्य के रूप' : १६४६, लखनऊ, द्वि०सं०पृ०सं० २६८, २६६, २७७ आदि
नागार्जुन : 'बाबा बटेसरनाथ' : १६५४, दिल्ली, पृ० ६३, ७८, ८६, आदि
मन्मथ नाथ गुप्त, 'बहता पानी' : १६५५, इलाहाबाद, पृ० २०, १७८ आदि
वृन्दावनलाल वर्मा : कचनार : १६६२, मंभाती, स०सं० पृ० २४३

कुछ स्थलों की भाषा प्रसंगानुकूल तथा भावानुकूल नहीं प्रतीत होती। उदाहरणार्थ - 'मृगनयनी' के तांडव नृत्य के समय की भाषा अभिधार्थ के प्राधान्य के कारण नीरस प्रतीत होती है। जिस महत् उद्देश्य के लिए इस प्रसंग की अवतारणा हुई है उसकी पूर्ति व्यंजनात्मक भाषा से ही सकती थी। किन्तु उसके अभाव में अभीष्ट प्रभाव की सृष्टि नहीं हो सकी है।[1]

निष्कर्ष

२५- परम्परा के अभाव में प्रारंभिक उपन्यासों के प्रस्तुतीकरण में शिल्पगत सौंदर्य का अभाव था। उपन्यासकारों ने तृतीय पुरुष तथा उत्तम पुरुष में उपन्यास प्रस्तुत किए किन्तु उपन्यासकारों के सीमित तथा संकीर्ण दृष्टिकोण एवं उपदेशात्मक स्वर के कारण प्रस्तुतीकरण शिल्प कृत्रिम गतिहीन तथा अस्वाभाविक प्रतीत होता है। प्रेमचन्द :१८८०-१९३६: ने सर्वप्रथम सफल उपन्यासों की सृष्टि कर उपन्यास शिल्प का स्वरूप निर्धारित किया। शिल्प की अपेक्षा उनका ध्यान विषयवस्तु पर केन्द्रित था। फलतः उनके उपन्यासों में विविध शिल्पगत प्रयोग नहीं दृष्टिगत होते हैं। यही कारण है कि उन्होंने एक भी आत्मकथात्मक उपन्यास नहीं लिखा। उनकी शैली उत्तरोत्तर यथार्थवादी चित्रात्मक तथा नाटकीय होती गयी किन्तु उपन्यास के प्रस्तुतीकरण -शिल्प में मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ।

२६- जैनेन्द्रकुमार : १९०५: ने सर्वप्रथम प्रस्तुतीकरण शिल्प में परिवर्तन किया। उपन्यास के शिल्प के तत्वों को उन्होंने पूर्णतः ग्रहण नहीं किया। वे चरित्र के प्रस्तुतीकरण के लिए विशेष सचेष्ट हैं। फलतः उनके उपन्यासों में चरित्र ही प्रमुख है। पात्र-चित्रण का शिल्प भी पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न हो गया। पूर्ववर्ती उपन्यासों में पात्र-चित्रण बाह्य घटनाओं पर आधारित होता था। उनके उपन्यासों में पात्र-चित्रण घटनाओं पर आधारित नहीं है। मानव की गुह्यतम इच्छाएं नवीन-शिल्प में ही व्यक्त हो सकती थीं जो मनोविज्ञान पर आधारित हो। फलतः अनंत

१- वृन्दावनलाल वर्मा : 'मृगनयनी' १९६२, झांसी, म्या०सं० पृ० ४१६-७

कार्य; स्वप्न, नवीन प्रतीक आदि उनके उपन्यास -शिल्प के अंग बन गये। घटनाओं के स्थान पर भावना चेष्टाएं आवेश आदि प्रतिष्ठित हो गए। उपन्यास के प्रचलित रूप में भी उन्होंने इच्छानुसार नवीन प्रयोग किए। आत्मकथात्मक उपन्यास का मैं स्वयं का कथावाचक न होकर अन्य व्यक्ति की कथा प्रस्तुत करने लगा। फलत: उसके प्रस्तुतीकरण में सहज स्वाभाविकता तथा विश्वसनीयता दृष्टिगत होने लगी। अज्ञेय :१९११: और फणीश्वरनाथ रेणु :१९२१: तो शिल्पी हैं। इन्होंने उपन्यास-शिल्प को अभिनव प्रयोग के द्वारा समृद्ध किया है। प्रत्यावलोकन शैली में रचित 'शेखर:एक जीवनी' १९४०: का प्रस्तुतीकरण शिल्प अभिनव है। तृतीय पुरुष का यह उपन्यास आत्मकथात्मक उपन्यास जैसा आनन्द प्रदान करने वाला है। यह ही एक ऐसा उपन्यास है जिसमें पात्र के अन्तर्मन से छन कर समाज और राष्ट्र की विराट चित्रपटी पर प्रकाश पड़ा है। मनोभावनाओं का जितना सुन्दर और सफल चित्रांकन इसमें प्राप्त होता है उतना अन्य उपन्यास में नहीं। इसका चरित्र-विकास क्रम पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न है। रेखाएं चित्र नहीं बनातीं प्रत्युत चित्र के माध्यम से विकास - रेखाएं स्पष्ट होती हैं। 'नदी के द्वीप' :१९५१: का प्रस्तुतीकरण शिल्प नवीन है। पात्रों के आधिक्य के बावजूद उपन्यास रोचक तथा आकर्षक है। चेतनाप्रवाह पद्धति में चरित्र की सूक्ष्म रेखाओं के द्वारापात्र का व्यक्तित्व स्पष्टत: उभरता है।

२७- फणीश्वरनाथ रेणु :१९२१: ने उपन्यास के क्षेत्र में नवीन सफल प्रयोग किया है। उनके पूर्व ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध अनेक उपन्यास लिखे गए। किन्तु इनमें कथा तथा चरित्रक्रम से प्रस्तुत होते थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम व्यक्ति की कथा प्रस्तुत न करके अंचल विशेष की कथा खंड-चित्र के रूप में प्रस्तुत की। इसके पूर्व शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' ने 'बहती गंगा' :१९५२: में १७ स्वतंत्र कहानियों के माध्यम से स्थान-विशेष की प्रकृतिगत विशेषताओं का सजीव चित्र अंकित किया है। उपन्यासकार ने बनारसी जनता की परिवर्तित मनोवृत्ति, भावनाओं, विचारों अन्धविश्वासों एवं परंपराओं का सुन्दर चित्र[1] कहानी के रूप में प्रस्तुत किया है। इन कहानियों में शिल्पगत विविधता है। इसमें राजाओं से लेकर निम्न वर्ग तक का चित्रण हुआ है। इसमें काशीवासियों की वीरता, साहस, देशभक्ति आदि भावनाओं का सफल चित्रांकन हुआ है। किन्तु इसमें दृढ़ सम्बन्ध सूत्र का अभाव है। इसकी नायिका काशी

१- शिवप्रसाद सिंह मिश्र रुद्र: 'बहती गंगा' १९५२, दिल्ली, प्र०सं०, पृ० ४५-८,७३-८२-८६ आदि।

नगरी है।" बढ़ती गंगा" शीर्षक के द्वारा इन विच्छिन्न कथाओं को सू करने का प्रयास हुआ है। किन्तु मैला आंचल :१९५४: ग्राम का चित्र खंड-दृश्यों के द्वारा प्रस्तुत अवश्य हुआ है परन्तु इसमें इसकी अपेक्षा सम्बद्धता तथा पूर्णता अधिक है। इसी प्रकार चरित्र के प्रस्तुतीकरण के शिल्प में अभिनव सौन्दर्य है। खंड-चित्र के माध्यम से चरित्र की जो रूपरेखाएं उभरी हैं वे पूर्ण स्पष्ट तथा विश्वसनीय हैं। अपने अभिनव शिल्प के कारण यह मील-स्तंभ बन गया है।

अध्याय ६

' मूल्यांकन तथा उपसंहार '

मूल्यांकन

१- शिल्प अचल पदार्थ की भांति गतिहीन नहीं है । यह प्रवाहशील जल की भांति गतिशील है जो रूढ़िरूपी पाषाण की कारा से मुक्त होने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है । अपनी इस प्रवृत्ति के कारण ही यह सतत् विकासशील है । उपन्यासकारों के आदर्शजन्य विलक्षण दृष्टिकोण के कारण प्रारम्भिक उपन्यासों के डोरे दुर्बल, रंगविहीन तथा आकर्षणरहित हैं । `पुनर्जन्म वा सौतियाडाह` (किशोरी लाल गोस्वामी) में सुशीला सुन्दरी से घृणा करती है क्योंकि वह कुमारी है। किन्तु सुन्दरी की आत्म-हत्या की चेष्टा देखकर वह सदय होकर तन-मन-धन से सेवा करती है ~~क्योंकि वह कुमारी है । कुमारी होने के कारण~~ कोई भी नारी अविवाहित सपत्नी की सेवा नहीं कर सकती । इसी प्रकार `माधवी-माधव वा मदनमोहिनी` (कि०ला०गोस्वामी) में चरित्र-हीन जिठानी के प्रति सदय व्यवहार का समर्थन हुआ है जिससे वह कोठे पर न जा बैठे[2] । यहां पर उपन्यास का स्वत: विकास नहीं हो रहा है । उपन्यासकार ही दृश्यों का प्रदर्शन तथा चरित्र का स्वत: चित्रण कर रहा है । वस्तुत: उपन्यासकार उपन्यास-साधना द्वारा नवीन क्षितिज का अन्वेषण कर रहा था यद्यपि अपनी सीमाओं तथा पूर्वाग्रहों के कारण शिल्पगत मौलिक प्रयोग नहीं कर सका तथापि उनमें विकास-बिन्दु अवश्य दृष्टिगत होते हैं, यही प्रारम्भिक उपन्यासों का महत्व है । `देवी या दानवी` (जयरामदास) में `कायाकल्प` (प्रेमचन्द) का बीज सन्निहित है । इसमें ही सर्वप्रथम जन्मजन्मान्तर की प्रणय कथा प्रस्तुत हुई है । रानी अपने प्रेमी देवीसिंह की दो हजार वर्ष से प्रतीक्षा कर रही है किन्तु उन दोनों का सम्बन्ध स्थिर नहीं रह पाता, रानी का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है । वह सांवल-सिंह को पूर्वजन्म के नाम-देवीसिंह से अभिहित करती हुई कहती है कि वह पुन:

१- `सुनो, यदि सुन्दरी तुम्हारी विवाहिता होती तो कदाचित् उस पर मेरी उतनी डाह न होती जितनी कि उसकी कुमारावस्था में उसके व्यवहार को देख कर मुझे हुई थी.` --कि०ला०गोस्वामी: `पुनर्जन्म वा सौतिया डाह`, १६०७, मथुरा, पृ० ३

२- कि०ला०गोस्वामी : `माधवी-माधव वा मदनमोहिनी`, प्र०भा०१६१६, मथुरा, द्वि०सं०, पृ० १२८

आएगी , वह उसे भूले नहीं ।[1] 'कायाकल्प' (१६२६) में भी इसी प्रकार का जन्म जन्मान्तर तक चलने वाला प्रणय व्यापार चित्रित हुआ है।[2] किन्तु इसमें रानी की मृत्यु न होकर उसके पति की मृत्यु होती है । इसके अतिरिक्त , प्रेमचन्द की यह कथा देश की राजनीतिक ,सामाजिक पृष्ठभूमि पर आधारित है जिसका महत्व है ।फलत: यह 'देवी या दानवी' की भांति चमत्कारिक कथा मात्र नहीं है । इसी प्रकार 'निस्सहाय हिन्दू' में ऐसे मुसलमान पात्र की सृष्टि हो गई है जो आदर्श है तथा मुसलमानों के हिन्दुओं के प्रति अत्याचार को अनुचित समझता है।[3] किन्तु इसमें प्राणप्रतिष्ठा न हो सकी थी, यह कार्य प्रेमचन्द के द्वारा संपन्न हुआ ।

२- उपन्यास -शिल्प के विकास में प्रेमचन्द का योगदान उल्लेखनीय है ।कतिपय समीक्षकों ने विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक के उपन्यास-शिल्प को प्रेमचन्द के उपन्यास-शिल्प की अपेक्षा श्रेष्ठतर सिद्ध करने का प्रयास किया है । उनकी मान्यता है कि कौशिक के उपन्यासों में प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक पूर्ण तथा विश्वसनीय चरित्र उपलब्ध होते हैं क्योंकि उनके उपन्यासों में भावप्रवणता तथा अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण हुआ है । इसमें सन्देह नहीं है कि 'भिखारिणी' में अन्तर्द्वन्द्व दृष्टिगत होता है ।किन्तु भावप्रवणता तथा अन्तर्द्वन्द्व ही उपन्यास-शिल्प का मूलाधार नहीं है । इसके आश्रय से चरित्र-शिल्प में सजीवता अवश्य आती है परन्तु जहां तक चरित्रों की सजीवता तथा विविधता का प्रश्न है,प्रेमचन्द का शिल्प कौशिक की अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि उनका कथानक-शिल्प स्वाभाविक,अयांत्रिक तथा विश्वसनीय है । चरित्र-शिल्प ऐसा है कि पात्रों का विकास स्वयंभू प्रतीत होता है । सूरदास(रंगभूमि) ,होरी एवं धनिय

१- 'देव । मुझे.. भूल.. न जाना । मेरी... दशा.. पर.. दया.. करना । मैं मरती.. नहीं , मैं... फिर आऊंगी । .. फिर मैं.. ।रानी होऊंगी.. मैं.. कसम खाती हूं -- यह सच है । ---बिल्कुल -- सच्च है ,--- ओह -- -- ओह ।।' -जयरामदास :'देवी या दानवी' ,१६०६,जयराम द्वारा प्रकाशित पृ० ७३

२- प्रेमचन्द:'कायाकल्प' ,१६५२,बनारस,न०सं०,पृ०५८-६,६७-७०,२५०-५,३५६-८आदि।

३- राधाकृष्णदास:'निस्सहाय हिन्दू' ,१८६०,गं०पु०मा०कार्यालय, पृ० २१

(गोदान) आदि विविध पात्रों की तुलना में जस्सो तथा रामनाथ (निराहिणी) आभाहीन प्रतीत होते हैं। जिस वर्ग के (प्रेमचन्द के) ये पात्र हैं वह बौद्धिक चिंतन से मुक्त हैं। इस कारण प्रेमचन्द की महानतम उपलब्धि होरी-धनिया के चित्रण में अन्तर्द्वन्द्व का अभाव उनके उपन्यास-शिल्प की दुर्बलता नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, उनके उपन्यास-शिल्प के द्वारा जो आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासों की परम्परा का श्रीगणेश हुआ ~~[illegible]~~ वह आज भी [illegible] है। आज भी विविध उपन्यासों के शिल्प में व्यावहारिक यथार्थ, आदर्श चरित्र, विशिष्ट कथोपकथन, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी शैली दृष्टिगत होती है जो उन्हीं की देन है। प्रेमचन्द का महत्व केवल इसलिए नहीं है कि वे सर्वप्रथम सफल उपन्यासकार हैं प्रत्युत इसलिए भी है कि उनके द्वारा उपन्यास-शिल्प का जो आदर्श प्रस्तुत हुआ है वह समकालीन तथा कालान्तर के उपन्यासकारों के द्वारा कुछ संशोधन परिवर्धन के साथ स्वीकृत हुआ। जयशंकरप्रसाद (तितली), वृन्दावन लाल वर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक (माँ), भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतराय, विष्णुप्रभाकर, यशपाल आदि के उपन्यास-शिल्प पर प्रेमचन्द के शिल्प का प्रभाव देखा जा सकता है। इसमें आन्तरिक चरित्र की पूर्ण प्रतीति संभव न थी। इस त्रुटि के परिहार के लिए अन्य प्रकार का शिल्प अपेक्षित था जो मनोविज्ञान पर आधारित हो।

३- जैनेन्द्रकुमार के द्वारा उपन्यास-शिल्प का [illegible]करण प्रारम्भ हुआ। इसके द्वारा सर्वप्रथम ऐसे व्यक्तित्व की अवतारणा हुई जिनकी जीवन-धारा का एक अंश ही दृष्टिगत होता है तथा मूल उत्स दो तिहाई अदृश्य रहता है। ये चरित्र वस्तुतः नदी में दृश्यमान द्वीप की भाँति हैं। विविध मनोवैज्ञानिक पद्धतियों के आश्रय से जटिल चरित्र रूपी अदृश्य द्वीप भी दृश्यमान होने लगे। जैनेन्द्र तथा अज्ञेय ने इस क्षेत्र में अभिनव प्रयोग किए हैं। फलतः उपन्यासों में पात्रों की मानसिक अवस्था तथा अन्तर्दशाओं का सफल चित्रांकन हुआ। इलाचन्द्र जोशी ने अभिनव शिल्पगत प्रयोग नहीं किए यद्यपि विविध मनोवैज्ञानिक पद्धतियों के प्रयोग के कारण उनके उपन्यास-शिल्प में पूर्णता आई है।

४- उपन्यास के क्षेत्र में शिल्प की दृष्टि से कतिपय अन्य मौलिक प्रयोग भी हुए हैं तथा हो रहे हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'हुजूर' (रांगेयराघव

`बाबा बटेसरनाथ` (नागार्जुन) `मैला आंचल` (फणीश्वरनाथ रेणु) आदि ऐसे ही उपन्यास हैं। इनके शिल्प में नवीनता तथा मौलिकता है। इसके अतिरिक्त, कुछ उपन्यासों में नवीन शिल्प प्राप्त होता है यथा- `डूबते मस्तूल` (नरेश मेहता) `सोया हुआ जल` (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना) `सूरज का सातवां घोड़ा` (धर्मवीर भारती) `परन्तु` (प्रभाकर माचवे) `दिन के तारे` (नरोत्तमप्रसाद नागर) आदि। किन्तु ये प्रयोगमात्र ही हैं। उपन्यास में जीवन की अभिव्यक्ति सहज स्वाभाविक ढंग से होती है। अत: इस रूप में हार्दिकता तथा आत्मीयता का प्राधान्य रहता है किन्तु इन प्रयोगों में हार्दिकता तथा आत्मीयता का अभाव है, अत: ये प्रभावशाली उपन्यास नहीं बन सके हैं। सम्भावना है कि ये अभिनव शिल्प के बीजमात्र हों।

उपसंहार

५- `परीक्षा गुरु` (श्रीनिवासदास) से `मैला आंचल` (फणीश्वरनाथ रेणु) तक की उपन्यासों की शिल्पगत यात्रा इसकी द्योतक है कि हिन्दी का उपन्यासकार उपन्यास के माध्यम से जीवन की व्याख्या ही प्रस्तुत नहीं करना चाहता प्रत्युत वह उसे सुन्दरतर ढंग से करने के लिए सतत् प्रयत्नशील है। इसी का यह परिणाम है कि `परीक्षा गुरु` के द्वारा उपन्यास-शिल्प की जो रेखाएं अंकित हुई थीं वे टेढ़ी-मेढ़ी हैं। कालान्तर में इन रेखाओं पर चित्र ही अंकित नहीं हुए वरन् इनमें विविध, आकर्षक, स्वाभाविक, सजीव रंग भी भरे गए। शिल्प की दृष्टि से फ्रेंच उपन्यासों का विशेष महत्व है। अंग्रेजी उपन्यासों में शिल्प और विषयवस्तु की विविधता दृष्टिगत होती है। रूसी उपन्यासों में संघर्ष का चित्रण अधिक होता है। हिन्दी उपन्यासों के शिल्प पर विश्व-उपन्यास-शिल्प का प्रभाव पड़ा है। यहां एक प्रश्न भी उठता है कि आज के उपन्यासों में जो शिल्पगत प्रयोग हो रहे हैं वे कहां तक श्रेयस्कर हैं? सामान्य पाठक की शिकायत है कि अब उपन्यास भी पाठ्य पुस्तक की भांति दुरूह होते जा रहे हैं। `ला मिज़राबल` (विक्टर ह्यूगो) `अपराध और दण्ड` (दास्तावास्की); `अन्ना करेनिना` (टाल्स्टाय); `पिता और पुत्र` (इवान् तुर्गनेव), `थाया` (अनातोले फ्रांस), `प्राइड एण्ड प्रेज्युडिस` (जेनआस्टिन) `गोदान` (प्रेमचन्द) `मनुष्य के रूप` (यशपाल), `शेखर: एक जीवनी`, `विराटा की पद्मिनी` (वृन्दावनलाल वर्मा) `बलचनमा` (नागार्जुन) प्रभृति उपन्यासों में जो सरलता

सहज स्वाभाविक आत्मीयता तथा हार्दिकता है, उसका अभाव शिल्पगत प्रयोगों में मिलता है। यूलिसस, (जेम्स ज्वायस) विवर्स (वर्जीनिया वुल्फ) नदी के द्वीप (अज्ञेय) (इलाचन्द्र जोशी) आदि के पात्र चिरपरिचित तथा आत्मीय नहीं प्रतीत होते। फलत: उनका विश्लेषण भले ही हो जाये किन्तु उनका वह प्रभाव नहीं पड़ता जो पूर्ववर्ती उपन्यासों के पात्रों का होता है। उनकी मान्यता में आंशिक सत्य है। आज का जीवन प्रतिदिन जटिल होता जा रहा है। मानव टाइप न होकर व्यक्ति हो गया है। अतएव उपन्यासों में जटिल मानव के व्यक्तीकरण के लिए अभिनव शिल्प अपेक्षित है। इस कारण उपन्यास के क्षेत्र में शिल्पगत प्रयोग होते हैं। किन्तु यदि इसके कारण उपन्यास विफल है तो यह उसकी शिल्प सम्बन्धी अपूर्णता का द्योतक है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उपन्यासों के क्षेत्र में शिल्पगत प्रयोग का मूल्य नगण्य है।

६- आलोच्यकाल (१८७७-१९५५) के उपन्यासों का जो शिल्पगत विकास हुआ है वह सन्तोषप्रद है। आज हिन्दी में पुरानी और नयी पीढ़ी के उपन्यासकार उपन्यास के क्षेत्र में विविध प्रयोग कर रहे हैं। भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, धर्मवीर भारती, गिरधर गोपाल, नरेश मेहता, राजेन्द्र यादव, लक्ष्मीकांत वर्मा, कमलेश्वर, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, लक्ष्मीनारायण लाल, उषा प्रियंवदा प्रभृति उपन्यासकार शिल्प की दृष्टि से मौलिक उपन्यासों का प्रणयन कर रहे हैं। इन्हें देख कर यह विश्वास होता है कि भविष्य में अनेक शिल्पगत प्रयोग होंगे।

संदर्भ सूची

: प्रकाशन-काल में उस संस्करण का उल्लेख हुआ, जिसका प्रयोग शोध के लिए हुआ है। :

नाम	पुस्तक का नाम	रचना-काल	प्र०काल	प्र०का स्थान
अंचल	चढ़ती धूप		१९४५	हि०पा०शा० इलाहाबाद
	उल्का		१९५७	हि०प्र०प्र०वाराणसी
	मरु प्रदीप		१९५१	सा०म०लि०इलाहाबाद
	नई इमारत		१९४७	हि०प०शा०,,
अमृतलाल चक्रवर्ती	सती सुखदेई		१९०८	भारत प्रेस कलकत्ता
अम्बिकादत्त व्यास	आश्चर्य वृतांत	१८८४-८		व्यासपुस्तकालय मानमन्दिर काशी
अवधनारायण	विमाता	१९१५		दरभंगा
अनूपलाल मंडल	निर्वासिता	१९२९		चाँ०का०इलाहाबाद
	साकी	१९३१		ब०प्रेसलि०पटना
	बुझने न पाय	१९४६	१९५२	ब०प्रे०लि०पटना
	रूप रेखा	१९३४		,,
	दर्द की तस्वीरें	१९४५		यु०सा०म०भागलपुर
	अखवारों की दुनिया	१९४५	प्र०सं०	,,
अमृतराय	बीज	१९५३	प्र० सं०	हं० प्र० इलाहाबाद
अमृतलाल नागर	पांचवां दस्ता	१९४८		श०प्र०बनारस
,,	महाकाल	१९४७		भा० भ० इलाहाबाद
	नवाबी मसनद			स०प्र०लखनऊ
	सेठ बांकेमल	१९५५		कि० म० इलाहाबाद
ओंकार शरद	नागारिका			न्यू० लि० इलाहाबाद
,,	दादा	१९५४		प्र० प्र० पटना
ओमप्रकाश शर्मा	सांझ का सूरज	१९५५		प्र०सं० स०स०दिल्ली शाहदारा
अनन्तगोपाल शेवड़े	मृगजल			नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग
,, ,,	निशागीत			नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग
ओमप्रकाश श्रीवास्तव	लकीरें			नी०प्र०, इलाहाबाद
अयोध्यासिंह उपाध्याय	देवबाला या ठेठ हिन्दी	१८९९-१९२२		खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर

ईश्वरीप्रसाद मुदर्रिस
और मुंशी कल्याणराय (मुदर्रिस रियाज) वामा शिक्षक अर्थात् दो भाई और १८७२-१८८३
चार बहनों की कथा

इलाचन्द्र जोशी   लज्जा   द्वि०सं० १९४६   भा०मं०इलाहाबाद
//   संन्यासी   १९४१   ०सं०   प्र०सं०भा०भंडार प्रयाग
//   पर्दे की रानी १९४२   //
प्रेत और छाया १९४४   लीडर प्रेस प्रयाग
मुक्तिपथ   १९५०   भ०भ०इलाहाबाद
जिप्सी   १९५२   प्र०सं०   भा०भ० इलाहाबाद
सुबह के भूले / जहाज का पंछी   १९५५   प्र०सं०   रा०कं०प्रकाशन बम्बई

इन्द्रविद्या वाचस्पति शाहआलम की आँखें   १९१८   १९५७   नालंदा प्रकाश बंबई
//   अपराधी कौन   प्र०सं०   वि०बु०मं०देहली

उपेन्द्रनाथ अश्क   सितारों के खेल   १९३७   भा०भवन इलाहाबाद
//   गर्म राख   १९५२   नी०प्र०प्र०नू०इला०
बड़ी बड़ी आँखें   १९५४   //

ऊषादेवी मित्रा "वचन का मोल"   १९३६   १९४६प्र०सं०   स०प्र०बनारस
//   जीवन की मुस्कान   १९३९   //
पिया   ~~१९४६~~ १९४६   १९४६ प्र०सं० //
सोहिनी   १९४९   प्र०सं०   //

कार्तिक प्रसाद   जया   १९०१   तृ०सं०

कि०ला०गोस्वामी   तारा वा क्षत्र कुल कमलिनी १९०२   १९२४   छबीलेलाल गोस्वामी वृन्दावन :द्वि०सं०:
चपला वा नव्य समाज चित्र १९०३   १९१५   //
त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी   १९०७   //
अंगूठी का नगीना   १९१८   //
मल्लिकादेवी वा बंग सरोजिनी   १९१६   //
याकूती तख्ती वा यमज सहोदरा   १९०६   //
सुख शर्वरी   १८९१   १९१६   //
राजकुमारी   १९०२   //
चन्द्रावती वा कुलटाकुतूहल   १९०४

कुन्दनलाल गुप्त	गिरवी का लड़का		नारायणदत्त सहगल एण्ड सन्स लाहौर
कृष्णकान्त मालवीय	सिंहगढ़ विजय	१९२६	
गोपालराम गहमरी	देवरानी जेठानी	१९०१	खेमराज श्री कृष्णदास बंबई
//	तीन पतोहू	१९०४	//
	सास पतोहू	१८९८	//
	नए बाबू	१८९४	//
	गुप्तचर	१८९९	//
	जासूस (मासिक १९१४)		बनारस
	हंसराज की डायरी	अ०प्रा०	प्रयाग
	होली का हड़मोंग	१९३८	जा०बा०का० बनारस
	घटना घटाटोप	१९३९	बनारस
	ठनठन गोपाल	१९४६	हि०सं०कि०म० इलाहाबाद
	गेरुआ बाबा		
	स्वराज्यदान	१९४९	वि०म०उ० नई दिल्ली
	भावुकता का मूल्य	१९५०	भा०सा०स० नई दिल्ली
	बहती रेता	१९५१	" " " " "
गिरधर गोपाल	चांदनी के खंडहर	१९५४	सा०भ०लि० इलाहाबाद
गोविन्ददास	इन्दुमती	१९५० पृ.सं. ने. इ. ए. प. लि. बम्बई	
चंडीप्रसाद हृदयेश	मनोरमा	१९२७	चांद प्रेस इलाहाबाद
	मंगल प्रभात	१९२६	//
चतुरसेन शास्त्री	वैशाली की नगरवधू (पूर्वार्द्ध) उत्तरार्द्ध	१९४९ १९५५	गौतम बुक डिपो, नई दिल्ली
	अमर अभिलाषा	अ० प्रा०	दिल्ली
	आत्मदाह	चौ० ए०	बनारस
	धर्मपुत्र	१९५४	ज्ञानधाम दिल्ली
चन्द्रशेखर	अमीर अली ठग वृतांत	१९११	रा०व०दा०प्र० कलकत्ता
जयशंकर प्रसाद	कंकाल	१९२९-१९५२ स०सं०	भा०भ० प्रयाग
	तितली	१९३४	१९५१ छ०सं० //

जी०पी० श्रीवास्तव	मथुरा लंठित बहादुर		' १९५३ द्वि०सं०	लहरी बुक डिपो बनारस
जयरामदास	देवी या दानवी	१९०६		लै०द्वा०प० बनारस
	राजदुलारी	१९१७		उ०आ०ब० काशी
	किशोरी या वीरबाला			
जैनेन्द्रकुमार	परख	१९२९		१९६० हि०ग्र०र०का० बंबई
	सुनीता	१९३५	१९६२	रा०क०प्र० दिल्ली
	कल्याणी	१९३२		
	त्यागपत्र	१९५०	पं०सं०	"
	व्यतीत	१९५३	१९६२ तृ०सं०	पूर्वोदय प्रकाशन दरियागंज दिल्ली
	सुखदा	१९५२	प्र०सं०	"
	विवर्त	१९५३	१९५७	"
जगमोहन सिंह	श्यामास्वप्न	१८८८	प्र०सं० १९५९	दीप प्रिंटर्स कलकत्ता
द्वारिकाप्रसाद एम०ए०	घेरे के बाहर	१९५७		अ०प्र०म०अ० पटना
देवराज	पथ की खोज	१९५१		ग्रं०प्र०गृ०उ०प्र०
	बाहर भीतर	१९५४		रा०क०प्र०लि० बंबई
दुर्गाप्रसाद खत्री	लाल पंजा			लहरी बुक डिपो, बनारस
	सुफेद शैतान खण्ड १-२			"
देवेन्द्र सत्यार्थी	कठपुतली	१९५४		एशिया प्रकाशन नई दिल्ली
	रथ के पहिए	१९५३		"
देवकीनन्दन खत्री	चन्द्रकान्ता	१८८८	१९३२	१९वां सं० लहरी बुक डिपो बनारस
	काजर की कोठरी		१९३४ पं०सं०	"
	चन्द्रकान्ता संतति	१८९६	१९५४ १९वां सं०	"
धर्मवीर भारती	सूरज का सातवां घोड़ा	१९५२		साहित्य भवन लि० इला०
	गुनाहों का देवता	१९४९		
धनीराम प्रेम	मेरा देश -			
नागार्जुन	बलचनमा	१९५२		
	नईपौध	१९५३		
	बाबा बटेसरनाथ	१९५४		
	रतिनाथ की चाची	१९५८		

नरोत्तमप्रसाद नागर	दिन के तारे			प्र०सं० दिल्ली
नरेश मेहता	डूबते मस्तूल	१९५४		आ०ए०स०दिल्ली
निराला	निरुपमा	१९३६		भा०भ०लि०इलाहाबाद
	अप्सरा	१९३१	१९५४ स०सं०	गं०पु०का०लखनऊ
निहालचन्द्र वर्मा	जादू का महल	१९३२		कु०आ०रा०वि०सि०श०प्र०पटना
प्रेमचन्द	वरदान	१९०६	१९५५	स०प्र०बनारस
	प्रतिज्ञा	१९०४	१९६२	स०प्र० बनारस
	सेवासदन	१९१८		,,
	प्रेमाश्रय	१९१८-१९	१९५२	बनारस पुस्तक एजेन्सी
	निर्मला	१९२३	प्र०सं०	सा०प्र० बनारस
	रंगभूमि	१९२६-२७		मा-प्र० इलाहाबाद
	कायाकल्प	१९२९	१९५३ न०सं०	स०प्रे० बनारस
	गबन	१९३०	च०सं०	हंस प्रकाशन
	कर्मभूमि	१९३२	१९६३ च०सं०	हंस प्रकाशन इलाहाबाद
	गोदान	१९३६	१९४९ [illegible]	सरस्वती प्रेस इलाहाबाद
प्यारे लाल [illegible]	खूनी जवानी	१९३८	द्वि. सं.	हि. पु. [illegible]
" " "	काला [illegible]	१९४४	द्वि. सं.	" " "
प्रतापनारायण श्रीवास्तव	विकास	१९४१	द०सं०	ग०प०प०लखनऊ
	विसर्जन			आ०ए०सं० दिल्ली
	विदा	१९२८-३८	१९३८ तृ०सं० १९५७ नं०सं०	गं०पु०म०लखनऊ
पहाड़ी	सराय	१९४४		प्र०गृ०इलाहाबाद
	चलचित्र	१९४१		प्र०गृ०इलाहाबाद
प्रभाकर माचवे	परन्तु	[illegible]		प्रगति प्रकाशन नई दिल्ली
फणीश्वरनाथ रेणु	मैला आंचल	१९५४	१९६१ द्वि०सं०	पा०बु०ए०रा०क०प्र०दिल्ली
बालकृष्ण भट्ट	नूतन ब्रह्मचारी	१८८६-१९११	द्वि०सं०	महादेव भट्ट प्रयाग
	सौ अजान एक सुजान	१८९०	१९१५ द्वि०सं०	हि०सा०स० प्रयाग
ब्रजनन्दनसहाय	सौन्दर्योपासक	१९१२	१९३५	ब०आ०रा०वि०सि०श०प्र लिमिटेड
	लालचीन	१९१२		इ०प्र०लि०इलाहाबा

बलदेवप्रसाद मिश्र	पानीपत	१९२४	कलकत्ता
बेचन शर्मा उग्र	जीजाजी	१९४३	वि०प्र०म० इन्दौर
	शराबी	१९५४	आ०ए०सं० दिल्ली
	चन्दहसीनों के खुतूत		हि०पु०एजेन्सी काशी
	घंटा	१९३७	//
बलभद्र सिंह	जयश्री वा वीरबालिका	१९११	काशी
बलभद्र ठाकुर	मूमिका	१९५०	रा०प० लुधियाना
भगवतीचरण वर्मा	चित्रलेखा	१९३४	भा०भ० प्रयाग
	टेढ़े मेढ़े रास्ते	१९४८ द्वि०सं०	//
	तीन वर्ष	१९५३ प०सं०	//
	पतन	१९५४ तृ०सं०	गं०पु० मा० लखनऊ
भगवतीप्रसाद बाजपेयी	दो बहनें	१९५२ तृ०सं०	भा०भं० प्रयाग
	पतिता की साधना	१९३६ तृ०सं०	का०पु०द० प्रयाग
	पिपासा	च०सं० १९४४	सा०सै०का० काशी
	पतवार	१९५२	मै०नु० दिल्ली
	चलते चलते	१९५१	गौ०बु०दि० दिल्ली
	मनुष्य और देवता	१९५४	सा० स० देहरादून
	गुप्त धन	१९४८	मेरठ
भैरवप्रसाद गुप्त	शोलि	१९५०	का०सा० मन्दिर प्रयाग
	गंगा मैया	१९५३	रा०क०प्र० दिल्ली
मन्मथनाथ गुप्त	रक्तक मदाक	१९५२	आ०प्र० बीकानेर
	दुश्चरित्र	१९४९	प्र०प्र०नई दिल्ली
	बहता पानी	१९५५	मा०भा०लि० इलाहाबाद
मोहनलाल महतो वियोगी	उस पार	१९४४	बा०भा० भा० प्रयाग
यज्ञदत्त शर्मा	इन्सान	१९५१	,, आ०रा०एण्डसन्स दिल्ली
	निर्माणपथ		रा०एण्डसन्स दिल्ली
	परिवार	१९५५	बा०प्र०मालीवाड़ा दिल्ली
यशपाल	दादा कामरेड	१९४१	१९४८ तृ०सं० वि०का० लखनऊ
	पार्टी कामरेड	१९४६	१९४७ द्वि०सं० वि०का० लखनऊ

यशपाल	देशद्रोही	१९४३		वि०का०लखनऊ
	दिव्या	१९४५	१९५६ पं०सं०	,,
	मनुष्य के रूप	१९४९-	१९५२ द्वि०सं०	
रघुवीरशरण मित्र	रास की दुलहिन	१९५१	प्र०सं०	आ०मा०, रा०मा० मेरठ
राधिकारमण प्रसाद	राम रहीम	१९३७		रा०रा०सा०मन्दिर शाहाबाद
	पुरुष और नारी	१९४०		,,
	संस्कार	१९४६		,,
	सूरदास	१९४२		,,
रामवृक्ष बेनीपुरी	कैदी की पत्नी	१९४०		श्री अ०ग्रं०लि०पटना
	पतितों के देश में		१९४८ द्वि०सं०	भा०भ० इलाहाबाद
राहुल सांकृत्यायन	सिंह सेनापति	१९४२	१९४९ तृ०सं०	कि०म०इलाहाबाद
	विस्मृत यात्री	१९५५		,,
	बाइसवीं सदी		तृ०सं०	कि०म० इलाहाबाद
रामनरेश त्रिपाठी	दमयन्ती चरित्र		१९१४	गृ०का० प्रयाग
रामनारायण चतुर्वेदी	महावीर कर्ण			पी०प०हा०बनारस
रजनी पनिकर	मोम के मोती	१९५४		रा० म० देहली
	पानी की दीवार	१९५४		रा०ह०प्र०सं० दिल्ली
	प्यासे बादल	१९५५	भूमिका	मो०ब० ब०दि०पटना
रामप्यारे त्रिपाठी	दिल्ली की शाहजादी			पील प्रकाशक
रांगेयराघव	मुर्दों का टीला	१९४८		कि०म०इलाहाबाद
	चीवर	१९५१		
	हुजूर	१९५२	प्र०सं०	आ०प्र०बीकानेर
	अंधेरे के जुगनू	१९५३		कि०मं०इलाहाबाद
	उबाल			राजकमल प्रकाशन दिल्ली
	देवकी का बेटा	१९५४		वि०प्र०म० आगरा
	भारती का सपूत	१९५४		
	रत्ना की बात	१९५४		
	यशोधरा जीत गयी	१९५४		
	लोई का ताना	१९५४		

राधाकृष्णदास	निस्सहाय हिन्दू	१८६०, प्र०सं० १९४२द्वि०सं०	गंगापुस्तकमाला कार्यालय,लखनऊ
	रूपान्तर	१९५२	किताबघर,पटना रांची
लज्जाराम शर्मा	सुशीला विधवा	१९०७	क्षेमराज श्रीकृष्णदास बंबई
	आदर्श हिन्दू	१९१४	का०ना०प्र०सभा:काशी:
	हिन्दू गृहस्थ	१९०५	क्षेमराज प्र० बम्बई
	आदर्श दम्पति	१९१४	,,
लक्ष्मीनारायण लाल	धरती की आंखें	१९५१	सेन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद
वृन्दावनलाल वर्मा	गढ़ कुंडार	१९२६ प्र०सं०	गं०पु०मा० म० लखनऊ
	अहिल्या बाई	१९५५	म०प्र० झांसी
	विराटा की पद्मिनी	१९३६	१९५६ स०सं०गं०पु०का०म०लखनऊ
	झांसी की रानी-लक्ष्मीबाई	१९४६	१९६१ ठ.छ. म०प्र० झांसी
	कचनार	१९४८	१९६२ स०सं० म०प्र०झांसी
	अचल मेरा कोई	१९४८	म०प्र०झांसी
	मृगनयनी	१९५०	१९६२ न्या०सं०म०प्र०झांसी
विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक	भिखारिणी	१९२९	१९५२ तृ०सं० वि०पु०मन्दिर आगरा
	मां	१९२९	१९३४द्वि०सं० गं०पु०म०लखनऊ
	संघर्ष	१९३८	सा०नि०कानपुर
विष्णुप्रभाकर	तट के बन्धन	१९५५	स०सा०प्र०नई दिल्ली
	ढलती रात	१९५१	चे०प्र०गि० हैदराबाद
शिवप्रसाद मिश्र रुद्र	बहती गंगा	१९५२	राजकमल प्रकाशन दिल्ली
शिवपूजन सहाय	देहाती दुनिया	१९२९	१९५१: तृ०सं० ग्रंथकार्यालय पटना
श्रद्धाराम फिल्लौरी	भाग्यवती	१८७७	१८८७प्र०सं० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय १९६० प्र०सं० पा०तृ०प०
श्री श्रीनिवासदास	परीक्षागुरु	१८८२	१९५८ ज्ञान प्रकाश
	अग्निपथ	१९४५ द्वि०सं०	हि०प०शी०इलाहाबाद

स०ह०वा० अज्ञेय	शेखर: एक जीवनी-१ -२	१९४१ १९४४	१९६३ प०सं० स०प्र०बनारस १९५८ द्वि०सं०
	नदी के द्वीप	१९५१	द्वि०सं० प्र०प्र०दिल्ली
सर्वदानन्द वर्मा	अनागत	१९५१	गौ०बु०डि०दिल्ली
	नरमेध	१९४१	ना०प्र०प्रयाग
सियारामशरण गुप्त	अन्तिम आकांक्षा	१९३४	सा०स०चिरगांव
	नारी	१९३७ च०सं०	,,
	गोद	१९३२ - १९३७	,,
सत्यकेतु विद्यालंकार	आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य	१९५४	१९५७ तृ०सं० स०सा०मसूरी
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना	सोया हुआ जल		निकष
हजारीप्रसाद द्विवेदी	बाणभट्ट की आत्मकथा	१९४६	१९६३ प०सं०हि०ग्र०र०बंबई
ऋषभचरण जैन	वेश्यापुत्र	१९२९	हि०पु०भा० दिल्ली
	माई	१९३०	गंगा पुस्तकालय लखनऊ
	हर हाइनैस	१९३८	स०प्र० दिल्ली
	दिल्ली का व्यभिचार	१९३९ :च०सं०	श०बु० दिल्ली

सहायक पुस्तक सूची

(हिन्दी)

१- अमृतराय : नई समीक्षा : हि. प्र. हा. बनारस, प्र. सं. १९५०

२- इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द एक विवेचना : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

३- इलाचन्द्र जोशी : विश्लेषण : श्री. प्र. भागलपुर-२ प्र. सं. १९५४

४- सम्पादक इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द : चिन्तन और कला

५- स्तालिन, अनु. श्रीकृष्णदास : : द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद: इ०प०
इलाहाबाद

६- श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास: १९५२, तृ०सं०
इलाहाबाद

७- कुसुम वार्ष्णेय : हिन्दी उपन्यासों में नायक

८- कैलाशप्रकाश : प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास: हि०सा०संसार, १३६१,
वैदवाड़ा, राजश्री प्रेस, दिल्ली-६ १९६

९- गोपीनाथ तिवारी : ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार: सा०र०भंडार,
आगरा, १९५८

१०- गंगाप्रसाद पाण्डेय : आधुनिक कथा साहित्य : १९४४, प्र०पु०भू०रो०इलाहाबा

११- चण्डीप्रसाद जोशी : हिन्दी उपन्यास-समाज शास्त्रीय विवेचन: अनुसंधान
प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर

१२- जितेन्द्र पाठक : प्रेमचन्द साहित्य: एक मूल्यांकन

१३- जनार्दन झा द्विज : प्रेमचन्द की उपन्यास-कला: १९३३, छपरा, प्र०स०मं०

१४- जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबंध : प्रयाग, भारती मंडार
लीडर प्रेस, १९९६(१९३९)

१५- ताराशंकर पाठक : हिन्दी के सामाजिक उपन्यास: १९६६, हि०सा०समिति
इन्दौर

१६- देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य
और मनोविज्ञान : द्वि०सं०, इलाहाबाद, सा०भ०
प्राइवेट लि० १९६३

१७- देवराज : साहित्य चिन्ता : १९५०, गौग्य बुक डिपो, दिल्ली

१८- धर्मवीर भारती : प्रगतिवाद एक समीक्षा : १९४९, साहित्य भवन लि०
प्राइवेट लि०

१९- सम्पादक : धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश १,२

२०- नंददुलारे वाजपेयी : प्रेमचन्द : प्रयाग हिन्दी भ० १९५३ई०

२१- ,, : नए साहित्य नए प्रश्न : बनारस विद्यामन्दिर, १९५५

२२- ,, : प्रेमचन्द साहित्य विवेचन: प्रकाशक, हिन्दी भवन जलंधर
और इलाहाबाद।

२३- नंददुलारे बाजपेयी : हिन्दी साहित्य बीसवीं सदी : प्र०सं०लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६३

२४- पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी: हिन्दी कथा साहित्य : हि०ग्र०र०आ०बम्बई, १९५४

२५- पट्टाभि सीता रमैया : गांधी और गांधीवाद : आगरा, १९५७

२६- प्रेमनारायण शुक्ल : हिन्दी साहित्य में विविध वाद: कानपुर पद्मजा प्रकाशन २०१०वि०

२७- प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी उपन्यास में कला-शिल्प का विकास: १९५६, हि०सा०भं०, लखनऊ

२८- प्रेमचन्द : कुछ विचार : १९३९, प०स०बनारस

२९- ब्रजरत्नदास : हिन्दी उपन्यास साहित्य : हि०सा०कु०बनारस, १९५६

३० बिन्दु अग्रवाल : आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में नारी-चित्रण। प्र०सं०

३१- भोलानाथ : हिन्दी साहित्य, सन् १९५४, इलाहाबाद

३२- भगवतीप्रसाद बाजपेई : अभिनन्दन ग्रन्थ : कानपुर, १९५५ई०

३३- मन्मथनाथ गुप्त तथा रमेन्द्र : कथाकार प्रेमचन्द: किताब महल, प्रयाग, १९५७

३४- महेन्द्र भटनागर : आधुनिक साहित्य और कला : बनारस, हि०प्र०१९५६ई०

३५- यज्ञदत्त शर्मा : हिन्दी के उपन्यासकार : दिल्ली, भारती भवन, १९१५

३६- रघुनाथ सरन झालानी : जैनेन्द्र और उनके उपन्यास: नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई सड़क, दिल्ली, १९५६ई०

३७- रामविलास शर्मा : प्रेमचन्द और उनका युग : दिल्ली, मेहरचन्द, मुंशीराम १९५२ई०

३८- ,, : संस्कृति और साहित्य : १९४९, किताब महल, प्रयाग

३९- ,, : प्रेमचन्द : स०प्रे० बनारस

४०- रामरतन भटनागर : हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त ~~इतिहास~~ परिचय: इलाहाबाद प्रेस, इलाहाबाद

४१- रामगोपाल चौहान : हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियां : आगरा साहित्य मण्डल, १९५५ई०

४२- रामचरण महेन्द्र : वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास-कला: आगरा, स०पु०स०१९५३

४३- रणवीर रांग्रा : हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास: ~~आत्माराम~~, आ०सा०प०, दिल्ली, १९६१ई०

४४- रामनाथ सुमन : गांधीवाद की रूपरेखा : सा०स०प्र०इलाहाबाद १९५५ द्व०सं०

४५- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य: १९४१ई०, विश्वविद्यालय, प्रयाग

४६- ,, : आधु०हिन्दी साहित्य की भूमिका : हिन्दी परिषद, प्रयाग १९५२ई०

४७- वी०एस०आप्टे : संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी :वा०१,सन् १९५७

४८- विश्वनाथ मिश्र :उपन्यास कला :एक विवेचन ,सरस्वती मन्दिर जतबर वाराणसी,१९६२

४९- वासुदेव :विचार और निष्कर्ष : दिल्ली भारती सा०म०१९५६

५०- विनयमोहन शर्मा :साहित्यावलोकन:प्रयाग,सा०म०लि०, १९५२ई०

५१- व्यथित हृदय :हिन्दी भाषा और साहित्य का विवेचनात्मक-इतिहास :प्रयाग,१९५६ई०

५२- विनोदशंकर व्यास :उपन्यासकला :१९४१,शिक्षा सदन,काशी

५३- शिवदान सिंह चौहान : प्रगतिवाद :१९४६,प्रदीप कार्यालय,मुरादाबाद

५४- शचीरानी गुर्टू :साहित्य दर्शन : १९५०,गौतम बुक डिपो०

५५- ,, : प्रेमचन्द और गोर्की :राजकमल प्रकाशन,बम्बई,१९५५

५६- श्यामजोशी :उपन्यास सिद्धान्त:कोटा मोहन यू०बा० २०२००८वि०

५७- शम्भुनाथ पाण्डेय :नक्कार प्रसाद :आगरा,विनोद पु०प० १९५२ ई०

५८- शिवकुमार मिश्र :वृन्दावन लाल वर्मा :उपन्यास और कला: रवि प्रकाशन, १९५९ई०कानपुर

५९- शिवनारायण श्रीवास्तव: हिन्दी उपन्यास ,१९५८ई०,वाराणसी

६०- शिवरानी देवी :प्रेमचन्द-घर में: प्रकाशन सरस्वती प्रेस,बनारस,प्र०सं०१९४४

६१- एस०एन०गणेशन :हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन,१९६२,दिल्ली

६२- सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा शास्त्र :काशी भारतीय ज्ञान मन्दिर,२०१०वि

६३- सत्येन्द्र :मृगनयनी में कला और कृतित्व :लश्कर-साहित्य ,१९५३ई०

६४- सुरेश सिन्हा :हिन्दी उपन्यास में नायिका की परिकल्पना :अशोक प्रकाशन,दिल्ली,प्र०सं०,१९६५ ई०

६५- हरस्वरूप ? प्रेमचन्द : उपन्यास और शिल्प :

६६- त्रिलोकीनारायण दीक्षित : प्रेमचन्द :कानपुर,साहित्य निकेतन,१९

६७- त्रिभुवन सिंह :हिन्दी उपन्यास में यथार्थवाद :

६८- श्रीनारायण अग्निहोत्री:उपन्यास तत्व एवं रूपविधान :सा०स०कानपुर,१९६२

पत्र-पत्रिकाएं

'साहित्य सन्देश' अप्रैल, १९४७, जनवरी १९४७, नवम्बर

'उपन्यास अंक' १९४०, नवम्बर, १९४६

'सरस्वती संवाद' फरवरी १९५६

'सप्तसिन्धु' उपन्यास अंक, मई-जून १९५६

कल्पना

आलोचना, १९५२, १९५५ जनवरी, अक्टूबर १९५६, १९५७ जनवरी आदि

ज्ञानोदय

हंस

सारिका

निकष

प्रतीक